Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवक्त

सांख्य दर्शन

सरल सुबोध भाषा भाष्य

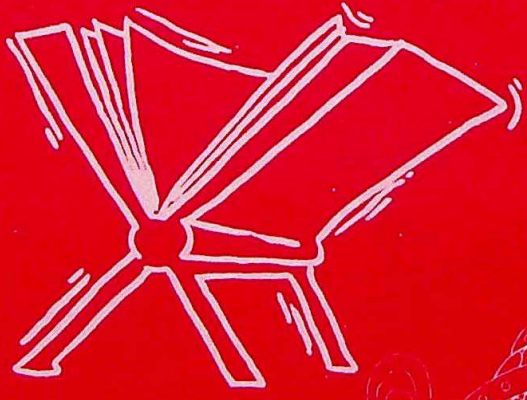

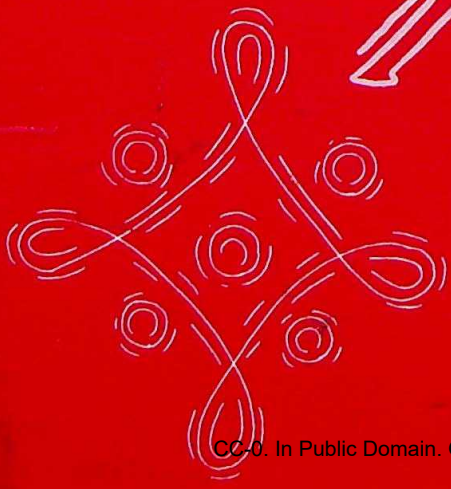

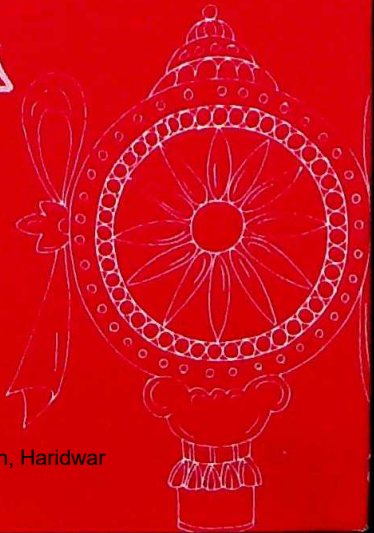

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
168013

श्री गुरुदत्त
की चुनी हुई रचनाएं

हमारी सांस्कृतिक धरोहर
वेद मन्त्रों के देवता
वेद और वैदिक काल
विश्वेदेवा
विज्ञान और विज्ञान
वेदों में सोम
वेदों में इन्द्र
वेद प्रवेशिका
अद्वैत मीमांसा
न्याय दर्शन
सांख्य दर्शन
ईश केन् कठ उपनिषद
प्रश्न ऐत्तरेय उपनिषद
मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद
तैत्तिरीय उपनिषद
सृष्टि रचना
सायंस और वेद
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म
श्रीमद्भगवद्गीता
(भाष्य)
श्रीमद्भगवद्गीता
(अध्ययन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

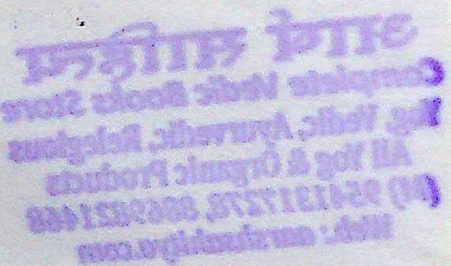

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन

(सरल सुबोध भाषा भाष्य)

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत संस्कृति परिषद् का उद्देश्य

विशुद्ध भारतीय तत्त्वदर्शन पर सम्यक् गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं का सुलझाव प्रस्तुत करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन

(सरल सुबोध भाषा भाष्य)

लेखक

गुरुदत्त

सम्पादक

अशोक कौशिक

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

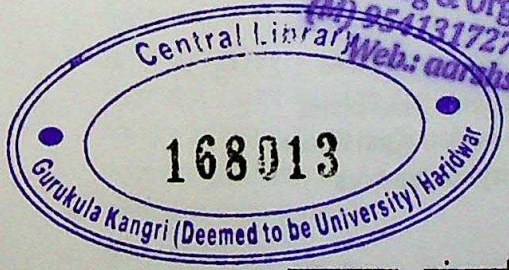

शाश्वत संस्कृति परिषद्

नई दिल्ली-११०००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-S

© ईशान दत्त

मूल्य : ₹ 300.00

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
2 बी. डी. चैम्बर्स, 10/54 देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344; फैक्स : 23553624
email : indiabooks@rediffmail.com
hindisahityasadan@gmail.com
website : hindisahityasadan.com

संस्करण : 2017

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

क्रम		पृष्ठ
	सम्पादकीय	७-१०
१.	प्राक्कथन	११-१३
२.	भूमिका	१५-३९
	ग्रन्थ के विषय में उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण—कपिल—जन्म-काल—जन्म-स्थान—सांख्य-दर्शन का आकार—षष्टि-तन्त्र—सांख्य वेद-मूलक—वेदों में सांख्य-रहस्य—रचना-पूर्व की अवस्था का वर्णन	
३.	प्रथम अध्याय का सारांश	४०-५०
४.	प्रथम अध्याय	५१-१६६
	त्रिविध दुःख निवृत्ति अधिकरण (सूत्र १ से ६)	५१
	स्वभाव तथा बन्ध अधिकरण (सूत्र ७ से १८)	५७
	प्रक्षिप्त सूत्र अधिकरण (सूत्र १७ तथा १९ से ५४)	६१
	अविवेकोच्छेद अधिकरण (सूत्र ५५ से ६०)	८१
	रचना अधिकरण (सूत्र ६१ से ६७)	८६
	प्रकृति अधिकरण (सूत्र ६८ से ७०)	९७
	कार्य-जगत् अधिकरण (सूत्र ७१ से ९४)	१००
	जीवात्मा अधिकरण (सूत्र ९५ से १०१)	११३
	चेतन-अचेतन सम्बन्ध अधिकरण (१०२ से १०७)	११७
	कार्य-जगत् अधिकरण (१०८ से १३७)	१२०
	पुरुष अधिकरण (१३८ से १६०)	१३३
	ईश्वर अधिकरण (१६१ से १६४)	१४६
५.	द्वितीय अध्याय का सारांश	१४८—१५३
६.	द्वितीय अध्याय	१५४—१८४
	प्रधान-कार्य प्रयोजन अधिकरण (सूत्र १ से २८)	१५४
	मन-तत्त्व अधिकरण (२९ से ४३)	१७३
	आत्म-तत्त्व अधिकरण (४४ से ४७)	१८२
७.	तृतीय अध्याय का सारांश	१८५—१८९
८.	तृतीय अध्याय	१९०—२३५
	शरीर-रचना अधिकरण (सूत्र १ से ९)	१९०
	प्राणी-रचना अधिकरण (सूत्र १० से २२)	१९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति अधिकरण (सूत्र २३ से ४५) २०४
प्राणी-सृष्टि अधिकरण (सूत्र ४६ से ५५) २१९
ईश्वर अधिकरण (सूत्र ५६ से ५७) २२३
प्रधान अधिकरण (सूत्र ५८ से ७८) २२३
मोक्षाधिकरण (सूत्र ७९ से ८४) २३४

९. विशेष विचारणीय २३५—२३७
१०. चतुर्थ अध्याय २३८—२५३
११. पंचम अध्याय २५४—३१९
१२. षष्ठ अध्याय ३२०—३५३
१३. उपसंहार ३५४—३५७
१४. सूत्राणामनुक्रमणिका ३५९—३७७
१५. प्रमाणानामनुक्रमणिका ३७८—३८३

ग्रंथ संकेत

अथर्व०	अथर्ववेद
अहि० सं०	अहिर्बुध्न्य संहिता
ई० कृ० का०	ईश्वरकृष्ण कारिका
ऋ० (ऋग्०)	ऋग्वेद
गौ० का० (गौड०)	गौड़पादाचार्य कारिका
तैतिरीय	तैत्तिरीय उपनिषद्
निरु०	निरुक्त
न्या० द० (न्याय०)	न्याय दर्शन
बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
भ० गी०	भगवद् गीता
भ० गी० श० भा० उपो०	भगवद्गीता शंकर भाष्य उपोद्घात
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा० (म० भा०)	महाभारत
यजु०	यजुर्वेद
योग०	योगदर्शन
वे० द०	वेदान्त दर्शन
वै० द० (वैशे० द०)	वैशेषिक दर्शन,
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
सां०	सांख्य दर्शन
सुश्रुत० शरीर०	सुश्रुत शरीर स्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

अब यह भली-भाँति स्पष्ट हो चुका है कि 'सांख्य दर्शन' वास्तव में विज्ञान अर्थात् साइंस का दर्शनशास्त्र है। अंग्रेजी का साइंस शब्द मूल रूप से ज्ञान का ही वाचक माना जाता है। लेटिन के 'साइंसिया' शब्द का अर्थ ज्ञान ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साइंस का क्षेत्र बड़ा व्यापक और विशाल है। यदि संक्षेप में कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि कार्य-जगत् अथवा दृश्यमान-जगत् की व्याख्या ही साइंस है।

भारतीय विज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान का अन्तर यहीं से स्पष्ट होता है। यह सुनिश्चित है कि पाश्चात्य विज्ञान केवल कार्य-जगत् की व्याख्या तक ही सीमित रह जाता है जब कि भारतीय विज्ञान उस कार्य-जगत् के मूल रूप को जाने बिना उसे अपूर्ण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान में मूल को खोजने की भावना नहीं देखी जाती, वहाँ केवल पत्तों को हरा-भरा रखने तक की ही आकांक्षा रखी जाती है। पाश्चात्य विज्ञान अथवा विज्ञानियों ने इस बात पर कभी विचार ही नहीं किया—

छिन्ने मूले नैव फलं न पुष्पम्

अर्थात् मूल नहीं तो न फूल होंगे और न फल। यही कारण है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत् की व्याख्या तो करते हैं किन्तु जगत् क्यों बना और उसका मूल क्या है, इसका उत्तर खोजने का श्रम उन्होंने कभी किया ही नहीं, इस कारण वे उसके उत्तर को जानते भी नहीं।

भारतीय वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। स्वामी दयानन्द को ही लीजिये। उन्होंने जब ऋग्वेद का भाष्य आरम्भ किया तो आरम्भ में ही लिखा—'जिससे पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान होता है, वही ऋग्वेद है।' प्रकृति अपने रहस्यों को छिपाकर नहीं रखती। वे तो प्रकृति के मुख पर ही लिखे मिल जाते हैं। उनकी खोज के लिए बड़े-बड़े यन्त्रों की भी आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, उसके अन्तस्तल तक पहुँचने के लिए पैनी दृष्टि अवश्य चाहिए जिससे उनको देखने के उपरान्त बुद्धि का प्रयोग किया जा सके। इस प्रकार देखना जहाँ साइंस कहलाता है वहाँ बुद्धि का प्रयोग करना दर्शन कहलाता है। उदाहरणार्थ द्रष्टा अथवा वैज्ञानिक ने भाप से देगची का ढक्कन हिलता देखा तो उसे भाप की शक्ति का भान हुआ, उसके अनन्तर उसने अपनी बुद्धि का प्रयोग किया और उससे भाप का इंजिन बना दिया। तब लकड़ी और कोयले की शक्ति के प्रयोग का ढंग निकला तो उससे रेलगाड़ियाँ तथा बड़े-बड़े कल-कारखाने चलने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विल ड्यूरेण्ट ने अपनी कृति 'दि स्टोरी ऑफ फिलॉसॉफी' में साइंस और फिलॉसॉफी के सम्बन्ध में कहा है—

'साइंस से हमें जानकारी अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है और फिलौसोफी से सत्य को समझने की बुद्धि आती है। साइंस विश्लेषणात्मक विवेचन है तो फिलौसोफी संश्लेषणात्मक व्याख्या है।'

भारतीय शस्त्र तो उसको ही वैज्ञानिक मानते हैं जो तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान में आस्थावान हो, जो स्वयं संयमी और योगी हो, जिसकी बुद्धि निर्मल हो। यों पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अपनी एकाग्रता और ध्यान-धारणा आदि के कारण योगी से कम तो नहीं कहे जा सकते, किंतु रूढ़ अर्थों में उनको योगी नहीं कहा जा सकता। वे मानवजाति के विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण और आविष्कार में सहायक बनते हैं, यह भी उनको योगी न कहे जाने का एक प्रबल कारण है।

पाश्चात्यों की दुर्बुद्धि का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—स्वामी दयानन्द ने वेदों की व्याख्या करते हुए यह लिखा है 'वेदों में विमान विद्या का वर्णन है।' यह बात जब 'कांग्रेस'-संस्थापक सर ए० ओ० ह्यूम ने सुनी तो उसने कुछ इस प्रकार कहा—'स्वामी दयानन्द का दिमाग फिर गया है। भला कहीं मनुष्य भी आकाश में उड़ सकता है?' ह्यूम के इस अज्ञान का कारण है उस समय तक विमानों के आविष्कार का न होना। आधुनिक युग में विमान का प्रथम आविष्कार सन् १८९२ के आसपास राइट-बन्धुओं ने किया था और स्वामी दयानन्द इससे लगभग एक दशक पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। अस्तु।

श्री गुरुदत्त ने भी सांख्यदर्शन पर अपने भाष्य लिखने की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा है—"सांख्य दर्शन पर भाष्य लिखने की इच्छा तो तब से थी जब मुझे यह ज्ञात हुआ था कि सांख्य-दर्शन 'साइंस' का ग्रन्थ है।"

अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए उन्होंने अनेक विद्वानों के भाष्यों का अध्ययन किया किंतु उन्हें कहीं से भी पूर्ण तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने सांख्य दर्शन तथा उसके भाष्यों का अध्ययन करने के साथ-साथ उन पर मनन और चिन्तन आरंभ किया। विल ड्यूरेण्ट के इस कथन से वे बड़े प्रभावित हुए—'दर्शन शास्त्र विज्ञान का चरम बिन्दु है।' गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूतोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥७-२॥

अर्थात्—मैं तुझे विज्ञान-सहित उस ज्ञान का बोध कराता हूँ जिसे जानने के बाद और कुछ जानने को शेष नहीं रहता।

इन सबका अध्ययन करने के उपरान्त, श्री गुरुदत्त कहते हैं कि 'मैं सांख्य को पढ़ने के प्रलोभन में फँस गया और इसके संशयों पर मनन, चिन्तन तथा वर्तमान विज्ञान के आविष्कारों से इसका मिलान करने लगा।....अतः मनन, चिन्तन के बाद सांख्य पर अपने विचार लिखने बैठ गया।'

स्व० गुरुदत्त जी ने न केवल भारतीय विद्वानों और मनीषियों की कृतियों एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यों का अध्ययन-मनन किया अपितु पाश्चात्य लेखकों का भी गहन अध्ययन करने के बाद वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उसे लिपिबद्ध करने बैठ गये। उनका कहना है कि—"सिद्धान्त रूप में जो कुछ वेद में कहा गया है, उसे हम सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन सिद्धान्तों के प्रयोग में विकास नहीं ह्रास हुआ है। यही बात सांख्य दर्शन की है। इसके आदि प्रवक्ता कपिल मुनि ने सिद्धांत तो लगभग पूर्णरूपेण कह दिया था, उसकी व्याख्या अन्य आचार्यों ने की है। कई विद्वानों ने सिद्धान्तों की व्याख्या में अनर्गलता लाने का यत्न किया है। कुछ-एक ने अपनी व्याख्या में सिद्धान्तों की जटिलता को सुलझाया भी है।"

सांख्य दर्शन के आकार आदि के विषय में श्री गुरुदत्त को शंकाएँ हैं। अपनी शंकाओं का उल्लेख उन्होंने विस्तार से और तर्क तथा युक्ति का आश्रय लेकर किया है। इससे उनके कथन की सत्यता सिद्ध होती है। उनके अनुसार वर्तमान सांख्य दर्शन में उसके छः अध्यायों में ५२६ सूत्र हैं। इसमें कुछ भाष्यकारों ने कुछ सूत्रों को प्रक्षिप्त माना है किन्तु अध्यायों के विषय में उनको कोई शंका नहीं है।

भाष्यकार श्री गुरुदत्त को वर्तमान सांख्य दर्शन के उत्तरार्द्ध के तीनों अध्याय अर्थात् ४, ५ और ६ अध्याय प्रक्षिप्त लगते हैं। उनका कहना है कि सांख्यकार जो कुछ कहना चाहता था उसने प्रथम तीन अध्यायों में वह सब कह दिया है तथा उसने 'अथ' से आरम्भ कर तृतीय अध्याय के अन्तिम सूत्र में 'इति' शब्द का प्रयोग कर अपने कथन को समाप्त कर दिया है। वैसे भी उनका यह मानना है कि ग्रन्थकार जो कुछ कहना चाहता था वह इन तीनों अध्यायों में पूर्ण हो गया है। अवशिष्ट तीन अध्यायों में अधिकांश सूत्र विषयेतर हैं तो अनेक सूत्र पूर्व-कथित सूत्रों की पुनरावृत्ति अथवा पिष्टपेषण करने से अनुपयोगी अथवा प्रक्षिप्त हैं। अपने कथन के लिए उन्होंने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

यही कारण है कि उन्होंने प्रथम तीन अध्यायों के अपने भाष्य में प्रत्येक अध्याय से पूर्व उस अध्याय का कथ्य और सारांश विस्तार से लिख दिया है, किन्तु शेष तीन अध्यायों के सूत्रों की उन्होंने व्याख्या मात्र करके उस पर अपनी शंका का उल्लेख भी किया है कि क्यों वे उस सूत्र अथवा अध्याय को विषयेतर अथवा प्रक्षिप्त मानते हैं।

श्री गुरुदत्त यह स्वीकार करते हैं कि 'वेद में बीज मात्र उपस्थित ज्ञान को लेकर कपिल मुनि ने सांख्य दर्शन में उसका विस्तार किया है।' अपने इसी वाक्य से उन्होंने अपने भाष्य-ग्रन्थ की भूमिका की परिसमाप्ति की है। पुस्तक के उपसंहार में उन्होंने लिखा है—'हमें सांख्य दर्शन भारतीय विज्ञान और ज्ञान का शास्त्र प्रतीत हुआ है और हमने इस भाष्य में वर्तमान युग के विज्ञान ज्ञान से इसकी तुलना करने का यत्न किया है।'

अपनी इस तुलना में वे सर्वथा सफल रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनके प्रस्तुत भाष्य को पढ़ने के उपरान्त पाठक को सांख्य और साइंस की समानता का भली-भाँति बोध हो जाता है और उसकी सभी शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं अथवा उनका समाधान हो जाता है।

स्व० श्री गुरुदत्त महान् लेखक थे यह तो सब मानते और जानते हैं। परन्तु वे कितने मौलिक चिन्तक थे और विज्ञान तथा वैदिक वांङ्मय का उनका कितना गम्भीर अध्ययन था, यह अभी पूर्णतया प्रकाश में नहीं आ पाया है। उसका मूल कारण यह हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है कि उन्होंने इतने अधिक उपन्यास लिखे हैं कि वे उपन्यासकार के रूप में विख्यात हो गये, यहाँ तक कि यूनेस्को की रिपोर्ट के अनुसार वे हिन्दी के सर्वाधिक पढ़े जाने वाले लोकप्रिय उपन्यासकार थे। इसलिए उनका उपन्यासकार-रूप और सब रूपों पर प्रभावी हो गया। यही कारण है कि वैज्ञानिक वेद-व्याख्याता के रूप में उनकी कहीं चर्चा सुनाई नहीं देती।

उन्होंने किस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक खोजों के आधार पर वैदिक मन्तव्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है, उसका उदाहरण उनके ये दर्शन-शास्त्रों के व्याख्या-ग्रन्थ हैं।

—अशोक कौशिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

सांख्य दर्शन पर भाष्य लिखने की इच्छा तो तब से थी जब मुझे यह ज्ञात हुआ था कि सांख्य दर्शन 'सायंस' का ग्रन्थ है।

पण्डित भगवद्दत जी की एक पुस्तक में मैंने 'साय्ंस' शब्द की व्युत्पत्ति पढ़ी तो विदित हुआ कि 'सायंस' शब्द सांख्य शब्द का अपभ्रंश है। मैं इसका अभिप्राय यह समझा हूँ कि भारतवर्ष की प्राचीन विज्ञान की पुस्तक सांख्य दर्शन है। फिर सांख्य के विषय में एक संक्षिप्त-सा ज्ञान महर्षि स्वामी दयानन्द की पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' से हुआ। इससे मुझे अपने विचार का समर्थन मिला। तब से ही इस ग्रन्थ के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की लालसा बनी हुई थी। सन् १९६६ में भारतीय साहित्यकार संघ के तत्त्वावधान में आयोजित 'इतिहास परिषद्' के अवसर पर पण्डित उदयवीर शास्त्री से पता चला कि सांख्य दर्शन पर उनका भाष्य प्रकाशित हो गया है। मैंने तब ही उसे पढ़ने का निश्चय कर लिया था।

पण्डित उदयवीर शास्त्री से मेरा परिचय सन् १९२४-२५ से है और मुझे तब भी विदित था कि पण्डित जी सांख्य दर्शन पर कार्य कर रहे हैं। बाद में एक बार पण्डित रामगोपाल शास्त्री से बातचीत करने पर पता चला कि श्री उदयवीर जी परमाणुओं में सत्त्व, रजस्, तमस् को गुण नहीं मानते। परन्तु भारतीय शास्त्रों में इनको गुण ही कहा है। महर्षि स्वामी दयानन्द ने भी इनको गुण ही माना है। परन्तु साथ ही यह भी विदित हुआ कि परमाणु सत्त्वगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान अथवा तमोगुण प्रधान भी हो जाते हैं। जब किसी पदार्थ में कोई गुण बढ़ सकता है तो कम भी हो सकता है, और यदि कम हो सकता है तो सर्वथा शून्य भी हो सकता है। यह सरल-सी युक्ति थी, जिससे बात समझ में नहीं आ रही थी। अतः जब पता चला कि शास्त्री जी ने सांख्य पर अपना भाष्य प्रकाशित करवाया है तो यह स्वाभाविक था कि इसे लेकर पढ़ा जाए।

मैंने शास्त्री जी का सांख्य दर्शन का 'विद्योदय भाष्य' पढ़ा, परन्तु उससे सत्त्व, रजस् और तमस् की समस्या तो सुलझी नहीं, वरन् कई अन्य प्रश्न मन में उत्पन्न हो गए। इसका कारण यह है कि मैं 'सायंस' का स्नातक हूँ। साथ ही यत्न करता रहता हूँ कि 'सायंस' की नवीनतम उपलब्धियों से परिचित रहूँ। इस कारण सांख्य दर्शन में कई गुत्थियाँ थीं जो पण्डित उदयवीर शास्त्री जी के भाष्य से सुलझी नहीं थीं। अतः मनन और चिन्तन आरम्भ हुआ।

विल ड्यूरेण्ट नाम के एक पाश्चात्य दार्शनिक ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि दर्शनशास्त्र विज्ञान का चरम बिन्दु है (Philosophy is the culmination of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

science)। इसका स्वाभाविक अर्थ यह निकलता है कि विज्ञान दर्शनशास्त्र का मूल है।

भगवद्गीता में भी जब श्री कृष्ण अर्जुन को ज्ञान-विज्ञान के विषय में बताने लगे तो उन्होंने भी सांख्य सिद्धान्त का उल्लेख किया। इस कारण मैं सांख्य को पढ़ने के प्रलोभन में फँस गया और इसके संशयों पर मनन, चिन्तन तथा वर्तमान विज्ञान के आविष्कारों से इसका मिलान करने लगा।

एक घटना और घटी। मैं जब आयुर्वेद का अध्ययन कर रहा था तो अपने गुरु जी से 'सुश्रुत' पढ़ते हुए मैंने पूछा कि इसका अभिप्राय यह है कि सुश्रुत त्रैतवाद को मानता है? गुरु जी उत्तर नहीं दे सके। कारण यह है कि वह शंकर के वेदान्त मत को स्वीकार कर चुके थे। 'सुश्रुत' ने स्पष्ट शब्दों में त्रैतवाद की घोषणा की है।

अतः मनन और चिन्तन के उपरान्त सांख्य पर अपने विचार लिखने बैठ गया। पण्डित उदयवीर जी शास्त्री का 'विद्योदय भाष्य' सबसे अधिक मेरे मन को प्रोत्साहन देने वाला और अध्ययन में सहायता देने वाला रहा है, और यदि मैं यह कहूँ कि वह मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यही कारण है कि जब अन्य भाष्यकारों से मतभेद दिखाई दिया तो मैंने उनके भाष्य को ध्यान में रखा। वैसे शास्त्री जी ने बहुत सीमा तक मध्यकालीन भाष्यकारों का अनुकरण किया है। उन भाष्यकारों से उनके अपने मतभेद भी हैं। परन्तु मुख्यतया उन्होंने पंचशिख, विज्ञान भिक्षु और उसी काल के अन्य भाष्यकारों का अनुकरण ही किया है। फिर भी मैं अपने वर्तमान प्रयास में उनका बहुत आभारी हूँ।

भाष्य करने में मैंने व्याकरण तथा भाषा-सम्बन्धी बहुत-सी सहायता पण्डित राजाराम शास्त्री (भूतपूर्व प्राध्यापक डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर) के आत्मज, संस्कृतभूषण पण्डित शुचिव्रत शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० से ली है। मैं अपने इस प्रयास में सफल अथवा असफल जो कुछ भी हुआ हूँ, उनके अनथक प्रयत्न का ही परिणाम है।

भाष्य करने में कुछ अंश तक सहायता पण्डित दीनानाथ जी सिद्धरत्नालंकार से भी मिली है। मैं इन सब विद्वानों का आभारी हूँ। मेरी यह मान्यता है कि दर्शनशास्त्र वैदिक सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध करने के लिए कहे गए हैं। सिद्धान्तों की व्याख्या भी दर्शनशास्त्रों ने की है। इस कारण यास्काचार्य का यह कथन सत्य सिद्ध होता है कि वेद में कुंछ भी अयुक्तियुक्त बात नहीं है। हमारी युक्ति दोष-पूर्ण हो सकती है, परन्तु उसे तो मार्जित किया जा सकता है। वेद में भूल नहीं है।

अतः मनुष्य को सदैव अपने विपक्षी की बात और युक्ति को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए। यही दर्शनशास्त्रों की शिक्षा है। कुछ भी अयुक्तियुक्त नहीं है। शास्त्र कथन-मात्र नहीं हैं, वे तर्क भी हैं। साथ ही जब तर्क से कुछ सिद्ध कर दिया जाता है तो कह दिया जाता है कि ऐसा वेद में भी कहा है।

परन्तु दर्शनशास्त्र का कथन इसी कारण सत्य नहीं है कि वह वेद में कहा है, वरन् इस कारण सत्य है कि सूत्रकार उसे तर्क से सिद्ध करता है।

ऐसा मानते हुए, जहाँ-जहाँ मैंने वेद तथा अन्य शास्त्रों का प्रमाण दिया है, वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ही है कि जैसा मैं सांख्य को समझा हूँ, अन्य शास्त्रकार भी वैसा ही समझते हैं। इस कारण मैं सदैव दूसरे के तर्क सुनने और पढ़ने के लिए उद्यत हूँ। इस विषय पर अन्य विद्वानों के मत सदैव सुनने के लिए तैयार हूँ और अपनी भूल समझ में आने पर स्वीकार करने के लिए भी उद्यत हूँ।

—विनीत,

१ मई, १९७६ **गुरुदत्त**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

हम सांख्य दर्शन पर अपना भाष्य आरम्भ करें, उससे पूर्व हम इस ग्रन्थ के विषय में भाष्यकारों द्वारा उत्पन्न की गई कुछ भ्रान्तियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना चाहते हैं।

छहों (ब्रह्म सूत्र, पूर्व मीमांसा, न्याय, योग, सांख्य और वैशेषिक) दर्शनशास्त्रों में सबसे अधिक निन्दा तथा प्रशंसा सांख्य दर्शन की ही हुई है। यही इस दर्शनशास्त्र की सर्वश्रेष्ठता का प्रमाण है। जब कोई कथन अथवा लेख इतना श्रेष्ठ अथवा युक्तियुक्त होता है कि उसको विलक्षण ढंग से माननेवाले उसका खण्डन नहीं कर सकते तो वे उसकी महिमा को कम करने के लिए रचयिता के अज्ञात होने, उस ग्रन्थ के लिखे अथवा कहे जाने के काल के विषय में भ्रम उत्पन्न करने तथा उस ग्रन्थ के मूल पाठ को अपभ्रंश कहने का यत्न करने लगते हैं। वेदों के विषय में पाश्चात्य लेखक प्रायः यही करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं।

वेदों की महिमा भारतीय हिन्दू समाज में बहुत अधिक थी और ईसाई पादरी जब वेदों को न जानते हुए, न समझते हुए, उसका खण्डन नहीं कर सके तो उनकी महिमा को कम करने के लिए वेदों के प्रवक्ता के विषय में मिथ्या एवं निराधार कथन करने लगे। वेद के काल एवं स्थान के विषय पर वे निराधार वक्तव्य देने लगे और वेद में कही गई बातों के मिथ्या अर्थ कर उनकी प्रतिष्ठा को कम करने का यत्न करने लगे।

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के इण्डोलॉजी विभाग की आधार-शिला ही भारतीय हिन्दू समाज में वेद की महिमा को कम करने के लिए रखी गई थी। यही बात भारतवर्ष में सांख्य दर्शन के विषय में हुई है। कुछ-एक मत-मतान्तर भारतवर्ष में ऐसे उत्पन्न हुए जो जगत्, जगत्-रचना, जगत्-पालन और संहार के विषय में सांख्य से विलक्षण अथवा विपरीत विचार रखते हुए, सांख्य को मिथ्या सिद्ध नहीं कर सके। तब उनमें से कुछ ने सांख्य शास्त्र को निस्तेज करने के लिए उसके प्रवक्ता के विषय में संशय और उसके कहे जाने के काल के विषय में भ्रान्त मत प्रस्तुत किया और फिर उसमें अपने मत का प्रक्षेप करने तक का प्रयत्न किया।

अन्य दर्शनशास्त्रों के विषय में मतभेद इतना प्रबल नहीं था कि उनमें गड़बड़ करने का कष्ट किया जाता, परन्तु सांख्य तो भ्रान्तिकारों की जड़ों में ही तेल देने वाला ग्रन्थ था। इस कारण इस शास्त्र को भ्रष्ट करने का विपुल यत्न किया गया।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वे ऐसे कौन-से मत थे जिनको सांख्य से इतना भय उत्पन्न हो गया था कि उनके कुछ-एक अनुयाइयों ने यह कुत्सित कार्य किया होगा? इस विषय में यदि दर्शनशास्त्र में प्रक्षेपों का अध्ययन किया जाए तो इस बात का ज्ञान हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएगा कि किन्होंने प्रक्षेप किया है।

उदाहरण के रूप में प्रथम अध्याय के कुछ सूत्रों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उन सूत्रों के लिखनेवाले शंकर-पन्थी अद्वैतवादी रहे हैं। सांख्य सूत्र १-२१, २२ पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सूत्र १-२१ इस प्रकार है—

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥२१॥

अर्थात्—(अविद्या को) वस्तु मानने से सिद्धान्त की हानि होगी। इससे पूर्व के सूत्र में अविद्या को अवस्तु कहा है। हमने इस सूत्र के अपने भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि वेद में विद्या और अविद्या का क्या अर्थ है? परन्तु सूत्र (१-२१, २२) का प्रक्षेप करने वाला कहता है कि अविद्या को वस्तु मानने के सिद्धान्त की हानि होगी और अगले सूत्र में वह उस सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कहता है—

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥२२॥

अर्थात्—विपरीत सिद्धान्त द्वैतवाद की प्राप्ति होगी।

प्रक्षेपक ने द्वैतवाद को विपरीत सिद्धान्त समझा। द्वैतवाद है प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को मानना। अभिप्राय यह है कि इन सूत्रों (१-२१, २२) के प्रक्षेप करनेवाला द्वैतवाद को विपरीत सिद्धान्त मानता है। इससे वह स्वयं अद्वैतवादी है, ऐसा स्पष्ट होता है।

अद्वैतवाद या तो शंकर का मत है अथवा यह बौद्ध मत है। इनमें से ही किसी ने सांख्य को अर्थहीन, अस्थिर मत प्रकट करने के लिए इन सूत्रों का प्रक्षेप किया है।

इसी प्रकार इसी अध्याय के सूत्र १-२८ को पढ़ें—

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरंजकभावोऽपि देश व्यवधानात्
सुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥२८॥

इसमें सुघ्न नगर और पाटलिपुत्र का भौगोलिक संकेत है। इस संकेत से यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि शास्त्र इन नगरों के स्थापित होने के उपरान्त लिखा गया है। यह वही बात है जो तथाकथित यूरोपियन विद्वान् वेद को ईसा से केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व का सिद्ध कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि सांख्य का उल्लेख महाभारत में स्पष्ट और अत्यधिक स्थानों पर मिलता है और महाभारत का काल भारतीय परम्परा के अनुसार तीन हज़ार वर्ष ईसा-पूर्व है। सांख्य उससे भी पुराना है। तब उसमें सुघ्न और पाटलिपुत्र का भौगोलिक वर्णन कैसे आ सकता था?

इसी प्रकार एक सूत्र है—

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥ (५-३२)

अर्थात्—आधेय शक्ति का सम्बन्ध है। ऐसा पंचशिख का मत है। इस सूत्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन का अंग बनाकर यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि सांख्य का प्रणेता कपिल पंचशिख के उपरान्त उत्पन्न हुआ है।

इससे पूर्व के सूत्र में किसी आचार्य की दुहाई दी गई है। वह आचार्य कपिल है अथवा कोई अन्य है, कहा नहीं जा सकता। हमारा विचार है कि पंचशिख कपिल से सहस्रों वर्ष बाद उत्पन्न हुआ है और वह आचार्य इस सूत्र के प्रक्षेप करनेवाले का गुरु है। उसके विषय में लिखनेवाला अपने को अथवा अन्य विश्वासी भाष्यकार उसे कपिल मान रहे हैं।

इस प्रकार कपिल के काल को अनिश्चित बनाने के लिए ये प्रक्षेप किए गए हैं। इन्हीं प्रक्षेपों के कारण सांख्य पर लिखनेवाला एक यूरोपियन कहता है—

I started the inquiry with only two fixed points....firstly that the texts deserved to be taken seriously, and secondly that development, when correctly traced should be from the crude and primitive to the subtle and refined....

– *Early Samkhya by E.H. Johnston D.Litt., Preface, P.V.*

इसका अर्थ है—

मैंने अपनी खोज केवल दो निश्चित विचारों को लेकर आरम्भ की थी। प्रथम यह कि सारा ग्रन्थ विचारणीय है और दूसरे कि अस्पष्ट से स्पष्ट की ओर चलना होगा। अस्पष्ट प्राचीन है और स्पष्ट अर्वाचीन है।

और 'अस्पष्ट से स्पष्ट' की ओर चलनेवाला विद्वान् यह समझा है कि कठोपनिषद् अस्पष्ट है। वह लिखता है—

The origin lay, as has been seen, in the analysis of the individual undertaken in the Brahmanas and earliest Upnishads.

ब्राह्मणों में वह शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण देता है (१०-१-४-१ से १४ तक) तथा उपनिषदों में से वह कठोपनिषद् का। और अपनी खोज के मध्य में वह पाता है—

Though the theories so far described are atheistic, most of them are taken up in the *Svet. Up.*, which knows the eightfold *prakriti,* the sixteenfold *vikara,* the principles of *Svabhava* and the fivefold *avidya*, and the *Kshetrajna* and jiva....(Ibid. p.84)

अर्थात्—यद्यपि विचार नास्तिक्य के हैं, परन्तु उनमें से बहुत-से श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णन किए गए हैं जो आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकार मानता है....

लेखक इसी खोज में चलता-चलता पहुँचता है—

Further in regard to the problem of causation, which was already partially covered by the theories of *tattvavikara* and *gunaparinama*, the view of the Varsaganya school that only the existent comes into being, received its logical extension with the discovery of the principle of *Satkarya*, one *step* towards which is perhaps to be found in the dialectics of *Aswaghosa,* and which was to become the central point of the philosophy of the classical school.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

None of these changes need have been the invention of Ishwarkrisna, but the evidence of the Y.S. suggests the possibility that he did contribute one novelty in the theory that *Prakriti* comes into action to effect the purpose of the *Purush*, thereby finally doing away with the older explanation that *avidya* was the cause of the implication of the soul in the Universe. Therewith Samkhya attains its full growth and was to become incapable of substantial change or modification in the future to meet new ideas or conditions, and the historical development of the early school reaches its culminating point.

– Early Samkhya by E.H. Johnston, P.88.

अर्थात्—आगे कार्य-कारण समस्या पर विचार करते हैं। इस विषय में आंशिक रूप में तत्त्व, विकार और गुण-परिणाम पर विचार किया जा चुका है। इस विषय में वार्षगण्य का विचार है कि रचना हुई है और इसका युक्तियुक्त प्राकट्य हुआ है सत्कार्य के सिद्धान्त के ज्ञान से। यह एक पग अश्वघोष की युक्तियों की ओर है और जो प्रचलित केन्द्रीय दार्शनिक विचार हो गया है। इन परिवर्तनों में से एक भी ईश्वरकृष्ण का आविष्कार नहीं है, परन्तु योग दर्शन के प्रमाण से यह सम्भावना प्रतीत होती है कि उसने यह नवीन विचार उपस्थित किया है कि पुरुष के प्रयोग के लिए प्रकृति कार्य में आती है। इससे प्राचीन कथन रद्द कर दिया गया है कि अविद्या कारण है आत्मा के संसार में लिप्त हो जाने का। इससे सांख्य अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गया है और अब इसमें उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा भविष्य में सुधार करने तथा भविष्य में नए विचार इसमें लाने तथा ऐतिहासिक प्रगति के साथ नई स्थितियाँ उत्पन्न करने को स्थान नहीं रहा।

यह पूर्ण पुस्तक (Early Samkhya) उस भ्रान्त मन की उपज है जो विजातीयों ने सांख्य में प्रक्षेप कर उसे पुष्ट करने का यत्न किया है। उक्त वक्तव्य में निम्न बातें विशेष रूप में वर्णन की गई हैं—

(१) विकासवाद के अनुसार सांख्य-विचार का विकास हुआ है।

(२) शतपथ और कठोपनिषद् में अस्पष्ट (crude) सांख्य है।

(३) उसकी उन्नति श्वेताश्वतर उपनिषद् के कथन में हुई है।

(४) वार्षगण्य तथा अश्वघोष के काल में ग्रन्थों में आगे उन्नति हुई है।

(५) अन्तिम पूर्ण विकास अश्वघोष इत्यादि के विचारों में दिया है और इसका वर्णन ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में है। यद्यपि ईश्वरकृष्ण ने कुछ नया आविष्कार नहीं किया, परन्तु योग दर्शन के प्रमाण से पता चलता है कि उसने एक नई बात कही है कि प्रकृति पुरुष के लाभ के लिए बनी है।

(६) यह सांख्य का पूर्ण विकास है और अब आगे विकास के लिए द्वार बन्द हो गया है।

(७) यह यूरोपियन लेखक कपिल का नाम नहीं लेता। यह सांख्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला ईश्वरकृष्ण को मानता है। इसकी पूर्ण पुस्तक में कपिल का नाम नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन महानुभावों ने कपिल द्वारा कहे सांख्य-सूत्रों के तीन अध्यायों के साथ पिछले तीन (चतुर्थ, पंचम और षष्ठ) अध्याय जोड़े हैं, उनके ही 'पुरुषार्थ' का यह फल है कि सांख्य का विकास करनेवाले अश्वघोष और वार्षगण्य माने गए हैं।

हमारा यह मत है कि बौद्ध और जैन मतों से प्रभावित व्यक्तियों ने सांख्य दर्शन में प्रक्षेप किए हैं। बौद्ध आदि मतों से प्रभावित होने का अभिप्राय यह नहीं है कि सब उनके अनुकूल मत रखनेवाले हों। इसका यह अर्थ भी है कि उन मतों की प्रतिक्रिया में कहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है, परन्तु अपने विचार किसी दूसरे के नाम पर लिखना न केवल अशिष्टता है, प्रत्युत पाप भी है।

हम विकासवाद को थोथा सिद्धान्त मानते हैं। यह अयुक्ति-संगत और अप्रामाणिक है। मानव के स्वभाव और विचारों में परिवर्तन तो होते रहे हैं, परन्तु ये सदा उन्नति की ओर ही नहीं, प्रत्युत अवनति की ओर भी हुए हैं।

सिद्धान्त-रूप में जो कुछ वेद में कहा गया है, उसे हम सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन सिद्धान्तों के प्रयोग में विकास नहीं, ह्रास हुआ है। यही बात सांख्य दर्शन की है। इसके आदिप्रवक्ता कपिल मुनि ने सिद्धान्त तो लगभग पूर्णरूपेण कह दिया था, उसकी व्याख्या अन्य आचार्यों ने की है। कई विद्वानों ने सिद्धान्तों की व्याख्या में अनर्गलता लाने का यत्न किया है। कुछ-एक ने व्याख्या में सिद्धान्तों की जटिलता को सुलझाया भी है।

परन्तु कुछ महानुभावों ने अपनी व्याख्या को कपिल मुनि के नाम पर कहने का यत्न किया प्रतीत होता है। हमने उनके कुछ प्रमाण ऊपर दिए हैं और शेष हम पुस्तक में यथास्थान प्रकट करने का यत्न करेंगे।

कपिल

कपिल मुनि के विषय में इतना स्पष्ट है कि वह सांख्य दर्शन के प्रथम प्रवक्ता थे। जहाँ-जहाँ भी कपिल का इतिहास वर्णित है, वहाँ यही कहा गया है।

क्या कपिल ब्रह्मा के पुत्र थे? इस विषय पर विचार करने के समय ब्रह्मा किसको कहा है, यह समझ लेना भी आवश्यक है। मनुस्मृति में इसके विषय में यह कहा मिलता है—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते।

(मनु० १-११)

अर्थात्—वह जो सबका कारण, अव्यक्त, नित्य और सत् (स्वरूपवान्) और असत् (अस्वरूपवान्) का आत्मा (चेतन तत्त्व) है, उससे उत्पन्न वह पुरुष तथा लोक रचनेवाला ब्रह्मा कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने जिस साधन से इस संसार में सृष्टि की, वह ब्रह्मा है।

इस विषय में महाभारत में कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥

(महा भा० शान्ति० १८२-३७, ३८)

अर्थात्—मानस देह का स्वरूप ही ब्रह्मा का रूप है। उन्हीं ब्रह्मा जी के आसन के लिए पृथिवी को कमल कहते हैं।

उस कमल की कर्णिका मेरु पर्वत है जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया है। उसी के मध्य-भाग पर स्थित होकर जगदीश्वर जगत् की रचना करता है।

मनुस्मृति में, मन्वन्तरों के आरम्भ में होने वाले प्रकृति में परिवर्तन करने की साधन-शक्ति को ब्रह्मा कहा है और महाभारत में पृथिवी बन जाने के उपरान्त प्राणी-सृष्टि को सम्पन्न करनेवाली शक्ति को ब्रह्मा कहा है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा सृष्टि रचनेवाले जगदीश्वर (परमात्मा) की शक्ति है।

क्योंकि सृष्टि-रचना में कई मोड़ आए हैं, इस कारण कई ब्रह्माओं का वर्णन किया गया है।

यह तो हुई पुराणादि ग्रन्थों में ब्रह्मा की विवेचना, और इसके अनुसार पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की सन्तान कही जाती है।

परन्तु कुछ कहते हैं कि ब्रह्मासुत ने तो केवल २२ सूत्री 'तत्त्व समास' कहा था। पूर्ण सांख्य दर्शन कहनेवाला कपिल तो कोई अन्य व्यक्ति है।

गौड़पादाचार्य सांख्य-कारिका पर अपने भाष्य में लिखते हैं—

इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—
सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिख स्तथा॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥

अर्थ है—सनक, सनन्द, सनातन, नारद, आसुरि, कपिल और पंचशिख ब्रह्मा के पुत्र थे।

इस श्लोक का किसी पुराण में विकल्प भी है जिसमें अन्तिम पंक्ति है—

इत्येते मानसाः पुत्राः ब्रह्मणः परमेष्ठितः।

कुछ भी हो, ब्रह्मा के पुत्र से अभिप्राय सृष्टि-रचना में उत्पन्न हुए से है। ये कब उत्पन्न हुए, इसका उल्लेख नहीं मिलता। और पुराण में तो मानस पुत्र कहकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि इनके माता-पिता कोई दूसरे थे। ब्रह्मा के ये मानस पुत्र (शिष्य) थे।

मानस पुत्र होने की दृष्टि से, कपिल जो देवहूति और कर्दम की सन्तान कहा जाता है, वह ब्रह्मा का मानस पुत्र था। कर्दम के पुत्र कपिल के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा आशीर्वाद देने आए थे।

कुछ भी हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि सांख्य शास्त्र के रचयिता कपिल, देवहूति और कर्दम के पुत्र थे। वही ब्रह्मा के मानस पुत्र थे और तत्त्वसमास के २२ सूत्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R 089.9143
GUR-S
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचयिता थे। उन्होंने ही बाद में उन २२ सूत्रों (तत्त्वसमास) का सांख्य दर्शन नाम से विस्तार किया था।

पुराण-ग्रन्थों तथा भारतीय इतिहास में यह प्रथा है कि पुत्र का अर्थ केवल वीर्य से उत्पन्न पुत्र नहीं होता, वरन् वंश में उत्पन्न किसी भी प्राणी से होता है। महाभारत में कुरु वंश की दो वंशावलियाँ दी हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन करने से तथा वाल्मीकि रामायण में राम के विवाह के समय सूर्य वंश के वर्णन से यही पता चलता है कि पुत्र से अभिप्राय वंश में उत्पन्न प्राणी है।[1] इस विषय में एक और भी प्रमाण है। महाभारत में एक स्थान पर कपिल को मनुपुत्र कहा है। महाभारत वन पर्व में मनु के पुत्रों की गणना कराते हुए मनु के चौथे पुत्र के विषय में इस प्रकार कहा है—

कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥

(महा भा० वन० २२१-२१)

(मनु के चौथे पुत्र) जिसे यति लोग महर्षि कपिल के नाम से कहा करते हैं, जो अग्निरूप हैं, वह कपिल सांख्य योग के प्रवर्तक हैं।

परन्तु कपिल को मनु की पुत्री देवहूति का लड़का भी कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि भारतीय इतिहास में वंश में उत्पन्न प्राणी को पुत्र ही कहा है।

हमारी दृष्टि में ब्रह्मा का मानस पुत्र कपिल ही देवहूति और कर्दम का पुत्र था और वही सांख्य दर्शन का प्रवर्तक हुआ है।

कपिल का जन्म-काल

कपिल मुनि कब हुए? इस विषय में हम भारतीय परम्परा के अनुसार ही बताना चाहते हैं। भारतीय इतिहास की परम्परा के अनुसार महा-जलप्लावन सतयुग और त्रेता युग की सन्धि पर हुआ था। उस प्लावन में मनु और कुछ ऋषि ही बचे थे। मनु से ही पुनः मानव-सृष्टि हुई थी। इसी मनु की सन्तान देवहूति थी जिसका विवाह कर्दम ऋषि से हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि कपिल त्रेता युग के आरम्भिक काल में उत्पन्न हुआ था।

युग-गणना के अनुसार त्रेता युग को आरम्भ हुए २१,६५,०७६ वर्ष[2] हो चुके हैं। लगभग इतने ही वर्ष कपिल को हुए हो चुके हैं। वर्तमान युग के इतिहासकार योरुपियन परम्परा में पठित होने के कारण इतने लम्बे काल को सुनकर सिर हिलाने लगते हैं, परन्तु हमें इसमें कुछ भी असंगत अथवा अयुक्तियुक्त बात प्रतीत नहीं होती। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इतने लम्बे काल से किसी शास्त्र का प्रचलित रहना सम्भव नहीं मानते। यह उनके

१. इस विषय पर लेखक की रचना 'इतिहास में भारतीय परम्परा' [illegible], पृष्ठ १४७–१५३ पर विवेचन देखें।

२. ग्रन्थ के रचना काल तक।

Gurukul Library
168913
Gurukula Kangri (Deemed University) Haridwar
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौने मस्तिष्क की ही उपज है। जैसे किसी के पूर्वज अनपढ़ और गँवार रहे हों और वे अपने माता-पिता के पूर्वजों की कल्पना न कर सकें, ठीक वैसी ही अवस्था योरुपियन इतिहासज्ञों की है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि बृहदारण्यक इत्यादि उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में कपिल और सांख्य का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सांख्य इन ग्रन्थों से पहले का लिखा हुआ नहीं है।

हम यह युक्ति निराधार मानते हैं। यदि किसी ग्रन्थ में किसी व्यक्ति अथवा घटना का उल्लेख हो तो यह निश्चय से कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अथवा घटना उस ग्रन्थ से पहले की है। परन्तु जब किसी ग्रन्थ में उसका उल्लेख न हो तो इसके विपरीत बात सिद्ध नहीं मानी जा सकती।

उदाहरण के रूप में बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में कपिल का उल्लेख नहीं है, परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् में है। इसका यह तो अर्थ हो सकता है कि कपिल श्वेताश्वतर के लिखे जाने से पूर्वकालीन है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बृहदारण्यक उपनिषद् कपिल से पूर्वकाल के हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना करिए कि कोई व्यक्ति आज रसायनशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखता है और उसमें रसायनशास्त्र का सैद्धान्तिक वर्णन तो करता है, परन्तु रसायनशास्त्र के किसी आविष्कारक का नाम नहीं लिखता। तो क्या यह समझना ठीक होगा कि आविष्कारक इस पुस्तक के लिखे जाने के बाद उत्पन्न हुए हैं? यही बात सांख्य दर्शनशास्त्र के विषय में है।

हमारे प्राचीन इतिहास का क्रम इस प्रकार है। त्रेता युग के आरम्भ से ही वर्तमान भारत का इतिहास आरम्भ होता है। मनु से वर्तमान मानव-सृष्टि हुई है और तब से ही इसका इतिहास है।

सतयुग का वृत्तान्त मौखिक रूप में ही उन लोगों के द्वारा कहा गया है जो जल-प्लावन में बच गए थे। परन्तु त्रेता युग और द्वापर युग की प्रमुख घटनाओं और ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन वाल्मीकि रामायण और महाभारत में मिलता है। सूर्य वंश और पुरु वंश में उत्पन्न राजाओं की नामावलियाँ भी मिलती हैं। त्रेता युग के १२,९६,००० वर्ष का, द्वापर के ८,६४,००० का और वर्तमान कलियुग के २,३५१ वर्ष तक का इतिहास पुराणों में मिलता है। त्रेता युग और द्वापर के २१,६०,००० वर्ष के काल की भारत देश के प्रमुख वंशों के राजाओं की नामावलियाँ मिलती हैं और महाभारत-युद्ध के उपरान्त कलियुग के मगध के बृहद्रथ वंश के १,००१ वर्ष, प्रद्योत वंश के १३९ वर्ष, शिशुनाक वंश के ३६२ वर्ष, महापद्म नन्द वंश के १०० वर्ष, मौर्य वंश के १३७ वर्ष, शुंग वंश के ११२ वर्ष, कण्व वंश के ४२ वर्ष और आन्ध्र वंश के ४५६ वर्ष के राज्यकाल के बाद आभीर वंश के ६ राजाओं ने राज्य किया। उसके उपरान्त का इतिहास पुराणों में नहीं है। इसके उपरान्त का इतिहास मध्यकालीन ग्रन्थों में मिलता है।

यह सब पुराणों में लिखा मिलता है तो इस बात में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रह जाता कि जल-प्लावन को लगभग २१,६०,००० वर्ष हो चुके हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्लावन के कुछ ही काल बाद कपिल का जन्म हुआ था।

कपिल का जन्म-स्थान

भागवत महापुराण में मनु का देश ब्रह्मावर्त देश कहा है। इस देश की राजधानी बहिष्मती थी और कर्दम जी रहते थे सरस्वती के तट पर। सरस्वती नदी हिमालय से निकलती थी और राजस्थान की मरु-भूमि में समा जाती थी। ब्रह्मावर्त देश भी हिमालय के क्षेत्र में ही था। इस देश के विषय में मनुस्मृति में कहा है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥ *(मनु० २-१७)*

अर्थात्—सरस्वती तथा दृषद्वती, इन दो देव नदियों के मध्य का जो देश है, उसे देवनिर्मित ब्रह्मावर्त्त कहते हैं।

दृषद्वती गंगा को कहते हैं। यहाँ रहते हुए ही कर्दम के पुत्र उत्पन्न हुआ जो कपिल कहलाया। अन्तिम तपस्या बिन्दुसार के तट पर की गई थी। यह कहीं ब्रह्मावर्त देश में है जिसमें से सरस्वती नदी निकलती थी।

सांख्य दर्शन का आकार

वर्तमान सांख्य दर्शन छः अध्यायों में मिलता है और इसके कुल ५२६ सूत्र हैं।

प्रथम अध्याय में १६४ सूत्र, द्वितीय अध्याय में ४७, तृतीय अध्याय में ८४, चतुर्थ में ३२, पंचम में १२९ और षष्ठ अध्याय में ७० सूत्र, इस प्रकार कुल ५२६ सूत्र।

श्री उदयवीर शास्त्री ने प्रथम अध्याय में २० से ५४ तक (३५ सूत्र), पंचम अध्याय में ५७ से ६० तक (४ सूत्र), ८४ से ११५ तक (३२ सूत्र) १२० से १२३ तक (४ सूत्र) इस प्रकार कुल ७५ सूत्र प्रक्षिप्त माने हैं। उन्होंने अपने सांख्य दर्शन के 'विद्योदय भाष्य' में इन सूत्रों को प्रक्षिप्त कहने में अपनी युक्तियाँ भी दी हैं।

हमारा मत है कि कपिल मुनि द्वारा रचित सांख्य दर्शन केवल तीन अध्याय में समाप्त हुआ है, अर्थात् चौथा, पाँचवाँ और छठा ये तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं। ये कपिल मुनि के लिखे नहीं हैं।

हमारी युक्ति है—

(१) जो कुछ प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में प्रतिज्ञा की थी, वह तीसरे अध्याय के अन्त में पूर्ण हो गई कही गई है।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में यह कहा गया है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥ (१-१)

अब तीन प्रकार के दुःखों से अतिशय (निर्मूल करने तक) छुटकारा पाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न (बताने के लिए) इस ग्रन्थ की रचना की जा रही है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ करने के समय जो कुछ बताने की प्रतिज्ञा की गई है, सूत्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र में कहता है कि वह प्रतिज्ञा पूर्ण कर दी गई है। तीसरे अध्याय का अन्तिम (८४वाँ) सूत्र इस प्रकार है—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥ (३-८४)

अर्थ है—विवेक होने से शेष-रहित (सम्पूर्ण और अत्यन्त) दुःखों की निवृत्ति (दुःखों का अन्त) सम्पूर्ण हो जाती है। दूसरे (किसी उपाय) से नहीं होती।

हम समझते हैं कि सांख्य-दर्शनाचार्य को जो कुछ बताना था, वह तीसरे अध्याय के अन्त तक बता दिया है।

यहाँ ग्रन्थ के अन्त का यह सूत्र सबसे प्रबल प्रमाण है।

(२) चतुर्थ अध्याय में जो आख्यायिकाएँ दी गई हैं, वे सूत्रों में नहीं हैं। सूत्र तो संकेत मात्र होते हैं और उन संकेतों से किसी प्रकार की भी कहानी बनाई जा सकती है। कभी-कभी सिद्धान्त-विरोधी आख्यायिका बन जानी भी सम्भव है।

जो आख्यायिकाएँ भाष्यकारों ने कही हैं, वे पुराणादि बहुत ही अवान्तरकालीन ग्रन्थों की हैं। वे सांख्य का अंग नहीं हो सकतीं। अधिकांश आख्यायिकाएँ इतनी फूहड़ हैं कि वे किसी तार्किक द्वारा कही मानी ही नहीं जा सकतीं।

हमने अपने भाष्य में चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों के सब सूत्रों को दिया है और उनके अर्थ भी लिखे हैं। प्रत्येक सूत्र का अर्थ देकर उसकी अनुपयुक्तता में अपना तर्क भी दिया है। कहीं-कहीं कुछ सूत्र वेदानुकूल अवश्य हैं, परन्तु वे पुनरावृत्ति हैं। उनके विषय में प्रथम तीन अध्यायों में भी कहा जा चुका है।

सामान्य रूप में यही कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र तीसरे अध्याय पर समाप्त हो जाता है।

(३) पाँचवें अध्याय का आरंभ मंगलाचरण से किया गया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति॥ (५-१)

अर्थात्—शिष्टजनों के आचरण से और फल देखने की इच्छा से और श्रुति के प्रमाण से मंगलाचरण (परमात्मा का गुणगान) किया जाता है।

ऐसा ग्रन्थारम्भ पर किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है यहाँ से कोई नया ग्रन्थ आरम्भ होता है।

(४) हमने प्रत्येक सूत्र के नीचे अपने भाष्य में उस सूत्र के विषय में अपनी सम्मति लिखी है। ये सूत्र प्रायः वेदसिद्धान्त-विरुद्ध और सांख्य मत के विपरीत हैं। कुछ युक्ति से भी असिद्ध हैं।

हमारा मत है कि प्रचलित ग्रन्थ में चौथा, पाँचवाँ और छठा अध्याय प्रक्षिप्त हैं।

प्रथम अध्याय में हम १७वाँ सूत्र तथा १-१९ से १-५४ तक कुल ३७ सूत्र प्रक्षिप्त मानते हैं। १-१७ तथा १-१९ पर हमारी टिप्पणी सूत्र के भाष्य में ही पढ़ लेनी चाहिए।

यद्यपि हमने पूर्ण प्रचलित सांख्य दर्शन के सब सूत्रों पर ही यहाँ पर भाष्य किया है, परन्तु हमारे मत में सांख्य दर्शन, जो कपिल का लिखा समझ में आता है, वह २५८ सूत्रों का ही है। हमारे विचार में सृष्टि-रचना की पूर्ण कथा तथा पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध, जिसके ज्ञान से विवेक उत्पन्न होता है और प्रकृति के बन्ध से छूटकर दुःखों की निवृत्ति हो सकती है, इन्हीं २५८ सूत्रों में आ गया है। इन सूत्रों की व्याख्या और विस्तार अनेक भाष्यकारों ने बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थों में किया है। वास्तव में उनका मूल इन २५८ सूत्रों में ही है। भाष्यकारों का मत उनका अपना-अपना है।

फिर भी हमने उन सूत्रों को भी दिया है, जिन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी सिद्धान्त का युक्ति से खण्डन नहीं कर सकता तो वह सिद्धान्त को, सिद्धान्त के प्रवक्ता को और उसके जन्मादि वृत्तान्त को भ्रष्ट करने का यत्न करता है। ऐसी कुछ लोगों की प्रवृत्ति देखी गई है। वेद-भाष्य करनेवाले प्रायः योरुपियन लेखकों ने ऐसा ही करने का यत्न किया है। वेदार्थ को अयुक्त ढंग से उपस्थित करने का यत्न तो भारतीय भाष्यकारों ने भी किया है।

सांख्य दर्शन का प्रवक्ता प्रबल युक्ति के आधार पर अपने विषय का वर्णन करता है। जो लोग अपने मत-मतान्तरों की मान्यताओं के अनुकूल सांख्य की युक्ति को नहीं देखते, वे उसे अपने अनुकूल बनाने का यत्न करते रहे हैं। कुछ-एक ऐसे भी प्रक्षेपक हैं जो विभिन्न मतों की युक्तियों का अपनी युक्ति से प्रतिवाद करने में असमर्थ होने के कारण अपनी शिथिल युक्तियों को सांख्य दर्शन में डालने का यत्न कर गए हैं। इस प्रकार वे कपिल मुनि के कन्धों पर बैठकर अपनी बात कहने का यत्न कर गए हैं। उनको चाहिए था कि वह सब-कुछ अपने नाम से कहते और भविष्य में होने वाले विद्वानों को उससे लाभ उठाने का अवसर देते। अपने विचारों को कपिल के नाम से कहना उचित नहीं था।

अधिकांश भाष्यकारों ने पूर्ण प्रचलित (५२६ सूत्री) सांख्य दर्शन पर अपने भाष्य किए हैं। उन्होंने सब सूत्रों को सांख्य-प्रवक्ता कपिल का मानकर ही भाष्य किया है। हमने अपने विचारानुसार उनके भाष्य में भूल बताने का यत्न किया है। सम्भव है हमारी युक्ति और ज्ञान पाठकों को सत्य प्रतीत न हो। हम अपना मत उपस्थित कर, शेष उनके विचारों पर छोड़ते हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री और अन्य भाष्यकार सांख्य दर्शन को षड्-अध्यायी मानते हैं। परन्तु हमारा मत है कि सांख्य दर्शन छः अध्यायों में नहीं कहा गया। अतः हम तनिक उन भाष्यकारों की मान्यता पर अपने विचार लिखना चाहते हैं।

पूर्व इसके कि क्या सांख्य दर्शन षष्टितन्त्र है, इस पर अपने विचार लिखें, हम इतना स्मरण कराना आवश्यक समझते हैं कि 'तत्त्व-समास' के २२ सूत्र हम कपिल द्वारा कहे ही मानते हैं। इस बात में हम श्री उदयवीर शास्त्री से सर्वथा सहमत हैं कि ये २२ सूत्र सांख्य दर्शन का संक्षिप्त प्रारूप हैं। इनका विस्तार और विवेचन ही सांख्य दर्शन है।

पंचशिख के सूत्रों के विषय में हमारा मत है कि पंचशिख कपिल के बहुत बाद में हुआ है। वह आसुरि का शिष्य माना जाता है। परन्तु आसुरि भी कपिल का शिष्य वैसे ही हो सकता है, जैसे कोई भी कपिल के सिद्धान्त को माननेवाला वर्तमान युग का विद्वान् अपने को कपिल का शिष्य कह सकता है। जैसे ब्रह्मा के मानस पुत्र ब्रह्मा के मतानुयायी कहे जा सकते हैं, वैसे ही कपिल के शिष्य कपिल-सिद्धान्त को माननेवाले हैं। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक नहीं कि वे उसी युग में हुए हों जिसमें कपिल हुए थे।

विशेष रूप में, जब सृष्टि-रचना पर जैन एवं बौद्ध मत स्थिर हो गए तो सांख्यानुयाइयों को उनसे स्वयं को पृथक् मत रखनेवाला बताना आवश्यक था कि वे कपिल-अनुयायी हैं और उन्होंने अपने को कपिल का शिष्य माना। यही प्राचीन पद्धति प्रतीत होती है। परिवार के व्यक्ति को पुत्र कहे जाने की बात हम ऊपर कह आए हैं। मानस पुत्र की व्याख्या भी हमने की है। इसी प्रकार शिष्य का अभिप्राय विचार-पद्धति को माननेवाला समझना ठीक रहेगा।

सांख्य दर्शन में ५-३२ पर पंचशिख का उल्लेख मिलता है। परन्तु हम तो इस पूर्ण अध्याय को ही प्रक्षिप्त मानते हैं। एक बाहरी व्यक्ति (प्रक्षेपक) द्वारा पंचशिख की साक्षी देना समझ में आ सकता है, परन्तु एक लेखक की अपने पर-शिष्य की साक्षी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। लेखक अपने काल के अपने से असम्बन्धित आचार्यों की साक्षी तो दे सकता है, परन्तु अपने ही शिष्य की साक्षी देना समझ में नहीं आता। विशेष रूप में तब, जब दोनों के मतों में अन्तर न हो।

परन्तु इस अध्याय का प्रक्षिप्त होना तो अन्य कारणों से है। वे कारण हम भूमिका में लिख आए हैं और पाँचवें अध्याय में सूत्रों का भाष्य करते हुए भी लिखेंगे।

जैसे स्वामी शंकराचार्य से पूर्व-काल के लिखे ब्रह्मसूत्रों के भाष्य नहीं मिलते, वैसे ही सांख्य दर्शन के भाष्यकारों में पंचशिख से पहले का कोई भाष्य नहीं मिलता। विज्ञानभिक्षु तो बौद्धकालीन भाष्यकार प्रतीत होता है। ईश्वरकृष्ण गुप्त-काल का प्रतीत होता है। गुप्त-काल में ही कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानना आरम्भ हुआ था। गुप्त-काल से पहले अवतारवाद की मान्यता दिखाई नहीं देती। ईश्वरकृष्ण नाम महाभारत-काल से पीछे का है। यह नाम यही प्रकट करता है। इसके साथ ही ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं का विषय सांख्य दर्शन के प्रथम तीन अध्यायों तक ही सीमित रखा है। इससे यह प्रतीत होता है कि उसके काल से पहले यदि सांख्य को षड्-अध्यायी माना जाता था तो ईश्वरकृष्ण को वह स्वीकार नहीं था।

आसुरि, पंचशिख इत्यादि ईश्वरकृष्ण से पूर्व के आचार्य प्रतीत होते हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री का निम्न लेख विचारणीय है। आप अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' के १९५० में छपे संस्करण के पृष्ठ ७० पर लिखते हैं—

'उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्य का एक और ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जिसका नाम 'सांख्य प्रवचन सूत्र' अथवा 'सांख्य षडध्यायी' है। अनेक आधुनिक विद्वानों का विचार है कि इस ग्रन्थ के वास्तविक लेखक का अभी तक कुछ पता नहीं है। परन्तु यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे विशेष ग्रन्थ के, जो छः वैदिक दर्शनशास्त्रों में से एक मुख्य दर्शन माना जाता है, लेखक का आज तक पता न लग सका····।'

शास्त्री जी क्या लिख रहे हैं, यह समझ में न आनेवाली बात है। क्या 'सांख्य प्रवचन सूत्र' अथवा 'सांख्य षड्-अध्यायी' सांख्य दर्शन से भिन्न ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता?

किसी ने सांख्य पर अपनी पुस्तक लिखी है। वह छः अध्यायों में है और उसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका नाम 'सांख्य षड्-अध्यायी' रखा है। यही इससे सिद्ध होता है।

वह सांख्य दर्शन नहीं है। यह कब लिखी गई और किसने लिखी, विषयान्तर है।

कपिल सांख्य दर्शन का प्रणेता के रूप में स्मरण किया जाता है। रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ भी कपिल का नाम आता है, सांख्य दर्शन का उल्लेख भी आता है। परन्तु किसी भी वैदिक मतानुयायी ने सांख्य को षड्-अध्यायी कहकर नहीं लिखा।

यहाँ एक अन्य बात जिसे शास्त्री जी ने ग़लत-मलत कर दिया है, लिख देना उचित है। वह यह कि 'षष्टि तंत्र' और षडध्यायी को पर्यायवाचक मान लिया है। 'षष्टि तंत्र' का अर्थ है साठ पदार्थों का विवेचन करनेवाला ग्रन्थ। इसमें कितने अध्याय हैं, यह वर्णित नहीं है।

श्री शास्त्री जी स्वयं एक 'अहिर्बुध्न्य संहिता' के प्रमाण से यही बात कहते हैं। इस संहिता के दो श्लोक श्री शास्त्री जी ने अपने 'सांख्य दर्शन के इतिहास' ग्रन्थ (संस्करण १९५०) में पृष्ठ ७५ पर उद्धृत किए हैं। श्लोक इस प्रकार हैं—

सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ॥१८॥
षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुनेः।
प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१९॥

(१२-१८,१९)

इनके अर्थ शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं—

प्राचीन काल में विष्णु का संकल्प (रचना-सम्बन्धी) सांख्य-रूप से कपिल ऋषि के द्वारा जिस प्रकार प्रकट किया गया, वह सब मुझसे सुनो।

महामुनि (कपिल) के इस सांख्य शास्त्र में साठ पदार्थों का विवेचन होने से इसका नाम षष्टितंत्र कहा जाता है। संक्षेप में इसके दो भाग किए गए हैं—प्राकृत मण्डल और वैकृत मण्डल। हमारा प्रयोजन षष्टितन्त्र के अर्थ से है। यह षड्-अध्यायी नहीं है।

श्री शास्त्री जी ने आचार्य भास्कर-रचित ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य का प्रमाण भी दिया शब्द है। परन्तु वहाँ भी शब्द 'तन्त्र' का ही प्रयोग है, 'षड् अध्यायी' का नहीं।

षष्टितंत्र के छः अध्याय हैं अथवा तीन अध्याय हैं? हम इस विषय पर ही कह रहे हैं। श्री शास्त्री ने यत्र-तत्र जहाँ षष्टितन्त्र का उल्लेख किया है वहाँ अपने पास से षडध्यायी लिख दिया है। कोई ऐसा प्रमाण उनके पूर्ण वक्तव्य में हमें नहीं मिला, जिससे यह पता चले कि षष्टितंत्र के छः अध्याय हैं।

केवल एक प्रमाण ही श्री शास्त्री जी दे सके हैं। वह है ईश्वरकृष्ण की ७२वीं कारिका। वह कारिका इस प्रकार है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः, परवादविवर्जिताश्चेति ॥

अर्थ है—सत्तर कारिकाओं के इस ग्रन्थ में जो अर्थ प्रतिपादित किए गए हैं वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय से पूर्ण षष्टितन्त्र का भावार्थ हैं।

आख्यायिकाओं से रहित और परवाद को छोड़ दिया गया है। यह कारिका ईश्वरकृष्ण ने ही लिखी है, इस पर सन्देह किया गया है। सन्देह करनेवालों ने कारण यह दिया है कि—

(१) 'सप्तत्यां' शब्द ७२वीं कारिका को ग्रन्थ का भाग न मानने का संकेत करती है।

(२) यह आपत्ति शास्त्री जी को भी प्रतीत हुई। इसी कारण उन्होंने 'किल' शब्द का अर्थ 'निश्चय से' न करके 'लगभग' कर दिया है। शास्त्री जी ने 'लगभग' अर्थ करके ७१ और ७२वीं कारिका की ओर संकेत किया है।

(३) यदि ईश्वरकृष्ण ने आख्यायिका और परवाद के अध्यायों पर कारिकाएँ नहीं लिखीं तो क्यों नहीं लिखीं? यह विचारणीय है। क्या यह सम्भव नहीं कि उनको भी दर्शनशास्त्र के ये अंश अटपटे प्रतीत हुए हों और आचार्य कपिल की योग्यता से कम योग्यतावाले व्यक्ति द्वारा कहे गए प्रतीत हुए हों?

शास्त्री जी ने अपने इस लेख में असंगत बात इतनी अधिक डाल दी है कि मुख्य विषय उसमें विलुप्त ही हो गया है।

हम समझते हैं कि सत्तर कारिकाएँ तो ईश्वरकृष्ण की लिखी हुई हैं और अगली दोनों कारिकाएँ उनके किसी शिष्य ने लिखकर पुस्तक के साथ जोड़ दी हैं। वह शिष्य महोदय यह तो कह गए हैं कि आख्यायिकाओं और परवादों पर कारिकाएँ नहीं लिखी गईं। परन्तु क्यों नहीं लिखी गईं? यह उसने नहीं बताया, अथवा बताना नहीं चाहा।

शास्त्री जी ने इस बात पर बल दिया है कि बिना ७१वीं और ७२वीं कारिका के ग्रन्थ पूर्ण प्रतीत नहीं होता। यह युक्ति कुछ ऐसी ही है जैसे सांख्य दर्शन सूत्र १-१ से लेकर ३-८४ तक अथवा शास्त्री जी के मतानुसार १-१ से लेकर ६-७० तक कहीं भी नहीं कहा गया कि इसके प्रवक्ता कपिल मुनि हैं, अतः इससे सांख्य दर्शन कपिल का लिखा हुआ नहीं माना जाएगा।

श्री शास्त्री जी अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' के षडध्यायी-सम्बन्धी लेख में बार-बार यह लिखते हैं कि 'यह निश्चय ही है कि षष्टितन्त्र ही षडध्यायी है।' यह कैसे? ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में जिस ग्रन्थ का संकेत किया है क्या वह वर्तमान सांख्य दर्शन तीन अध्याय तक ही नहीं है? इसी का प्राचीन नाम षष्टितंत्र हो सकता है। 'षडध्यायी' शब्द अकारण बीच में डाल दिया है।

परन्तु यह कहीं सिद्ध नहीं है। ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में केवल प्रथम तीन अध्यायों का संक्षेप है। शास्त्री जी ने बहुत परिश्रम से ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की तुलना सांख्य दर्शन के सूत्रों से की है, परन्तु ६८वीं कारिका पर सांख्य-सूत्र ३-८४ आता है। आगे कुछ नहीं।

वास्तव में सांख्य दर्शन का भाव तो ६८ कारिकाओं में ही है।

६९वीं कारिका इस प्रकार है—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्॥ (ई० का० ६९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ है—

यह पुरुषार्थ ज्ञान है, रहस्यमय है, परमर्षि (कपिल मुनि) द्वारा भली प्रकार कहा गया है। यहाँ कार्य-जगत् की स्थिति, उत्पत्ति, प्रलय पर विचार किया गया है।

यह कारिका सांख्य दर्शन की स्तुति में लिखी गई है। इसी प्रकार ७० वीं कारिका इस प्रकार है—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्॥

(ई० का० ७०)

इसका अर्थ है—

इस पवित्र श्रेष्ठ (ज्ञान) को मुनि ने कृपा कर आसुरि को और आसुरि ने पंचशिख के लिए दिया और उसने इस तन्त्र की व्याख्या की है।

ये दोनों कारिकाएँ ईश्वरकृष्ण की ही लिखी प्रतीत होती हैं। यद्यपि ये कारिकाएँ सांख्य विषय पर नहीं हैं, परन्तु जिनसे ईश्वरकृष्ण ने सांख्य का ज्ञान प्राप्त किया, उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए हैं।

इनके आगे की कारिकाएँ भी ईश्वरकृष्ण के किसी शिष्य की लिखी प्रतीत होती हैं। उसने ईश्वरकृष्ण की स्तुति गान की है।

७१ वीं कारिका इस प्रकार है—

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन, चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥७१॥

और ७२ वीं कारिका है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः, परवादविवर्जिताश्चेति॥७२॥

इनका अर्थ है—

शिष्य-परम्परा से प्राप्त आर्यमति ईश्वरकृष्ण ने अच्छी प्रकार सिद्धान्त को समझकर आर्या छन्दों में संक्षेप करके लिखा है।

निश्चय से सत्तर कारिका सम्पूर्ण षष्टितन्त्र में वर्णित अर्थ को वैसा ही कहती है, आख्यायिका के बिना और परवाद भी छोड़कर।

स्पष्ट है कि ये दो कारिकाएँ (७१, ७२) ईश्वरकृष्ण की लिखी नहीं। ये उनके ग्रन्थ का प्रचार करनेवाले के द्वारा लिखी गई हैं। जैसे कोई लेखक पुस्तक लिखता है और प्रकाशक उस लेखक का परिचय देता है।

प्रश्न केवल यह रह जाता है कि आख्यायिका और परवाद क्यों नहीं दिए? ईश्वरकृष्ण ने स्वयं तो कुछ कहा नहीं। उनके किसी शिष्य ने यह कहा है कि वर्तमान सांख्य दर्शन के पिछले तीन अध्यायों को छोड़ दिया है। क्यों? यह वह शिष्य नहीं बता सका।

आख्यायिकाएँ और परवाद छोड़ देने का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। सांख्य दर्शन के पहले, दूसरे और तीसरे अध्याय में भी तो आख्यायिका और परवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदाचित् ईश्वरकृष्ण ने उनको ही अपने संक्षिप्त विवरण में छोड़ा है। और ७१वीं तथा ७२वीं कारिका लिखनेवाले का अभिप्राय उनको छोड़ देने से है।

आख्यायिका और परवाद दर्शनशास्त्र के उन अध्यायों में भी हैं जिनको हम कपिल मुनि के कहते हैं। उदाहरण के रूप में सूत्र १-१०, १-८४, १-९६ और १-९९ इत्यादि में किसी-न-किसी प्रकार की आख्यायिका का संकेत है। यह वैसी ही है, जैसी सूत्र ४-२४, ४-२६, ४-२७ इत्यादि में है।

परवाद के भी उदाहरण पहले, दूसरे और तीसरे अध्यायों में मिलते हैं। उदाहरण के रूप में सूत्र १-१११ तथा १-११३ में परवाद हैं और उनके उत्तर कपिल मुनि ने सूत्र १-११२ और १-११४ में दिए हैं।

यहाँ इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि ईश्वरकृष्ण की कारिका ८ में सूत्र १-१११ और १-११३ का उल्लेख नहीं है। इन परवादों का उत्तर ही है। अभिप्राय यह कि परवाद छोड़ दिए हैं। ऐसा क्यों किया गया, यह स्पष्ट नहीं है।

षष्टितन्त्र ही षडध्यायी है। इसका प्रमाण ईश्वरकृष्ण की ७२वीं कारिका नहीं। यदि यह कारिका यह कहती है कि ईश्वरकृष्ण की सप्तति में आख्यायिकाएँ और परवाद के अध्याय नहीं हैं तो इसलिए कि वे षष्टितन्त्र का भाग नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त श्री शास्त्री जी ने एक दूसरा प्रमाण अपने 'सांख्य का इतिहास' पुस्तक में दिया है। इससे वह समझते हैं कि उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि षष्टितन्त्र में छः अध्याय हैं।

हम शास्त्री जी का पूर्ण लेखांश, जो उन्होंने इस सम्बन्ध में दिया है, यहाँ उद्धृत कर देना चाहते हैं जिससे पता चले कि शास्त्री जी की युक्ति का आधार क्या है। आप लिखते हैं[1]—

'उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरी युक्ति इस प्रकार उपस्थित की जाती है। सांख्य के एक प्राचीन आचार्य देवल के किसी ग्रन्थ का एक लम्बा सांख्य-सम्बन्धी सन्दर्भ, याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य-विरचित टीका अपरार्का (प्रायश्चित्ताध्याय, १०९) में उपलब्ध होता है। वहाँ पर, जिन ग्रन्थों के आधार पर देवल ने सांख्य-सिद्धान्तों का संक्षेप किया है, उनका नाम 'तन्त्र' लिखा है। यह 'तन्त्र' पद हमारा ध्यान 'षष्टितन्त्र' की ओर आकर्षित करता है। हम देखते हैं कि देवल के उस संदर्भ में षडध्यायी के अनेक सूत्र विद्यमान हैं। जिन पंक्तियों की आनुपूर्वी सूत्रों से नहीं मिलती, उनमें भी आशय सब सूत्रों के अनुसार ही हैं। देवल स्वयं लिखता है—जो पूर्व-प्रणीत गम्भीर 'तन्त्र' है, उन्हीं को संक्षेप में यहाँ लिखता हूँ। और उसके उस सन्दर्भ के साथ, शब्द तथा अर्थ की अत्यधिक समानता षडध्यायी सूत्रों के साथ हम पाते हैं। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि देवल ने जिस ग्रन्थ के आधार पर सांख्य-सिद्धान्तों का संक्षेप किया है, वह सांख्य षडध्यायी ही हो सकता है। उसका नाम देवल ने 'तन्त्र' लिखा है।'

---

१. सांख्य-दर्शन का इतिहास (१९५०), पृ ०१४४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस लेख में कितनी ही मिथ्या धारणाएँ हैं। जैसे—

(१) देवल कब हुआ? शास्त्री जी ने लिख दिया कि बहुत प्राचीन आचार्य हैं। दो देवल ऋषि विख्यात हुए हैं। एक तो याज्ञवल्क्य से भी पूर्वकाल के हैं और उनका वेदों पर व्याख्यान का संकेत मिलता है। दूसरे, मुसलमानी काल से कुछ पूर्व हुए हैं। सम्भवतः यही देवल हैं जिनके किसी ग्रन्थ का सांख्य-सम्बन्धी सन्दर्भ (यहाँ ग्रन्थ का न नाम, न तिथि और न पाठ है।) याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य-विरचित टीका अपरार्का में दिया है। अर्वाचीन लेखक के किसी ग्रन्थ की अर्वाचीन टीका का उद्धरण, यह है प्रमाण श्री शास्त्री जी का।

(२) प्रमाण में भी षडध्यायी का नाम नहीं, तन्त्र शब्द है। तन्त्र से षष्टितन्त्र और षष्टितन्त्र से षडध्यायी—इस प्रकार शास्त्री जी ने अप्रमाणित छलाँगें लगाई हैं। तन्त्र से अभिप्राय सांख्य दर्शन हो सकता है, परन्तु षष्टितन्त्र कैसे? और उस षष्टितन्त्र के छः अध्याय हैं, यह कैसे सिद्ध किया गया है? अथवा किस आचार्य ने ऐसा कहा है कि षष्टतन्त्र के छः अध्याय हैं?

(३) उस संदिग्ध (जिसका नाम, पाठ इत्यादि न हो) ग्रन्थ का संक्षेप लिखा गया है। जिसका संक्षेप लिखा गया है, क्या उसके छः अध्याय हैं? ऐसा कहाँ लिखा है?

(४) यदि शास्त्री जी पाँचवें तथा छठे अध्याय के किसी ऐसे सूत्र का, जिसका पहले तीन अध्यायों में उल्लेख न हो, इस तथा किसी संक्षेप में उद्धृत हुआ बताते तो हम मान जाते कि ये सांख्य के छः अध्यायों में हैं। श्री शास्त्री जी ने तन्त्र को षष्टितन्त्र और इसे षडध्यायी बताने में इतना कुछ लिखा है, परन्तु उसमें एक शब्द भी ऐसा नहीं दिया जो यह प्रमाणित करे कि तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र के छः अध्याय हैं। न ही चौथे, पाँचवें और छठे अध्याय का कोई ऐसा सूत्र जो प्रथम तीन अध्यायों से विलक्षण हो, इन उद्धरणों में लिखा कहीं बताया है।

उक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त एक तीसरी युक्ति श्री शास्त्री जी इस बात को सिद्ध करने के लिए देते हैं कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में वर्तमान सांख्य की आख्यायिकाओं का वर्णन है।

ईश्वरकृष्ण की कारिका २१ में यह कहा है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं, कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

अर्थ है—पुरुष के दर्शन के लिए तथा प्रधान का कैवल्य के लिए (संयोग) होता है जैसे पंगु का अन्धे के साथ हो।

परन्तु इससे षष्टितन्त्र और षडध्यायी का एक ही ग्रन्थ होना कैसे सिद्ध हो गया?

शास्त्री जी का लेख 'षष्टितन्त्र अथवा षडध्यायी' इनकी पुस्तक 'सांख्य का इतिहास' में पृष्ठ १०४ से आरम्भ होकर १७३ तक चलता है। इसमें बहुत प्रमाण और बहुत-सी बातें कही हैं, परन्तु मुख्य बात कि षष्टितन्त्र और षडध्यायी पर्यायवाचक हैं, यह सिद्ध नहीं हो सका।

इस सन्दर्भ में शास्त्री जी ने एक भी प्रमाण ऐसा नहीं दिया जिससे यह सिद्ध हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि षष्टितन्त्र ही सांख्यतन्त्र है और सांख्यतन्त्र छः अध्यायों में है।

षष्टितन्त्र

हमारे विचार में षष्टितन्त्र का विषय सांख्य से पृथक् है। यह एक अन्य ग्रन्थ है जिसका उल्लेख अहिर्बुध्न्य संहिता में मिलता है।

अन्य भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने सांख्य दर्शन का केवल तन्त्र के रूप में वर्णन किया है। षष्टितन्त्र शब्द केवल अहिर्बुध्न्य संहिता में ही मिलता है।

शास्त्री जी ने विपुल प्रयत्न करके इस संहिता में दिए साठ तन्त्रों (विषयों) की तालिका दी है, परन्तु वह अनेक स्थानों पर सांख्य दर्शन से मेल नहीं खाती।

अहिर्बुध्न्य संहिता के तन्त्रों का निरीक्षण किया जाए तो पता चलेगा कि प्राकृत मण्डल में जो ३२ तन्त्र लिखे हैं, वे इन्द्रियादि पंचभूत का वर्णन अवश्य करते हैं। परन्तु क्या जिस भी ग्रन्थ में इन्द्रियों और पंचभूतों का वर्णन होता है, वह सांख्य दर्शन हो गया?

अहिर्बुध्न्य संहिता और सांख्य दर्शन में भी समानता नहीं है। जैसे शास्त्री जी ने षष्टितन्त्र से सांख्य दर्शन को स्वीकार किया है, वैसा कुछ अन्य आचार्यों ने भी किया है और उन्होंने सांख्य दर्शन में साठ पदार्थों का वर्णन इस प्रकार किया है—

१. विपर्यय	५
२. तुष्टि	९
३. सिद्धि	८
४. अशक्ति	२८
५. मालिकार्थ	१०

यह भी सांख्य दर्शन के तीसरे अध्याय के ३-३७ सूत्र से ३-४४ तक की व्याख्या है।

इसमें मालिकार्थ १० मिलाकर शेष पूर्ण सांख्य दर्शन को इसमें समेटने का यत्न किया गया है। परन्तु ऐसा है नहीं।

यह सब भाष्यकारों की कल्पना-मात्र है। कपिल मुनि ने इनका उल्लेख केवल पूर्वोक्त आठ सूत्रों में ही किया है और शेष २५० सूत्र तो इनसे बाहर हैं।

मध्यकालीन आचार्यों का प्रवहन यह रहा है कि प्रत्येक वर्णन को अध्यात्म का रूप देते रहे हैं। यही अहिर्बुध्न्य संहिता में भी हुआ है।

अतः हमारा मत है कि सांख्य दर्शन की सूत्र-संख्या इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय में सूत्र-संख्या १-१७ तथा १-१९ से १-५४ तक प्रक्षिप्त हैं।

प्रथम अध्याय में कुल	१२७ सूत्र
दूसरे अध्याय में कुल	४७ सूत्र
तीसरे अध्याय में कुल	८४ सूत्र
कुल—२५८ सूत्र	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य वेदमूलक

सांख्य दर्शन पर बहुत-से विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं। हमने उनकी ओर कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया। वर्तमान युग के भाष्यकारों में भी श्री उदयवीर शास्त्री और आचार्य ब्रह्ममुनि के भाष्य की ओर ही प्रायः संकेत किया है। वह इसलिए कि मतभेद पर अपना मत उनके मत के प्रकाश में बताया जा सके।

प्रस्तुत भाष्य सांख्य-सिद्धान्त (सांख्य मीमांसा) पर नहीं लिखा जा रहा है। हमारा मुख्य विषय कपिल का सांख्य दर्शन ही है और हमने अपना पूर्ण ध्यान इस ओर लगाने का यत्न किया है।

यह काम तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों का है कि वे सब भाष्यों की छानबीन करें। हाँ, हमने यह समझते हुए कि कपिल के सांख्य दर्शन का मूल वेद में है, इस कारण वेद के साथ कुछ थोड़ी तुलना करने का यत्न किया है।

हमारा यह मत है कि जब से मनुष्य ने जगत् को देखा है, यह उसके अध्ययन का विषय बना हुआ है। यह आज तक भी एक रहस्य बना चला आता है। इस रहस्य को अनावृत करने की कुंजी वेद में है। यही प्रतीत होता है कि उस कुंजी से ही कपिल मुनि ने इस रहस्य को खोलकर सांख्य दर्शन में लिखा है।

वेदों में सांख्य रहस्य

कपिल मुनि ने जो कुछ लिखा है इसको यदि बहुत ही संक्षेप में कहा जाए तो वह इस प्रकार है—

(१) जगत् की रचना से पूर्व क्या था और कैसे रचना प्रारम्भ हुई?

(२) रचना आरम्भ करनेवाला कौन था?

(३) रचना-क्रम क्या था?

(४) जगत्-रचना में प्राणी की रचना सर्वोत्कृष्ट कार्य है।

(५) प्राणी क्या है?

(६) जड़ से प्राणी भिन्न है। भिन्नता चेतना की है। चेतना मन, बुद्धि और इन्द्रियों से प्रकट होती है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि प्रकृति के रूप हैं और प्रकृति स्वतः कार्य नहीं कर सकती।

(७) प्राणी में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर से अतिरिक्त जीवात्मा है। यह शरीर की क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। अतः शरीर के कर्मों का यह उत्तरदायी है।

(८) अधर्मयुक्त कर्मों का फल दुःख होता है और धर्मयुक्त कर्मों का फल सुख होता है।

(९) जीवात्मा संसार में सर्वत्र व्याप्त शक्ति का प्रयोग ही करता है। यह शक्ति जब इन्द्रियों में कार्य करती है तो प्राण कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ऊर्जा) संसार में व्याप्त है और जीवात्मा उसका प्रयोग करता है। कुछ विद्वान् पुरुष जगत् में कार्य करनेवाली शक्ति को प्राण भी कहते हैं। उनके कथन का आधार अथर्ववेद है।

(१०) जीवात्मा नित्य है। वह विनाश को प्राप्त नहीं होता। यह जन्म-मरण के बन्धन में फँसा रहता है। इस बन्धन से इसकी मुक्ति या तो तब होती है जब इसे विवेक प्राप्त होता है अथवा जब प्रलय होती है। तब पूर्ण जगत् परमाणुभूत हो जाता है। प्रलय-काल में यह निष्क्रिय हो जाता है। वह इसकी सुषुप्ति अवस्था कहलाती है; और जब इसे विवेक होता है तो यह इसकी मुक्तावस्था होती है। उस समय यह सक्रिय होता है।

(११) निम्नतम प्राणी 'एककोषाणु वनस्पति जीव' से लेकर सर्वोत्कृष्ट प्राणी मनुष्य तक एक क्रम है। निम्न स्तर से ऊँचे प्रकार के शरीर में जाने को उत्क्रमण कहते हैं और ऊँची प्रकार के प्राणी से नीचे की योनि में जाने को अवक्रमण कहते हैं। यह कर्म-फलों के कारण ही होता है। जीवात्मा कर्म करता है और उसका प्रत्येक कर्म फल देनेवाला होता है जो उसको ऊपर अथवा नीचे ले जाता है। ऊपर का अन्तिम शिखर ब्रह्मलोक (मुक्तावस्था) है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ, कर्म-फलों से धकेला हुआ एक योनि से दूसरी योनि में जाता है। ब्रह्मलोक में जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के बिना जाता है और प्रलय-काल में भी यह सूक्ष्म शरीर से रहित हो जाता है। अन्यथा यह सदा इस शरीर से लिपटा हुआ विचरता है।

(१२) मुक्तावस्था विवेक से प्राप्त होती है। प्रकृति-पुरुष में भेद के यथार्थ ज्ञान और उस ज्ञान के अनुसार व्यवहार को विवेक कहते हैं। यह त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का सूचक है। इसे परमानन्द की अवस्था भी कहते हैं।

इन सब विचारों का मूल वेद है। उसकी कुछ झलक हम नीचे दे रहे हैं। वेद में इस विषय पर बहुत-कुछ है, परन्तु उस सब के लिए न तो यहाँ स्थान है और न ही हमारी इतनी सामर्थ्य है।

रचनापूर्व की अवस्था

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

(ऋ०, १०-१२९-१,२)

पदार्थ—(तदानीम्) तब अर्थात् आदि में, जगत्-रचना से पहले। (परो यत्) जो दूर तक अन्तरिक्ष में (न असत् आसीत्) कुछ भी अमूर्त नहीं था। (न सत् आसीत्) न ही मूर्त था। (न रजः आसीत्) छोटे-छोटे लोक अर्थात् नक्षत्र भी नहीं थे। (नो व्योमा) आकाश नहीं था।

(किम् आ अवरीवः) क्या था चारों ओर से घेरे हुए? (कुह कस्य शर्मन्) कहाँ किसका आश्रय था? (किम् आसीत् गहनं गभीरम्) क्या था यह गहन और गम्भीर? ॥१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(न मृत्युः आसीत् न अमृतम् तर्हि) तब न टूट-फूट हो रही थी और न कुछ स्थिर था। (न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः) न रात और न दिन का चिह्न था।

(आनीत् अवातम्) अगतिशील वायु (प्राण) था। (तत् एकम्) वहाँ एक वस्तु ही थी। (स्वधया) अपने-आप स्थिर रहनेवाली अर्थात् प्रकृति (तस्मात्) उससे (अन्यत्) दूसरा (परः न अस) अधिक सूक्ष्म न था ॥२॥

जगत्-रचना से पूर्व की यह अवस्था वेद में वर्णन की गई है। इस समय स्वधा अपने बल से विद्यमान तथा (आनीत् अवात्) निश्चल प्राण था।

यह निश्चल प्राण क्या था? इस विषय में कहा है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋ० १-१-१)

अर्थात्—(अग्निम्) शक्ति (ऊर्जा) इसे ऋ० १०-१२९-२ में आनीत् कहा है। (पुरोहितम्) रचना से पूर्व स्थापित (यज्ञस्य) रचना-कार्य का (देवम्) देने वाला। (ऋत्विजम्) रचना-कार्य करने में समर्थ।

(होतारं रत्नधातमम्) धन, सुख-सम्पदा धारण करनेवाले। (ईळे) उसकी स्तुति करो, अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त करो।

कपिल ने तत्कालीन अवस्था का वर्णन किया है 'साम्यावस्था प्रकृति' (सांख्य १-६१)।

इसके उपरान्त रचना-कार्य आरम्भ हुआ। इस विषय में वेद में इस प्रकार का वर्णन है—

तम आसीत् तमसा गूळहमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान् आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

(ऋ० १०-१२९-३,४,५)

अर्थात्—(तम् आसीत् तमसा गूळहम् अग्रे) अन्धकार से घिरा हुआ था रचना से पहले। (अप्रकेतम्) न जानने योग्य। (सलिलम्) द्रव्यमान अर्थात् बहनेवाला। (सर्वमा' इदम्) यह सर्वत्र था। (तुच्छ्येन) अति सूक्ष्म से। (आभु अपिहितम्) चारों ओर से ढका हुआ। (यत् आसीत्) जो था। (तत्) वह (तपसः महिना) वह महान् तप की सामर्थ्य से। (अजायत् एकम्) एक उत्पन्न हुआ।

सृष्टि-रचना से पूर्व उस 'तमोभूतम् सलिलम् अप्रकेतम् स्वधा' के साथ स्थित एक तपस की सामर्थ्यवाला उत्पन्न हुआ ॥३॥

यह क्यों उत्पन्न हुआ?

(तत् अग्रे) वह पहले (कामः सम अधि अवर्तत्) काम अर्थात् कामना, इच्छा भली प्रकार उत्पन्न हुई। (मनसः रेतः) मन में बीजरूप में (प्रथमम् यत् आसीत्) जो पहला था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सतः बन्धुम् असति निर् अविन्दन्) स्वरूप में बँधा हुआ प्राप्त किया। (हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा) परमात्मा जो महान् मनीषा है, उसके हृदय से।

अभिप्राय यह है कि रचना के समय सबसे प्रथम परमात्मा के हृदय में कामना उत्पन्न हुई जो बीजरूप बन गई और उससे 'अप्रकेतं' चिह्नहीन प्रकृति स्वरूपवान् होने लगी। कैसे ?

(तिरश्चीनः विततः) तिरछी चलनेवाली रश्मियाँ दूर-दूर तक फैल गईं। (रश्मि एषाम् अधः स्वित् आसीत्) तेज की रश्मियाँ नीचे और ऊपर ठहर गईं। (रेतः धाः आसन्) यह बीजरूप बन गया। (महिमान आसन्) बहुत बड़ी शक्तिवाला था। (अवस्तात् स्वधा परस्तात् प्रयतिः) प्रकृति के ऊपर और नीचे छा गया।

इस तेज ने प्रकृति के ऊपर और नीचे जाकर क्या किया ? वेद में एक अन्य स्थान पर कहा है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

(ऋ० १-१६३-१)

(श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू) बाज के पंखों तथा हिरण की बाहों के समान, वेगगामी। (अर्वन्) तीव्र गति से चलनेवाला तेज। (उत् यन् समुद्रात्) समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष से ऊपर को जाता हुआ। (यत् अक्रन्दः) जिससे घोर शब्द हुआ। (प्रथमम् जायमान) पहले उत्पन्न होता हुआ। (उत वा पुरीषात्) अथवा सब कामना पूर्ण करने वाला। (ते महि जातम् उपस्तुत्यम्) वह महान् उत्पन्न हुआ स्तुति अर्थात् मनन और चिन्तन करने योग्य है।

इसका अभिप्राय है कि सबसे पहले महान् गति वाला महान् तेज उत्पन्न हुआ। आगे कहा है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ *(ऋ० १-१६३-२)*

(त्रित यमेन दत्तम् आयुनक्) यम द्वारा दी हुई इस अर्थात् शक्ति को त्रित ने जोता। (एनम् प्रथमः इन्द्र अधि अतिष्ठत्) पहले इन्द्र ने इसको अधिष्ठित किया, अर्थात् परमात्मा उस संगठित त्रित पर अधिष्ठित हो गया। (गन्धर्वः अस्य सूरात् रशनाम् अगृभ्णात्) शान्त (त्रित) ने उसकी सूर्य की रश्मियों के समान लगामों को ग्रहण किया। (सूरात् वसवः अश्वम् निरतष्ट) उस अश्व की रश्मियों को थामा।

यम का अभिप्राय नियंत्रण में रखनेवाला परमात्मा है। त्रित का अर्थ है परमाणु में स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् तीन का गुट्ट। इसे परमाणु भी कहते हैं। त्रित जो परमात्मा की यमन करनेवाली शक्ति से दिया हुआ अर्थात् बँधा हुआ है, उस शक्ति से उसको जीता। उसका इन्द्र अर्थात् परमात्मा पहले अधिष्ठाता बन गया। इसके आगे कहा है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥

(ऋ० १-१६३-३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यमः असि) तू यम है। (आदित्यः असि) तू प्रकाश है। (अर्वन् असि) तू तेज गति वाला है। (त्रितः गुह्येन व्रतेन) त्रित गुप्त गठनवाले से।

(सोमेन समया विपृक्त असि) शान्त अर्थात् साम्यवस्था में समीप-समीप और एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् तू है। (आहुः ते त्रीणि दिवि बन्धनानि) तीन दिव्य गुणों में उत्पन्न किए कहे जाते हैं।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि ऊपर के मन्त्र में वर्णित गठित त्रित पर परमात्मा अधिष्ठित हो गया, वह यमन करनेवाली और प्रकाशमान् शक्ति और तेज़ गतिवाली तेज़ शक्ति के साथ उपस्थित था। साथ ही सत्त्व, रजस् और तमस् तीन से गठित परमाणु था। वह परमाणु साम्यावस्था में साथ-साथ, परन्तु पृथक्-पृथक् थे। इन सबसे अर्थात् परमात्मा के तेज से, त्रित को गठित करनेवाली शक्ति से तीन दिव्य गुणयुक्त, अर्थात् तीन अहंकार उत्पन्न हुए।

आगे कहा है—

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥

(ऋ० १-१६३-४)

(अन्तः इति समुद्रे) उस समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में। (आहुः तः त्रीणि दिवि) कहा जाता है कि वे दिव्य तीन अर्थात् अहंकार। (बन्धनानि त्रीणि अप्सु) बनने पर तीन अपः में हुए।

(उत-इव मे वरुणः छन्त्सि यत्र अर्वन्) इसी प्रकार जहाँ मेरे पवित्र उच्चारण करता तू अर्वन् है। (आहुः ते परमम् जनित्रम्) वहाँ परम अर्थात् जगत् उत्पन्न किया कहते हैं। (देखो श्वेताश्वतर० १-७)

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः॥

(ऋ० १-१६३-५)

(इमा) वह जो ऊपर कहा गया है। (ते वाजिन्) वे अश्व अर्थात् वे तीन जो अपः में उत्पन्न हुए थे। (अवमार्जनानी) शुद्ध करने के लिए हैं। (इमा) वे तीनों (शफानाम् सनितुः निधाना) संचार-स्थान पर रहते हुए अच्छी प्रकार पदार्थों की स्थापना करते हैं।

(अत्रा ते भद्राः) वे कल्याण करनेवाले। (रशनाः) रस [भोग] देनेवाले। (अपश्यम्) देखा है। (ऋतस्य याः अभिरक्षन्ति गोपाः) [कि वे] पालक नियम की रक्षा करते हैं।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अहंकार अपने स्थान पर रहते हुए रचना-कार्य करते हैं। वे रचना-कार्य कल्याणकारी और रसयुक्त है। इन्हीं (अहंकारों) के द्वारा प्रकृति के नियमों का पालन होता है।

ऋग्वेद (१-१६३) का विषय है 'अश्वोऽग्निः' अर्थात् रचना-कार्य करनेवाली शक्ति। इस सूक्त में बहुत ही स्पष्ट रूप में सांख्य के सिद्धान्त का वर्णन किया है। वेद में कहा है कि वह अग्नि परमात्मा का तेज है जो परमाणुओं की साम्यावस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग कर अहंकारों का निर्माण करता है और अहंकारों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् के सब पदार्थों की रचना होती है।

प्राणी-सृष्टि के विषय में भी भली-भाँति वर्णन किया है। एक वेदमन्त्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम्॥

(ऋ० १-१६४-१)

अर्थात्—(अस्य वामस्य पलितस्य) इस सुन्दर क्षरित होनेवाले [शरीर] का (होतुः तस्य भ्राता) उस अर्थात् सुन्दर इत्यादि का, जो यज्ञ का पालन करनेवाला है, उसका भाई, अभिप्राय यह कि सहयोगी। (मध्यमो) बीच में स्थित। (अस्त्यश्नः) भोगशील है।

(तृतीयः भ्राता) तीसरा सहयोगी। (घृतपृष्ठः) अत्यन्त तेजोमय। (विश्वपतिम्) पालन करनेवाले को। (अस्य अत्र) इसे यहाँ। (अपश्यम्) देखा। (सप्त पुत्रम्) और सात पुत्रोंवाले को।

यह एक प्राणी का चित्र है, जो सुन्दर वृद्ध होनेवाले शरीरवाला है। उसके बीच भोग करनेवाला आत्मा है और तीसरा अनादि तत्त्व परमात्मा है, जो अत्यन्त तेजोमय है और सबका पालन करनेवाला है और सात पुत्रों (प्राण) वाला है।

प्राण के विषय में अथर्ववेद में कहा है—

....यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० ११-४-१)

अथर्ववेद ग्यारहवें काण्ड के चौथे सूक्त का देवता अर्थात् वर्णित विषय प्राण है। इसका अर्थ है—

(यस्य सर्वम् इदम् वशे) यह सब [जगत्] जिसके वश में है। (यः भूतः सर्वस्य ईश्वरः) जो सदा विद्यमान रहता है और जो सबका ईश्वर है। (यस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम्) जिसमें सब-कुछ प्रतिष्ठित है।

अभिप्राय यह कि प्राण परमेश्वर स्वयं है और उसके सात पुत्र हैं। पुत्र पिता के कार्य को आगे ले-जाने के लिए होता है। यह कार्य ईश्वर के लिए प्राण करता है। इस कारण यह ईश्वर का पुत्र कहलाता है। जब प्राण प्राणी के शरीर में कार्य करता है तो यह सात प्रकार से कार्य करता है। इस कारण इनकी गणना सात की गई है। सात में से पाँच ज्ञानेन्द्रियों में, एक कर्मेन्द्रियों में और सातवाँ हृदय इत्यादि नाड़ियों में कार्य करता है।

एक अन्य मन्त्र है—

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥

(ऋ० १०-१७७-१)

अर्थात्—(असुरस्य मायया) प्राण-दाता परमेश्वर की कुशल रचना-शक्ति से (अक्तम्) व्यक्तमभिव्यक्तम् अर्थात् शरीर के संयोग से प्रकट होनेवाले को। (पतङ्गम्) जीवात्मा को। (हृदा पश्यन्ति) प्राणी के हृदय से देखते हैं। (मनसा विपश्चितः) ज्ञानी लोग मन से देखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्ष के बीच में। (कवयो वि चक्षते) विद्वान् लोग विशेष रूप से देखते हैं। (मरीचीनाम् पदम्) ज्ञान की रश्मियों से युक्त (इच्छन्ति वेधसः) जैसे सूर्य अपनी रश्मियों से प्रकाशित करता है वैसे ही वे विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते हैं।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग इस शरीर में जीवात्मा को देखते हैं। वह जीवात्मा ज्ञान की इच्छा करता हुआ अन्तरिक्ष में परमात्मा तक पहुँचने का यत्न करता है।

यह स्पष्ट ही है कि वेद में बीज-मात्र उपस्थित ज्ञान को लेकर कपिल मुनि ने सांख्य दर्शन में उसका विस्तार किया है।

—*गुरुदत्त*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय का सारांश

१. त्रिविध-दुःख-निवृत्ति अधिकरण (सूत्र १ से ६)

संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। यदि ये दुःख मिट जाएँ तो महान् कल्याण हो जाता है। इस विचार से ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। ग्रन्थ के रचयिता महर्षि कपिल ने आरम्भ में कहा है कि अब तीन प्रकार के दुःखों के निवारण का वर्णन करेंगे।

यत्न करने पर कभी दुःख मिट जाता है; परन्तु देखा जाता है कि वह अथवा कोई अन्य दुःख पुनः आ घेरता है। इस कारण सामान्य उपायों से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए विशेष उपायों की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में भूख लगने पर खाना खा लेने से भूख मिट जाती है, परन्तु कुछ ही देर बाद पुनः भूख लगने लगती है। इसी प्रकार अन्य दुःखों की भी बात है।

इस कारण योग्य विद्वान् यह कहते हैं कि दुःखों के निवारण के लिए हीन उपाय प्रयोग में लाने से कुछ लाभ नहीं होगा। हीन उपायों से सूत्रधार का अभिप्राय है अधर्मयुक्त उपाय। यह पता करना चाहिए कि कौन उपाय दुःखों की निवृत्ति के लिए उचित हैं।

मोक्षावस्था में भी दुःखों से छुटकारा मिलता है। उस अवस्था में दुःखों से छुटकारा उत्कृष्ट होता है, अर्थात् उसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति कहा जा सकता है। इस पर भी दुःखों की निवृत्ति के उपायों में अन्तर नहीं। मोक्ष प्राप्त कर दुःखों से छुटकारा पाने में और संसार में रहते हुए दुःखों से छुटकारा पाने में, कोई विशेषता नहीं।

जिस ढंग से इस संसार में रहते हुए दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षावस्था के लिए भी छुटकारा पाया जा सकता है।

२. स्वभाव तथा बन्ध अधिकरण (सूत्र ७ से १७ तथा १९)

बन्ध से अभिप्राय है सांसारिक वासनाओं में लिप्त होना। जो व्यक्ति स्वभाव से संसार के भोगों में लिप्त है, उसके लिए मोक्ष का उपदेश निरर्थक है। अभिप्राय यह है कि पहले स्वभाव बदलना चाहिए, तदनन्तर मोक्ष-प्राप्ति का उपदेश लाभ कर सकता है। स्वभाव बदलना अति कठिन है। जिसको संसार के विषयों की चटक लग जाती है, उसे चटक से मुक्त कराने के लिए सामान्य उपाय सफल नहीं होते।

अशक्य, अर्थात् जिसका प्रभाव न हो सके, ऐसा उपदेश भी व्यर्थ होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पात्र को ही उपदेश करना चाहिए। पहले स्वभाव बदला जाए, तदनन्तर मोक्ष-प्राप्ति का उपदेश किया जाए तो ठीक है। उपदेश के लिए व्यक्ति का मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेत वस्त्र की भाँति अथवा बीज की भाँति होना चाहिए, तब ही उपदेश का रंग चढ़ेगा, अन्यथा नहीं। अच्छे बीज को अच्छी खाद मिले, तभी वृक्ष अच्छा बनेगा।

वस्त्र श्वेत मिल गया और बीज भी उपलब्ध हो गया, तब भी कपड़े पर रंग चढ़ेगा ही—यह नहीं कहा जा सकता। अलिप्तता का उपदेश और दुःखों की निवृत्ति का उपाय तो करना ही होगा। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति संसार के भोगों से अलिप्त हो गया, यह पर्याप्त नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय करना होगा। वैसा करने से ही मोक्ष की प्राप्ति अर्थात् दुःखों की अत्यंत निवृत्ति सम्भव है।

लिप्तता के स्वभाव को दूर करने को बद्धता से मुक्ति प्राप्त करना कहते हैं। यह कहा है कि सांसारिक बन्धनों से छुटकारा काल की गति से नहीं होता। काल से अभिप्राय है प्रातः-सायं इत्यादि अथवा ग्रीष्म, शरद् ऋतु आदि। इनमें परिवर्तन से स्वभाव नहीं बदलता। इसका कारण यह बताया है कि काल का प्रभाव तो सब मनुष्यों पर समान रूप में होता है। इस प्रभाव को व्यापक कहा है। इसे नित्य भी कहा है। इस कारण इसका व्यक्तिगत प्रभाव नहीं।

स्वभाव पर देश (स्थान) का भी प्रभाव नहीं पड़ता। देश बदलने से बद्ध जीव मुक्त नहीं हो सकता। मनुष्य दिल्ली में रहे अथवा हरिद्वार में, यूरोप में रहे अथवा भारत में, इससे उसके बद्ध अथवा मुक्त होने पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार बाल, वृद्ध, यौवन अवस्था इत्यादि का भी स्वभाव पर प्रभाव नहीं होता और इससे बद्धता नहीं छूटती। अवस्था देह का धर्म है। जीवात्मा का अवस्था के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इनका इसके बद्ध अथवा मुक्त होने के साथ भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

कर्मों का सम्बन्ध शरीर की बाह्य और भीतरी इन्द्रियों से है। कर्म (धर्म) का भी जीवात्मा के स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जीवात्मा का देश, काल, वयस् से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः इनका इसके बद्ध अथवा मुक्त होने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ कर्म के विषय में विचार करते हुए समझ लेना चाहिए कि कर्म का अभिप्राय कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से तथा अन्तःकरण के किए कार्य से तो है, मन और बुद्धि की क्रियाओं से नहीं। मन, विशेष रूप से बुद्धि की क्रिया का जीवात्मा पर प्रभाव होता है। यहाँ उस धर्म और कर्म से अभिप्राय है, जो शरीर स्वभाववश बिना विचार किए करता है।

कर्म चाहे स्वभाववश हो अर्थात् संस्कारों के अधीन हो और चाहे बुद्धि से विचारकर किया जाए, फल तो उसका मिलता ही है। परन्तु स्वभाव पर प्रभाव केवल बुद्धि से विचारकर किए गए कर्म का होता है। स्वभाव पर प्रभाव और कर्म का फल पृथक्-पृथक् बाते हैं। संस्कारों द्वारा किए कर्म का स्वभाव पर प्रभाव नहीं होता। यहाँ तो केवल इतना कहा है कि शरीर द्वारा किया गया कर्म स्वभाव पर प्रभाव नहीं डालता।

प्रकृति का सम्बन्ध भी स्वभाव को नहीं बदलता। इसका कारण यह है कि प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं परतंत्र है। यह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती। जीवात्मा इसका भोग करता है। जब भोग करता है तो यह स्वयं बद्ध होता है। अतः भोग करता हुआ जीवात्मा बद्ध अवस्था से निकल नहीं सकता।

३. अविवेकोच्छेद अधिकरण (सूत्र ५५ से ६०)[१]

यह बताया जा चुका है कि काल, देश, अवस्था, वयस् और प्रकृति की सहायता से स्वभाव नहीं बदलता। इन बातों का जीवात्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जीवात्मा का स्वभाव अविवेक से बनता है और विवेक से बदलता है। विवेक का प्रभाव ऊपर लिखे साधनों से विलक्षण है। यह सीधा जीवात्मा से सम्बन्ध रखता है।

विवेक का सामान्य अर्थ है ज्ञान, और अविवेक अज्ञान को कहते हैं। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय है प्रकृति-पुरुष में भेद का ज्ञान। पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा दोनों से है। प्रकृति से इन दोनों का क्या भेद है—यह जानने को विवेक कहा है।

अविवेक नियत कारणों से उत्पन्न होता है। उन कारणों को हटा देने से उसका उच्छेद हो सकता है। यह उसी प्रकार है, जैसे अन्धकार का उच्छेद दीपक जलाने से होता है।

अविवेक दो प्रकार का है—एक मुख्य है, जिसे सूत्रकार प्रधान अविवेक कहता है; दूसरा सामान्य है। प्रधान अविवेक है प्रकृति-पुरुष में भेद न जानना। सामान्य अविवेक है प्रकृति से बने पदार्थों में भेद का ज्ञान न होना। उदाहरण के रूप में पथ्य-कुपथ्य में अथवा अपनी पत्नी और पर-पत्नी में भेद न कर सकना सामान्य अविवेक है।

सूत्रकार का मत है कि जब प्रधान अविवेक दूर हो जाता है, अर्थात् जब प्रकृति और पुरुष में भेद का पता चल जाता है, तब दूसरे दर्जे के अविवेक भी दूर हो जाते हैं। अतः मुख्य अविवेक को दूर करने का यत्न करना चाहिए। शेष स्वतः ठीक हो जाएगा।

प्रधान अविवेक को दूर करने के लिए चित्त को स्थिर करने की आवश्यकता है। कथन-मात्र से तो अविवेक दूर नहीं होगा। इसके लिए चित्त की वृत्तियों को नियंत्रण में करने की आवश्यकता है।

पुरुष-प्रकृति में भेद जानने के लिए जगत्-रचना का ज्ञान आवश्यक है। सूत्रकार का कहना है कि रचना के समय का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। इस कारण अनुमान-प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है।

युक्ति से भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। शर्त यह है कि युक्ति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित हो। यही अनुमान प्रमाण है, जैसे धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है। धुआँ प्रत्यक्ष है, अतः अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान भी सत्य है। इसी प्रकार वर्तमान कार्य-जगत् को देखकर इसके मूल कारण का ज्ञान होता है। इसी प्रक्रिया से सूत्रकार सृष्टि-रचना का वृत्तान्त कहता है।

---

१. सूत्र १८ तथा २० से ५४ तक हम सांख्य दर्शन का भाग नहीं मानते। इस कारण उनका संक्षेप नहीं दिया जा रहा। जिससे विचार-प्रवाह न टूट जाए। ये सूत्र असम्बद्ध हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. रचना अधिकरण (सूत्र ६१ से ६७)

वर्तमान जगत-रचना से पूर्व प्रकृति (जगत् का उपादान कारण) उपस्थित थी। उसमें सत्त्व, रजस् और तमस् साम्यावस्था में थे। ये गुण कहे जाते हैं।

साम्यावस्था भंग होने पर प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा तन्मात्राएँ बनीं। साथ ही अहंकारों से महाभूत बने। इनसे, तन्मात्राओं के सहयोग से, स्थूल भूत और जगत् बना। ये चौबीस गण हैं और इनमें बैठा पच्चीसवाँ पुरुष है। यहाँ पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा है। वैसे परमात्मा भी इस जगत् में स्थित है। वह तो जगत् के बाहर भी है और भीतर भी है। यहाँ प्राणी का वर्णन हो रहा है; इस कारण पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा ही है। चराचर जगत् भी इन पच्चीस गणों से ही बना है।

सांख्याचार्य ने यह ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही प्रतीत किया है। वह अनुमान इस प्रकार लगाता है। स्थूल भूतों से इनको संगठित करनेवाली पाँच शक्तियों का ज्ञान होता है। ये तन्मात्राएँ हैं। तन्मात्राओं के कार्य पर विचार करने से अहंकारों का ज्ञान होता है। अहंकारों से महत् का पता चलता है और महत् से प्रकृति का पता चलता है। प्रकृति मूल पदार्थ है। इसे जगत् का उपादान कारण कहते हैं। इस मूल पदार्थ का कोई मूल नहीं है।

ये सब संयोग प्रकृति के अपने लिए नहीं हैं। इन परिणामों का बनना पुरुष के लिए होता है। सूत्रकार का यह कहना है कि इस संसार में कुछ भी व्यर्थ नहीं होता। अतः वह प्रकृति के इन परिणामों को जीव निमित्त मानता है।

५. मूल प्रकृति अधिकरण (सूत्र ६८ से ७०)

ऊपर स्थूल जगत् से अनुमान लगाते-लगाते मूल प्रकृति का होना सिद्ध किया गया है। यह क्रम परम्परागत है। क्रम होने पर भी इस क्रम का आरम्भ और अन्त है। वह परम्परा टूटती है। सूत्रकार का कहना है कि जगत् का आरंभ और अन्त है। अन्त के उपरान्त फिर आरम्भ होगा और वही परम्परा चलेगी जो ऊपर वर्णन की गई है और तब फिर अन्त होगा। इस प्रकार यह दिन और रात की भाँति अनादि से अनन्त तक चलता रहेगा। परम्परा का आरम्भ मूल प्रकृति में परिवर्तनों से होकर उसका अन्त मूल प्रकृति में ही लौटना होता रहता है।

प्रकृति दो रूपों में है—मूल रूप में और कार्य-जगत् के रूप में। इन दोनों रूपों में जड़त्व की समानता है। दोनों जड़ हैं। जड़ का अभिप्राय है कि यह स्वतः अपनी स्थिति नहीं बदलती। यह स्वतः गतिरहित से गतिशील नहीं हो सकती और न ही यदि यह गतिशील हो तो गति को न्यूनाधिक कर सकती है।

प्रकृति के दो रूप हैं। परन्तु जगत् में दो अन्य मूल पदार्थ हैं। यह परिणाम उत्पन्न करने की परम्परा का नियम अन्य दो में नहीं है। अभिप्राय यह कि परमात्मा और जीवात्मा में ये परिणाम बनाने का नियम नहीं है। तीन मूल पदार्थ हैं, परन्तु परिणाम तो केवल प्रकृति में ही होते देखे जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. कार्य-जगत् अधिकरण (सूत्र ७१ से ९४)

महत् प्रकृति का प्रथम कार्य है। यही मन है, अर्थात् इसका एक अंश ही मनुष्य में मन का कार्य करता है। महत् से अहंकार बनता है और अहंकार से कार्य-जगत् के शेष पदार्थ बनते हैं। अहंकार अणुवत् हैं। ये प्रकृति के परमाणुओं के संयोग से बनते हैं।

प्रकृति के परमाणु और अहंकार के अणु दोनों परिच्छिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं। इनके संयोग से पद-पद कर जगत् के विभिन्न पदार्थों की रचना होती है। पद-पद का अभिप्राय है एक के उपरान्त दूसरा। कपिल मुनि द्वारा सृष्टि-रचना का जो क्रम अनुमान-प्रमाण की सहायता से जाना गया है, वैसा ही वेदों में वर्णन किया गया है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि शून्य से ही जगत् बना है। सूत्रकार का कहना है कि यह सम्भव नहीं है। अवस्तु से वस्तु नहीं बन सकती! अतः रचना से पूर्व जगत् का उपादान कारण मानना होगा।

जगत् तो है। वह तो प्रत्यक्ष ही है, अर्थात् जगत् वस्तु है। वस्तु उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व हो। युक्ति यह है कि वस्तु अवस्तु से नहीं बन सकती। इस कारण प्रकृति भी वस्तु है। अभाव से भाव नहीं हो सकता। यह मानना ही होगा कि जगत् का उपादान कारण है ही। प्रकृति में जगत् की निर्माण-शक्ति है। तभी तो यह बना है!

यदि किसी एक पदार्थ से अनेकानेक पदार्थ बनने हों तो उस एक पदार्थ का परिच्छिन्न रूप में, अर्थात् अणु अथवा परमाणु-रूप में होना आवश्यक है। परमाणु अथवा अणु का अर्थ है कणदार, बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में होना। ऐसा होने से वे कण भिन्न-भिन्न संख्या और भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर भिन्न-भिन्न पदार्थ बना सकते हैं।

प्रकृति जड़ है। इस कारण उससे बना कार्य-जगत् भी जड़ ही है। यदि इसमें कहीं चेतना होती है, तो इस कारण कि वहाँ इससे चेतन तत्त्व का सम्पर्क हो गया है। जड़ से जड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं बन सकता। इसलिए रचना करनेवाला कोई होना चाहिए। रचना करनेवाला चेतन होगा। रचना-कार्य गतिप्रधान है और गति किसी भी जड़ पदार्थ में बिना चेतन के सम्पर्क के नहीं हो सकती।

रचना-कार्य में प्रथम कार्य है परमाणुओं में गुणों की साम्यावस्था का भंग होना। साम्यावस्था भंग कैसे हुई? एक जड़ पदार्थ में स्वयमेव परिवर्तन हो नहीं सकता। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि इस साम्यावस्था को भंग करनेवाला कोई महान् शक्तिशाली तत्त्व है। महान् इस कारण है कि यह कार्य असंख्य परमाणुओं में एक ही समय में हुआ था।

कुछ लोग पूछते हैं कि निर्माता ने यह कार्य किस कारण किया? सूत्रकार का कहना है कि कामना से किया गया अथवा कामना के बिना किया गया, यह बात इस स्थान पर विवेच्य नहीं है। इतना समझना चाहिए कि कार्य हुआ है। इस कारण इसके करनेवाला कोई महान् बलवान् चेतन तत्त्व रहा होगा। सूत्रकार के कथनानुसार रचना से पूर्व परमाणु बद्ध अवस्था में थे और रचना आरम्भ होने के समय परमाणु अर्थात् उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्त्व, रजस्, तमस् गुण मुक्तावस्था में हो गए। इसको सूत्रकार ने असाम्यावस्था भी कहा है। यह कार्य अति महान् था। इसकी तुलना में पीछे होनेवाला निर्माण-कार्य, जिसमें जगत् के विभिन्न पदार्थ बने और काम करने लगे, सामान्य ही माना जाएगा।

यह महान् कार्य और सामान्य कार्यों का ठीक-ठीक ज्ञान तीन प्रकार के प्रमाणों से होता है—प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण। इन प्रमाणों से सब बातों का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान के लिए और अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

जब किसी वस्तु अथवा कार्य का सम्पर्क इन्द्रियों से होकर उसके वास्तविक आकार और विस्तार का ज्ञान हो तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। योगीजन भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान आभ्यान्तरिक इन्द्रियों से होता है। यह ज्ञान भी इतना ही निर्दोष है जितना कि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आभ्यान्तरिक इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान अबाह्य ज्ञान कहलाता है।

लीन वस्तु तो बाह्य इन्द्रियों से नहीं देखी जा सकती, उसे योगी आभ्यान्तरिक इंद्रियों से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। कार्य-जगत् महत् में लीन हो जाता है। योगी पुरुष मन और बुद्धि से उसका प्रत्यक्ष करते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से परमात्मा की सिद्धि नहीं होती। जीवात्मा की भी प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं होती।

सूत्रकार का आशय यह है कि कार्य-जगत् का महत् तक का ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भी हो जाता है; परन्तु प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता। उसके लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है।

७. जीवात्मा अधिकरण (सूत्र ९५ से १०१)

प्रकृति की दो अवस्थाएँ हैं—बद्ध और मुक्त। इन दोनों अवस्थाओं में इसका असत्करत्व[१] रहता है। असत्करत्व का अर्थ है परिवर्तनशील होना। साम्यावस्था और कार्य-जगत् परिवर्तनशील हैं। जीवात्मा बद्ध अथवा मुक्त, दोनों अवस्थाओं में परिवर्तनशील नहीं है।

उपासना का अर्थ है समीप बैठना और ज्ञान प्राप्त करना। परमात्मा के समीप बैठने का अभिप्राय है उसके गुणों का चिन्तन करना। इससे ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? कहा है कि ऐसे ही जैसे कुसुम के स्फटिक मणि के समीप होने से प्रकाश प्रतिबिम्बित होकर वही दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार जगत् का पूर्ण ज्ञान विश्लेषण होकर दिखाई देने लगता है। मणि का यही गुण है। यह ज्ञान परमात्मा की उपासना से प्राप्त होता है। इसे एक अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है। परमात्मा के समीप बैठने का प्रभाव ऐसे भी होता है जैसे मणि के समीप पुष्प ले आने से पुष्प का रंग उसमें प्रतिबिम्बित होने लगता है। जीवात्मा को परमात्मा के समीप ले-जाने से परमात्मा का ज्ञान जीवात्मा में प्रतिबिम्बित होने लगता है।

---

१. सत् = सदा विद्यमान रहना, असत् = बदलना, रूपान्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा जब परमात्मा के सान्निध्य में आता है तो वह अपने विशेष कर्मों में परमात्मा का पथ-प्रदर्शन पा जाता है।

विशेष कर्मों का अभिप्राय सामान्य कर्मों के अतिरिक्त है। जब भी नित्यप्रति के नियत कर्मों से विलक्षण कुछ करना पड़ता है तो उस समय जीवात्मा परमात्मा का संरक्षण पा जाता है।

जीवात्मा की विशेषता यह भी है कि यह कर्म का आरम्भ, अन्त और कर्म को चालू करने में स्वतंत्र होता है। ये तीनों बातें विशेष रूप में वह स्वेच्छा से करता है। यह इस कारण कि वह चेतन है। ऐसा करने को ईक्षण करना कहते हैं। इसी से जीवात्मा को चेतन माना जाता है।

यह कहा जाता है कि शरीर में चेतना अन्तःकरण की चंचलता के कारण है। यहाँ अन्तःकरण से अभिप्राय मन और बुद्धि है। सूत्रकार का कहना है कि अन्तःकरण तो ऐसे चेतन दिखाई देता है जैसे कि चुम्बक के पास लोह-कण ले आने से वह चंचल हो उठता है। वास्तव में लोह-कण में चुम्बकीय शक्ति नहीं आती। इसी प्रकार अन्तःकरण में चेतना नहीं आती। चित्त जीवात्मा के सान्निध्य में आने से चंचल हो उठता है। उसके अन्दर चेतनत्व नहीं आता।

मुक्तावस्था में जीवात्मा के परमात्मा के समीप हो जाने से परमात्मा के गुण उसमें प्रतिबिम्बित होने लगते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा की समीपता से अन्तःकरण में जीवात्मा के गुण प्रतिबिम्बित होने लगते हैं।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के अतिरिक्त मनुष्य के पास ज्ञान प्राप्त करने का एक अन्य साधन भी है। उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। शब्द वेद को कहते हैं। वेद-ज्ञान आप्त पुरुषों से प्राप्त होता है। मोनियर विलियम आप्त का अर्थ करते हैं—one who has specialized knowledge अर्थात् पहुँचा हुआ, ठीक व्यक्ति, विषय का ज्ञाता, विश्वसनीय अथवा अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति। इसका अभिप्राय है कि आप्त पुरुष वह व्यक्ति होता है जो विषय का ज्ञाता हो, विशेषज्ञ हो। ऐसा व्यक्ति अपने विषय में प्रमाण होता है। अतः आप्त प्रमाण विद्वानों का कथन कहा जा सकता है। यह वेद-समान प्रामाणिक कहना चाहिए।

८. चेतन-अचेतन सम्बन्ध अधिकरण (सूत्र १०२ से १०७ तक)

वेद तो प्रमाण है ही, परन्तु यह उन लोगों के लिए है जो ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान पर विश्वास करते हैं। परन्तु जिनको वेद और ईश्वर पर विश्वास नहीं, उनके लिए दर्शन-शास्त्र हैं। दर्शनशास्त्र वेद के सत्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। फिर भी तीनों प्रकार के प्रमाण प्रयुक्त हो सकते हैं। दर्शनाचार्य आप्त प्रमाण से अभिप्राय विद्वानों का कथन मानता है।

वस्तु के वास्तविक रूप को चेतन (जीवात्मा) तक ले-जाने को भोग कहते हैं। ज्ञान तो जीवात्मा तक जाता ही है। इन्द्रियों से मन तक और मन से जीवात्मा तक ज्ञान पहुँचता है। यह इस कारण, क्योंकि कर्म का फल सुख-दुःख होता है और सुख-दुःख की अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव को ही होती है। इस अनुभव के उपरान्त ही जीव सुख की इच्छा करता है और दुःख से द्वेष करता है। सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, ये आत्मा के लिङ्ग हैं।

सूत्रकार एक उदाहरण देता है। अन्न तो पेट पचाता है, परन्तु उस अन्न की शक्ति पूर्ण शरीर में आती है। इसी प्रकार इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान जीवात्मा तक जाता है।

सूत्रकार कहता है कि कर्म-फल की पहुँच जीवात्मा तक जीवात्मा के अविवेक के कारण होती है। अविवेक, विवेक के अभाव को कहते हैं। विवेक का अर्थ है प्रकृति-पुरुष में भेद का ज्ञान। इस वास्तविक ज्ञान के अभाव में ही जीवात्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। यह तब तक होती है जब तक सुविधा को वह सुख मानता है और कष्ट को दुःख समझता है।

तत्त्व को, अर्थात् शरीर एवं आत्मा के वास्तविक सम्बन्ध को जान लेने पर जीवात्मा, सुख और दुःख दोनों को अनुभव करना छोड़ देता है।

९. कार्य-जगत् अधिकरण (सूत्र १०८ से १३७ तक)

जब कोई वस्तु अति दूर हो, तो वह इन्द्रियों का विषय होते हुए भी अविषय हो जाती है। इन्द्रियों के विषय का अभिप्राय है—इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकने योग्य। ऐसी वस्तु जब अति दूर हो जाए तो वह अविषय अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकने योग्य नहीं होती।

वस्तु कई प्रकार से दूर हो सकती है—स्थान दूर हो जाने के कारण, काल व्यतीत हो जाने के कारण, अथवा किसी प्रकार का व्यवधान हो जाने के कारण। कभी कोई अव्यक्त पदार्थ प्रकृति से सम्बन्ध के कारण जाना जा सकता है, और जब वह सम्बन्ध नहीं रहता तो वह अव्यक्त पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं रहता। यह जीवात्मा और प्रकृति की बात है।

दूर होने के अतिरिक्त कोई वस्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण भी इन्द्रियों का अविषय हो जाती है। वायु इसका उदाहरण है। ऐसी वस्तुओं के कार्य के ज्ञान से ही उनका ज्ञान होता है।

अनुमान प्रमाण से ऐसी वस्तुओं का ज्ञान होता है।

सांख्य-सिद्धान्त है कि मूल कारण तीन हैं। इस पर विरोधी की आपत्ति यह है कि प्रकृति के कार्य से अन्य कुछ दिखाई नहीं देता।

इस आपत्ति का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि जैसे मनुष्य के सींग होते दिखाई नहीं देते, इसी प्रकार असत् से सत् होता दिखाई नहीं देता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक निर्मित पदार्थ का उपादान कारण है। मनुष्य के सींग की भाँति असम्भव धारणा नहीं बनाई जा सकती। सब काल में, सब स्थान पर सब-कुछ होना सम्भव नहीं। अतः चेतन मूल न मानें, तो यह जगत् कैसे सम्भव हो सकता है? शक्तिवान् से ही शक्तिवाला कार्य होना सम्भव है। जो शक्ति कारण में नहीं, वह कार्य में भी नहीं आ सकती। बीज में पेड़ उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती है तभी पेड़ बन सकता है। यह ज्ञात है कि बीज में जीवित कोषाणु होते हैं; तभी अवसर और सुविधा मिलने पर वे कोषाणु पेड़ बना सकते हैं। यदि गर्मी से बीज के कोषाणु मार डाले जाएँ तो फिर वृक्ष नहीं बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। हम देखते हैं कि कार्य-जगत् के कई अंग दोलायमान और गतिशील हैं। परन्तु कार्य-जगत् में यदि केवल प्रकृति का ही सहयोग होता, तो यह हिलना-डोलना अथवा गतिशील होना न हो सकता। इससे यह सिद्ध है कि कार्य-जगत् में चेतन-तत्त्व का समावेश है।

बनने का अर्थ शून्य से कुछ निर्माण होना नहीं है। सांख्य-दर्शनाचार्य कहता है कि सृष्टि-रचना में बनने का अर्थ अभिव्यक्ति (प्रकट होना) ही है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अव्यवहार की अवस्था से व्यवहार की अवस्था में आना रचना का होना है।

इसी प्रकार नाश का अर्थ शून्य हो जाना नहीं है, वरन् मूल कारण में लय हो जाना होता है। प्रकृति के परमाणुओं का संगठित होना निर्माण कहलाता है और उनका विघटित होकर पुनः परमाणु रूप प्रकृति हो जाना विनाश कहलाता है। जैसे बीज से अंकुर बनता है, अंकुर से पेड़ बनता है और पेड़ पुनः अपने फूल में बीज बना देता है, इसी प्रकार प्रकृति से महत् उत्पन्न होता है और उस महत् से जगत् के विभिन्न पदार्थ बनते हैं और वे पदार्थ पुनः विघटित हो परमाणु-रूप प्रकृति बन जाते हैं।

स्वरूपवान् तो कार्य-जगत् है और मूल प्रकृति रूप-रहित है। कार्य-जगत् हेतु वाला, अनित्य, सक्रिय, अनेक रूप वाला और आश्रित है। जब भी किसी पदार्थ में ये लिङ्ग दिखाई दें तो समझ लेना चाहिए कि वह कार्य-जगत् का अंग है।

सूत्रकार कहता है कि वह निस्संकोच भाव में दावे से कहता है कि कार्य-जगत् के तीन मूल पदार्थ हैं। उनमें उपादान कारण प्रधान अर्थात् प्रकृति है। प्रकृति में दो गुण हैं—वह त्रिगुणात्मक है और अचेतन है। अचेतन उसको कहते हैं जो स्वतः अपनी स्थिति को बदल नहीं सकता। ऐसी प्रकृति है।

गुणों में परस्पर आकर्षण और अपने से विकर्षण, और जहाँ ये दोनों न हों, विषाद (तटस्थ) अवस्थाएँ होती हैं।

इन गुणों के कारण ही अहंकारों में परिमण्डल बनाने की सामर्थ्य आती है और उनमें तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। ये आकाश में अथवा अवकाश में तरंगों की भाँति प्रसारित होती हैं। अहंकारों में जो द्रव्यत्व है, उससे पंच महाभूत बनते हैं और जब तन्मात्राओं की तरंगों का प्रभाव उन पर होता है तो वे स्थूल रूप में होकर कार्य-जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनाते हैं।

अहंकार लघु आदि धर्म रखते हुए भी गुणों में समान हैं। हमने यह बताया है कि अहंकार तीन प्रकार के हैं—वैकारिक, तेजस् और भूतादि। वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में अहंकारों को ऐटम के अंश कहते हैं। तेजस् अहंकार को इलेक्ट्रोन, वैकारिक अहंकारों को प्रोटोन और भूतादि अहंकारों को न्यूट्रोन कहते हैं। इनका द्रव्यमान न्यूनाधिक होता है। फिर भी इन पर शक्ति का आवेश बराबर-बराबर होता है।

इन गुणों के आकर्षण-विकर्षण का ही परिणाम है कि महत् इत्यादि पदार्थ बनते हैं। जैसे मिट्टी से घटादि बन जाते हैं, इसी प्रकार प्रकृति अथवा अहंकारों से जगत् के पदार्थ बन जाते हैं। यह सब-कुछ शक्ति से ही होता है, जो गुणों के रूप में प्रकृति में और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकारों में विद्यमान है।

यह बताया जा चुका है कि जगत् में पुरुष का भी सहयोग है। प्रकृति पुरुष से हीन है। कारण स्पष्ट है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। पुरुष दो हैं—एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। परमात्मा एक है और जीवात्माएँ अनेक हैं। दोनों पुरुष-तत्त्वों से प्रकृति शक्ति में हीन है। इसी कारण वह पुरुषों द्वारा प्रयोग में लायी जाती है।

मूल पदार्थ कारण हैं और कार्य-जगत् कार्य है। तीनों मूल पदार्थों का कार्य-जगत् के निर्माण में सहयोग होता है।

प्रकृति के गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) कार्य-जगत् के सब पदार्थों में होते हैं। कहीं प्रत्यक्ष होते हैं और कहीं परस्पर गुणों के समान होने के कारण अप्रत्यक्ष होते हैं। सूत्रकार ने यह अनुमान प्रमाण से पता किया है और वह ज्ञान सत्य है, मिथ्या नहीं।

१०. पुरुष अधिकरण (सूत्र १३८ से १६० तक)

पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि तो सहज ही है। धर्म के ज्ञान से धर्मी का ज्ञान होता है। चेतन के धर्म इस कार्य-जगत् में देखे जाते हैं। अतः जहाँ वे लक्षण हों वहाँ पुरुष की उपस्थिति सिद्ध है। शरीर में इन्द्रियादि में चेतना के लक्षण पाए जाते हैं। इन्द्रियों के अतिरिक्त भी शरीर में चेतना के लक्षण होते हैं। वे लक्षण हैं कार्य आरम्भ करने तथा समाप्त करने का निश्चय करना; कार्य को चालू रखना और इस कार्य की दिशा ठीक रखना। इसके साथ शरीर के कार्यों में समन्वय रखना भी चेतन तत्त्व का लक्षण है। शरीर का पूर्ण संगठन जीवात्मा के लिए है।

जीवात्मा में प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) का अस्तित्व नहीं होता। इस कारण जीवात्मा प्रकृति का परिणाम नहीं है। जीवात्मा शरीर का अधिष्ठाता है। यह प्रकृति के पदार्थों का भोग करता है। यह शरीर को चालना देता है। इसी कारण इसको चेतन कहते हैं। जहाँ-जहाँ यह प्रकृति के सम्पर्क में आता है, वह उसे सजग कर देता है।

जीवात्मा कैवल्य प्राप्त करने के लिए प्रकृति का प्रयोग करता है (यहाँ प्रकृति से अभिप्राय है शरीर)। फिर भी इसमें प्रकृति के तीन गुण नहीं होते और यह निर्गुण कहलाता है।

जब प्राणी सुषुप्ति अवस्था में होता है तो यह साक्षी के रूप में शरीर में रहता है। शरीर (इन्द्रियाँ) और उसके साथ मन तथा बुद्धि सोए होते हैं।

प्राणी के जन्मादि की व्यवस्था को देखने से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न जीवात्मा हैं। इस सिद्धान्त पर आपत्ति करनेवाले कहते हैं कि भिन्नता उपाधि-भेद से दिखाई देती है, वास्तव में भिन्नता है नहीं। उपाधि-भेद का अभिप्राय है, परिस्थिति जिसमें पुरुष है। इस परिस्थिति-भेद से ही प्राणी पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं। उन आपत्ति करनेवालों का कहना है कि पुरुष एक ही है। जिस प्रकार घड़े-सुराही में आकाश एक ही है और वह दिखाई भिन्न-भिन्न देता है, इसी प्रकार प्राणियों में प्राणी एक ही है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। सूत्रकार इस युक्ति का खण्डन करता है। वह कहता है—अन्तःकरण प्रकृति का अंग होने के कारण जड़ है। वे शरीर को समान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न दिशा नहीं दे सकते। समान परिस्थितियों में जड़ का व्यवहार समान होता है। प्राणी का व्यवहार समान परिस्थितियों में समान नहीं भी होता। कोई निर्धनता में पुरुषार्थ कर निर्धनता को दूर करने का उपाय करता है। दूसरा भीख माँगने लगता है। कोई चोरी अथवा डाका डालने लगता है। इस प्रकार समान परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी आचरण भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के कारण हैं।

पूर्व-पक्षवाला इस भेद का कारण यह बताता है कि बुद्धियों में विशेषता होने के कारण ऐसा होता है। सूत्रकार इसका भी समाधान करता है। वह कहता है कि बुद्धियों की सामर्थ्य में अन्तर से विरोधी आचरण नहीं हो सकता। प्रकृति से बने पदार्थ तो समान परिस्थिति में समान दिशा में ही जाएँगे।

श्रुति में कहीं-कहीं अद्वैत शब्द मिलता है। वहाँ अद्वैत से अभिप्राय अपनी-अपनी जाति में अद्वितीय के हैं—वैसा दूसरा नहीं। अतः श्रुतियों में विरोध नहीं है।

यदि अन्धा (ज्ञानहीन) सूर्य (परमात्मा तथा जीवात्मा) को नहीं देखता तो दोष सूर्य का नहीं, परन्तु देखनेवाले के ज्ञानहीन होने में है।

यदि एक ही आत्मा सबमें होता तो वागदेवादि के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर पूर्ण सृष्टि के जीव मुक्त हो गए होते। अनादि काल से आज तक जीव जन्म भी लेते देखे जाते हैं, मुक्त भी होते हैं और मरते भी हैं। यह निरन्तर और एक ही समय में हो रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीव अनेक हैं। इसका कभी भी उच्छेद नहीं होता।

जीवात्मा दो अवस्थाओं में वर्णन किया जाता है—एक बद्ध अवस्था में और दूसरा मुक्तावस्था में। एक में यह शरीर (सूक्ष्म अथवा स्थूल) में बँधा होता है और दूसरी अवस्था में यह शरीर से रहित हो जाता है।

११. ईश्वर अधिकरण (सूत्र १६१ से १६४)

जगत् के सब पदार्थों के साथ ईश्वर का सम्पर्क है। इस कारण वह सबके कर्मों का साक्षी है। वह सदा मुक्त रहता है अर्थात् वह जीवत्मा की भाँति बद्ध और मुक्त दो अवस्थाओं में नहीं रहता। ईश्वर कभी भी शरीर के बन्धन में नहीं आता। वह उदासीन है, अर्थात् किसी से मोह-ममता नहीं रखता। वह किसी में लिप्त नहीं होता। जीवात्मा को कार्य करने की सामर्थ्य परमात्मा से प्राप्त होती है। जब प्रकृति का कार्य शरीर में प्रकट होता है तो जीवात्मा उसमें आ जाता है। शरीर-निर्माण परमात्मा की शक्ति से होता है। जीवात्मा तो केवल भोग ही करता है। यह स्वाभाविक रूप में ही होता रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय
त्रिविधदुःखनिवृत्ति अधिकरण

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १ ॥

पदच्छेद—अथ, त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः, अत्यन्तपुरुषार्थः।

अर्थात्—अब तीन प्रकार के दुःखों का अतिशय (निर्मूल करने तक) छुटकारा (पाने के लिए) अत्यधिक प्रयत्न (बताने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की जा रही है)।

'अथ' शब्द का प्रयोग प्रायः ग्रन्थारम्भ में अथवा किसी नवीन विषय पर प्रवचन आरम्भ करते समय किया जाता है। कभी-कभी यह शब्द विकल्प प्रकट करने के लिए भी कहा जाता है। पहली अवस्था में तो केवल 'अब' का भाव प्रकट किया जाता है और दूसरी में अर्थात् विकल्प प्रकट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि इतना बताया जा चुका है और इसके आगे यह भी है। मंगल-कार्य अथवा शुभ कामना के लिए भी 'अथ' कहा जाता है।

हमारे मत में यहाँ यह शब्द सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अभिप्राय यह कि अब आगे अमुक विषय आरम्भ किया जा रहा है।

क्या विषय आरम्भ किया जा रहा है? यही कि संसार के समस्त दुःख तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने का सर्वोत्तम प्रयत्न इस ग्रन्थ में बताया जा रहा है।

पुरुषार्थ का अर्थ मोक्ष भी किया जाता है। इस शब्द का अर्थ प्रयत्न करना भी है। हम समझते हैं कि यहाँ प्रयत्न अर्थों में ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। मोक्ष-प्राप्ति ही मनुष्य के सब कर्मों का लक्ष्य होता है, यह वस्तुस्थिति नहीं। यह होना चाहिए, यह दूसरी बात है।

यह ठीक है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति मोक्षावस्था में ही सम्भव है, परन्तु मनुष्य तो इस संसार में रहता हुआ भी दुःखों से छुटकारा पाने का यत्न करता रहता है और यह कहा है कि संसार में दुःखों से छुटकारा पाने के उपाय वही हैं जो मोक्ष प्राप्त करने में प्रयुक्त होते हैं। (सूत्र १-६)

सूत्रार्थ है कि सब प्रकार के दुःखों से अधिक-से-अधिक काल के लिए छुटकारा पाना है। मोक्षावस्था में भी तो छुटकारा सदैव के लिए नहीं होता। मोक्ष से भी वापसी होती है।

अतः हम इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं। अब हम इस ग्रन्थ में तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए सर्वोत्तम प्रयत्न का वर्णन कर रहे हैं। पुस्तक के

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ में पुस्तक के उद्देश्य का वर्णन करना उपयुक्त ही है।

तीन प्रकार के दुःख हैं—(१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक और (३) आधिदैविक।

दुःख और सुख आत्मा के लिङ्ग हैं। न्याय दर्शन में कहा है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।१-१-१०

अर्थात्—इच्छा (करना), सुख (प्राप्ति के लिए) और दुःखों से (बचने के लिए) प्रयत्न और ज्ञान (चेतना) आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) हैं।

लिङ्ग और चिह्न समानार्थ-वाचक हैं। कहा है—**लिङ्ग्यतेज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति लिङ्गम्।** अर्थात् जिससे वस्तु का ज्ञान हो उसे लिङ्ग कहते हैं। वह असाधारण चिह्न जो दूसरों में न्यूनाधिक रूप में भी न पाया जाए, वही वस्तु का ज्ञान कराता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुख-दुःख आत्मा के लक्षण हैं और यह भी कहा गया है कि **'समवायेन इच्छाद्यधिकरणमात्मा।'** अर्थात् जो समवाय-सम्बन्ध इत्यादि गुणों का अधिकरण (धारण करनेवाला) सम्बन्ध है, जो अवयव-अवयवी, तथा गुण-गुणी का है। इसे 'सम्बन्ध-विशेषः' भी कहा है।

इकट्ठे रहनेवालों और विशेष सम्बन्ध रखनेवालों को समवाय कहते हैं। अतः दुःखों-सुखों की निवृत्ति का सम्बन्ध जीवात्मा से ही है। इस कारण तीनों प्रकार का दुःख जीवात्मा को ही होता है।

इस पर भी इसे तीन प्रकार का इस कारण कहा है, क्योंकि इनकी प्राप्ति तीन मार्गों से होती है।

अध्यात्म-दुःखों से अभिप्राय उन दुःखों से है, जो सीधे आत्मा को प्राप्त होते हैं। जब दुःख किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के बिना सीधा आत्मा को हो तो वह आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। कभी इस प्रकार के दुःख लौटकर शरीर और मन को भी दुःख देने लगते हैं। तदपि, क्योंकि उनका आगमन सीधा आत्मा द्वारा हुआ है, इस कारण वे आध्यात्मिक दुःख ही कहे जाएँगे।

उदाहरण के रूप में कल्पना की जा सकती है कि योगी योगाभ्यास करता हुआ घटनावश अभ्यास से च्युत हो जाता है। वह मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा कर रहा था और उसकी पूर्ति में बाधा पड़ गई है। इससे उसके शरीर और इन्द्रियों को तो सुख अनुभव हुआ होगा, परन्तु आत्मा को क्लेश मिला है।

एक अन्य प्रचलित उदाहरण लिया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी महापुरुष को कटु वचन कहता है। उन कटु वचनों को अन्य लोग पसन्द भी कर सकते हैं और कहने वाले की वाह-वाह कर देते हैं। वक्ता यदि बुद्धिशील हो तो समझ जाने पर स्वयं अपने कहे पर पश्चात्ताप करता हुआ दुःख अनुभव कर सकता है। यह आध्यात्मिक दुःख होगा।

कुछ भाष्यकारों ने आध्यात्मिक दुःखों को दो प्रकार का माना है—शारीरिक और मानसिक। हमारा कहना है कि ये आध्यात्मिक दुःख नहीं हैं। ये शारीरिक दुःख ही हैं। मन भी शरीर का एक अंग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'....आध्यात्मिक दुःख वह है जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है। वह दो प्रकार का है—एक शरीर, दूसरा मानस। शरीर के वात-पित्त-कफादि की विषमता से अथवा आहार-विहार आदि के वैषम्य से जो दुःख उत्पन्न होता है, वह 'आध्यात्मिक शारीर' दुःख कहा जाता है; तथा जो काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, रागादि मनोविकारों के कारण दुःख उत्पन्न होता है, उसे 'आध्यात्मिक मानस' दुःख कहते हैं।'

हम इस कथन को अशुद्ध मानते हैं। ये सब शारीरिक दुःख हैं। मन और शरीर के द्वारा प्राप्त दुःख आधिभौतिक ही होगा। वात, पित्त, कफ भी शरीर का ही भाग हैं। ये शरीर द्वारा ही बनते हैं और शरीर को ही कष्ट पहुँचाते हैं।

आधिभौतिक दुःख शरीर के विकारों से उत्पन्न कष्टों से होनेवाले दुःख हैं। ये विकार वात, पित्त, कफ से हो सकते हैं अथवा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से भी हो सकते हैं। इनका समावेश शरीर और शरीर के अंगों के द्वारा ही होता है।

आधिदैविक दुःख उनको कहते हैं जो दैवी दुर्घटनाओं से होते हैं। यद्यपि इनकी जीवात्मा तक पहुँच भी शरीर द्वारा ही होती है, परन्तु इनका स्रोत दैवी होने से ये आधिदैविक कहलाती हैं।

इस विवेचना में हमारी युक्ति यह है कि सब-के-सब दुःख जीवात्मा को ही होते हैं। इनको तीन प्रकार का इस कारण कहा है, क्योंकि इनके स्रोत भिन्न-भिन्न हैं। एक शरीर के विकारों से उत्पन्न होता है। हम मन और बुद्धि को भी शरीर का ही अंग मानते हैं। दूसरे, दैवी घटनाओं से उत्पन्न होते हैं। तीसरे सीधे जीवात्मा को दुःखित करते हैं।

महर्षि कपिल के ग्रन्थ लिखने की इस प्रतिज्ञा से कि यह तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए लिखा गया है, कुछ विद्वान् यह अर्थ लगाते हैं कि संसार दुःखों से भरा हुआ है और इन सब दुःखों से छुटकारा पाने का अभिप्राय मुक्त होना ही है। इस कथन से हमारा मतभेद है। दुःखों से छूट जाने के स्वतः यह अर्थ नहीं हो जाते कि मुक्ति प्राप्त हो ही जाएगी। दुःखों से निवृत्त हुआ मनुष्य मोक्ष का इच्छुक नहीं भी हो सकता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है—त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—न दृष्टात्, तत्-सिद्धिः, निवृत्तेऽपि, अनुवृत्ति-दर्शनात्।

अर्थात्—देखे गए से वह सिद्धि (दुःख से अत्यन्त छुटकारा) नहीं। निवृत्ति हो जाने पर भी बाद में पुनः आनेवाले देखे जाने से।

अभिप्राय यह है कि इस ससार में दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् सर्वथा छुटकारा नहीं देखा जाता, क्योंकि किसी एक दुःख से छुटकारा पा जाने पर भी उसी दुःख से अथवा किसी अन्य दुःख से मनुष्य पुनः पीड़ित हो सकता है। अतः इस जगत् में दुःखों का सर्वथा लोप नहीं देखा जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका कारण है जीवात्मा की अल्पज्ञता। जीवात्मा का सदा ज्ञानवान् बना रहना सम्भव नहीं है। यह सर्वज्ञ भी नहीं है। इस कारण यह भूलें करता रहता है और दुःखों में पड़ता रहता है।

इस सूत्र में 'दृष्टात्' का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने भिन्न प्रकार से किया है। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री ने 'दृष्टात्' का अर्थ किया है, दृष्ट उपायों से। हम इस शब्द का अर्थ करते हैं, 'देखे गये से'। दृष्ट उपायों का अर्थ समझाते हुए शास्त्री जी ने लिखा है, 'दुःख-निवृत्ति के लिए लोक में दो उपाय देखे जाते हैं, एक साधारण लौकिक उपाय, धनादि का अर्जन तथा दूसरा वैदिक उपाय यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र में प्रथम उपाय के सम्बन्ध में विवेचन है। दृष्ट उपाय धनार्जन आदि से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं देखी जाती। क्योंकि धन, वनिता, भव्य भवन, दास-दासी तथा अन्य विविध साज-सज्जा संभार रहते हुए भी, किसी एक दुःख का अभाव भले ही हो जाए, अन्य अनेक प्रकार के दुःखों का सिलसिला बना रहता है।'

यह विवेचन ठीक नहीं है, क्योंकि धनादि उपाय दृष्ट हैं और यज्ञादि अदृष्ट हैं, यह बात अशुद्ध है। दोनों दृष्ट हैं। इस कारण हमारा कहना है कि 'दृष्टांत्' के अर्थ देखे जाने से ही लेने चाहिएँ। जिस किसी उपाय से भी दुःखों की निवृत्ति हो, वह सदा के लिए नहीं होती।

पूर्व-सूत्र में कहा है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के निमित्त यह महान् प्रयास है, अर्थात् यह ग्रन्थ रचा जा रहा है। यहाँ कहा है कि इस संसार में रहते हुए सब दुःखों से अथवा किसी एक दुःख से सदा के लिए छुटकारा सम्भव नहीं।

अगले सूत्र से हमारे अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

प्रात्यहिक्क्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम्॥ ३॥

पदच्छेद—प्रात्यहिक्, क्षुत्, प्रतीकारवत्, तत्, प्रतीकार, चेष्टनात्, पुरुषार्थत्वम्॥

अर्थात्—प्रतिदिन की भूख के प्रतिकार करने की भाँति, उसे निवारण की चेष्टा से प्रयत्न करना है।

भूख लगना आधिभौतिक दुःख है। इस दुःख के निवारण के लिए भोजन उपलब्ध किया जाता है। तृप्ति होती है तो दुःख का निवारण होता है, परन्तु पुनः भूख लग आती है। इसके निवारण के लिए पुनः पुरुषार्थ किया जाता है। इसी प्रकार अन्य दुःखों की बात है। इस कारण शारीरिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए निरन्तर पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है।

निवारण किया हुआ दुःख भी पुनः आ सकता है। अथवा एक के मिट जाने पर दूसरा आ उपस्थित होता है। इस कारण, सूत्रकार का कहना है कि दुःखों से छुटकारा पाने के लिए निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

सर्वाऽसम्भवात्सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः॥ ४॥

पदच्छेद—सर्वा, असम्भवात्, सम्भवे, अपि सत्ता, सम्भवात्, हेयः, प्रमाण, कुशलैः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—सबके असम्भव होने से, (किसी एक समय पर एक की) सम्भावना होने पर भी दुःखों की स्थिति बने रहने पर (त्याज्य) है, प्रमाण-कुशल (प्रमाण देने में कुशल विद्वानों) से हेय है।

प्रमा (सिद्धि योग्य) को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिया जाता है। प्रमाण के विषय में आगे चलकर (सूत्र १-८३) में बताया है। यहाँ इतना ही कहा है कि प्रमाण देने में कुशल विद्वान् यह कहते हैं कि सब दुःखों की अथवा किसी एक दुःख की सदा निवृत्ति सम्भव नहीं। एक समय किसी एक की निवृत्ति होने पर भी दुःख की स्थिति बनी रहती है। दुःख के पुनरावर्तन की सम्भावना भी बनी रहती है। इस कारण दुःख के निवारण के हेय उपायों को त्याज्य मानते हैं। हेय से अभिप्राय अधर्मयुक्त उपायों से है।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है—सब दुःख अथवा कोई एक दुःख सब काल के लिए छूटना असम्भव है। इस कारण विद्वान् लोग इसकी निवृत्ति के लिए हेय, सामान्य अधर्मयुक्त उपाय त्याज्य मानते हैं।

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ ५ ॥

पदच्छेद—उत्कर्षात्, अपि, मोक्षस्य, सर्वोत्कर्षश्रुतेः।

अर्थात्—उत्कर्ष (ऊपर उठने अर्थात् दुःख से छुटकारा पाने) से भी मोक्ष की (स्थिति) सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा वेद में वर्णित है।

यहाँ दुःखों की निवृत्ति का वर्णन है। अतः उत्कर्ष-स्थिति से अभिप्राय दुःखों से रहित होने की स्थिति है। सूत्रकार कहता है कि मोक्ष के बिना भी दुःखरहित स्थिति हो सकती है और मोक्ष में भी। इस पर भी मोक्ष की स्थिति सर्वश्रेष्ठ है।

अभी तक सूत्र में दुःखों से छुटकारा पाने के उपायों के विषय में नहीं कहा। कुछ भाष्यकारों ने इस सूत्र के भाष्य में सांसारिक उपायों और यज्ञ-यागादिक उपायों की तुलना की है। उनका कहना है कि लौकिक उपाय मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकते, इस कारण वे उपाय उत्कृष्ट नहीं हैं। यज्ञ-यागादिक उपाय मोक्ष में साधन हो सकते हैं, इस कारण वे उपाय उत्कृष्ट हैं। हमारा कहना है कि यज्ञ-यागादिक, जैसे समझे जाते हैं, वे भी तो सांसारिक उपाय ही हैं। परन्तु यहाँ उपायों की उत्कृष्टता की तुलना नहीं की गई।

हमारा मत है कि दुःखों की निवृत्ति संसार में रहते हुए भी होती है और मोक्षावस्था में भी होती है। दोनों में अन्तर पूर्वोक्त सूत्रों (१-२, ३, ४) में वर्णन किया है। यह कहा है कि संसार में रहते हुए एक बार दुःखों से छुटकारा मिल गया, तब भी दुःख पुनः आ जाते हैं। मोक्ष की व्यवस्था में ऐसा नहीं होता। वहाँ, जब तक वह अवस्था रहती है, दुःखों से निवृत्ति बनी रहती है। इसी कारण मोक्ष को परमानन्द की अवस्था कहते हैं। वेद में भी ऐसा ही वर्णन है। उसमें कहा है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥

(यजु० ३२-१०)

अर्थात्—वह (परमात्मा) हमारा बन्धु है और हमारा निर्माता है। वह (परमात्मा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता है हमारे धर्मों को, जहाँ देवतागण मोक्ष को प्राप्त होते हैं। वे तीसरे धाम के हैं। जिसका आश्रय रूप (परमात्मा) है, जहाँ मुक्त जीव इच्छापूर्वक विचरते हैं।

इस वेद-मन्त्र में मुक्त जीवों की उत्कृष्टता की एक झलक दिखाई है। उनके जीवन में किसी प्रकार से भी विघ्न-बाधा नहीं आती।

अतः, सूत्रकार का कहना है कि दुःखों की निवृत्ति में मोक्षावस्था में यह निवृत्ति सर्वोत्कृष्ट है।

अविशेषश्चोभयोः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अविशेषः, च, उभयोः।

अर्थात्—और अविशेषता है दोनों में।

दोनों से अभिप्राय है उन दो स्थितियों का जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। कौन-सी स्थितियाँ वर्णन की गई हैं? एक तो संसार में दुःखों से रहित होने की, और दूसरी मोक्ष-प्राप्ति की। दोनों में अविशेषता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं। अन्तर जो ऊपर वर्णन किया है, वह स्थितियों में अन्तर है। इस कारण यहाँ जो अविशेषता बतायी है, वह उनकी प्राप्ति के उपायों में ही प्रतीत होती है। दोनों को प्राप्त करने में त्याज्य कर्मों से बचना चाहिए।

इसका यह अर्थ बनता है कि दोनों में दुःखों से बचने के लिए समान व्यवहार स्वीकार करना चाहिए।

श्री उदयवीर शास्त्री का मत है कि इस सूत्र में 'उभयोः' का अर्थ दुःखों की निवृत्ति के दोनों प्रकार के उपायों का निरर्थक होना कहा है। उनके मत में वे दो उपाय हैं धनादि उपायों से दुःखों की निवृत्ति, और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान से। उनका कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति में दोनों निरर्थक हैं।

हम इस प्रकार नहीं मानते। पूर्व-सूत्र में बताया है कि मोक्ष में दुःखों की निवृत्ति सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्ट शब्द से यह अर्थ निकलता है कि इस सर्वोत्कृष्ट से कहीं कम उत्कृष्ट भी है। यह उससे पूर्व के (१-३, ४) सूत्रों में बताया गया है। अतः प्रकरण के विचार से हमारे अर्थ ही ठीक होंगे, अर्थात् दुःखों से निवृत्ति की दोनों स्थितियों को प्राप्त करने में किसी प्रकार की विशेषता नहीं।

एक उदाहरण लें। स्वास्थ्य के लिए व्यवहार में अथवा अन्य प्रकार के लोक-व्यवहार में जैसे धर्म का पालन करना आवश्यक है, वैसा ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी आवश्यक है।

यहाँ मोक्ष-प्राप्ति में यज्ञ-यागादि कर्मों की उपादेयता जैसी ब्रह्मसूत्रों में वर्णन की गई है, बता दें तो अधिक उपयुक्त होगा। वहाँ मोक्ष-प्राप्ति के प्रसंग में ये दो सूत्र आए हैं—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। (३-४-२६)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि। (३-४-३२)

ये दोनों सूत्र मोक्ष-प्राप्ति के प्रकरण में आए हैं। पहले का अभिप्राय है कि यज्ञादि कर्म मोक्ष-प्राप्ति में ऐसे ही हैं जैसे गाड़ी के ले-जाने में अश्व होता है। दूसरे का अभिप्राय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि आश्रमों के विहित कर्म भी (मोक्ष-प्राप्ति में) सहायक होते हैं।[१]

उपर्युक्त सूत्र में तो केवल यह कहा है कि संसार में दुःखों की निवृत्ति के उपायों में और मोक्ष-प्राप्ति से दुःखों की निवृत्ति के उपायों में किसी प्रकार की विशेषता नहीं।

स्वभाव तथा बन्ध अधिकरण

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥ ७ ॥

पदच्छेद—न, स्वभावतः, बद्धस्य, मोक्षसाधनोपदेशविधिः।

अर्थात्—स्वभाव से बँधे हुए को मोक्ष प्राप्त करने के साधनों के उपदेश का विधान नहीं।

पूर्व में यह कहा गया है कि दुःखों की निवृत्ति वाली स्थिति मोक्षावस्था में सर्वोत्कृष्ट है। संसार में दुःखों की आवृत्ति होती रहती है। इसका कारण होता है मनुष्य का अज्ञान। इस संसार में रहता हुआ मनुष्य स्वभाववश कर्म करता है। प्रकृति के स्वादिष्ट फल का रस लेने के लिए, प्रकृति के भोगों में बद्ध होना स्वभाव के ही कारण होता है। इसे ही मनुष्य का स्वभाव से बद्ध होना कहते हैं। स्वभाव से प्रकृति से बद्ध हुए को मोक्ष का उपदेश निरर्थक है।

स्वभाव गुण नहीं होता। गुण तो गुणी के साथ सदैव रहता है। स्वभाव छूट भी सकता है। इसी कारण कहा है कि प्रकृति के भोगों का स्वभाव, जब तक है तब तक मोक्ष-प्राप्ति के विषय में उपदेश व्यर्थ होगा।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव कैसे बदला जा सकता है?

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—स्वभावस्य, अनपायित्वात्, अननुष्ठानलक्षणम्, अप्रामाण्यम्।

अर्थात्—स्वभाव के अविनाशशील होने के कारण आचरण किए जाने योग्य न होनेवाला (कर्म) प्रमाण नहीं।

'स्वभाव के अविनाशशील होने के कारण' का अभिप्राय है स्वभाव बदला नहीं जा सकता। हम समझते हैं कि सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि सामान्य उपायों से न बदला जाने वाला। ऐसा हम इस कारण कहते हैं कि सूत्रकार इसके बदलने का एक उपाय सूत्र १-५५ में स्वयं ही बताता है। अतः यहाँ इसका अविनाशशील होना सामान्य उपायों से ही अभिप्रेत है।

यह गुण नहीं, यह स्वभाव है। इस कारण यह बदला तो जा सकता है, परन्तु विशेष उपायों से ही। साथ ही स्वभाव किसी कार्य के बार-बार करने से बनता है। जो बनता है, वह मिट भी सकता है।

जीवात्मा में स्वभाव बनता है आसक्ति से। जब आसक्ति हट जाती है, अर्थात्

१. इन सूत्रों की व्याख्या के लिए लेखक का 'ब्रह्मसूत्र सरल सुबोध भाषा भाष्य' देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है, तो 'स्वभाव बदल गया' कहा जा सकता है। यह सुगमता से हो सकना सम्भव नहीं। योग दर्शन में इसको बदलने के लिए यम-नियमों का विधान है।

अतः सूत्रार्थ है कि स्वभाव सुगमता से न बदलने योग्य होने के कारण इसके लिए किसी प्रकार का अनुष्ठान प्रमाण नहीं। अभिप्राय यह है कि कोई अनुष्ठान सफल नहीं होगा।

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न, अशक्योपदेशविधिः, उपदिष्टे, अपि, अनुपदेशः।

अर्थात्—नहीं है अशक्य उपदेश का विधान। उपदेश किए जाने पर भी उपदेश नहीं किया गया (ऐसा मानना चाहिए)।

यहाँ शक्य से अभिप्राय है किए जाने योग्य, अर्थात् सम्भव। अतः अशक्य का अभिप्राय होगा असम्भव। 'अशक्योपदेशः' का अर्थ है जो कार्य हो नहीं सकता, जिसका होना सम्भव नहीं। जो व्यक्ति स्वभाव से प्रकृति के गुणों में आसक्त है, उसके लिए उपदेश असम्भव है। ऐसे व्यक्ति को दिया हुआ उपदेश न दिए के समान है, अर्थात् मोक्ष का उपदेश देने से पूर्व प्रकृति में आसक्त उसके स्वभाव को बदलना चाहिए। इसके लिए यम-नियमों का अभ्यास कराना चाहिए।

शुक्लपटवद् बीजवच्चेत् ॥ १० ॥

पदच्छेद—शुक्लपटवत्, बीजवत्, चेत्।

अर्थात्—श्वेत वस्त्र के समान तथा बीज के समान (मान लिया जाए) तो।

यदि ऐसा मानें तो क्या? तो जो अगले सूत्र में कहा है (वैसा मानना होगा)। एक प्रश्न और है। श्वेत वस्त्र और बीज किसको माना है? इनकी उपमा जीवात्मा से की गई है। स्वभाव जीवात्मा पर ऐसा ही है जैसा शुक्ल पट पर रंग अथवा बीज पर खाद, भूमि, जल, इत्यादि का प्रभाव। श्वेत वस्त्र पर रंग चढ़ाकर उसका रंग बदला जा सकता है, अथवा भूमि पर खाद इत्यादि बढ़िया होने से बीज से श्रेष्ठ हृष्ट-पुष्ट पेड़ उत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु वस्त्र तो वस्त्र ही रहता है, अर्थात् बीज के प्रकार में अन्तर नहीं आता। वैसे ही यत्न करने से जीवात्मा का स्वभाव बदला जा सकता है।

सूत्रकार का कहना है कि जीवात्मा को शुक्ल पट अथवा बीज की भाँति माना जा सकता है। इसका स्वभाव वैसे ही बदला जा सकता है जैसे वस्त्र के रंग का बदलना तथा बीज से हृष्ट-पुष्ट फल-फूल-पल्लवयुक्त पेड़ बनाया जा सकना।

यदि जीवात्मा को शुक्ल पट तथा बीज मानें तो अगले सूत्र की बात माननी पड़ेगी--

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥ ११ ॥

पदच्छेद—शक्ति-उद्भव-अनुद्भवाभ्याम्, न, अशक्योपदेशः।

अर्थात्—शक्ति (स्वभाव बदलने की सामर्थ्य) उत्पन्न होने अथवा न होने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण असम्भव का उपदेश न होता (सम्भव की बात होती)।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि जैसे श्वेत वस्त्र पर रंग चढ़ सकता है अथवा चढ़ा रंग उतर सकता है, अथवा जैसे भूमि-खादादि से पेड़ बढ़िया अथवा घटिया बन सकता है, वैसे ही उचित उपदेश से जीवात्मा का स्वभाव बदला जा सकता है। स्वभाव कोई स्थायी स्थिति नहीं। यह बदला जा सकता है।

यह कहा है कि स्वभाव बदले बिना प्रकृति के बन्धन से छूट नहीं सकता, और स्वभाव बदल सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कपड़े का रंग बदला जा सकता है अथवा बीज से बढ़िया अथवा घटिया पेड़ बनाया जा सकता है।

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—न, कालयोगतः, व्यापिनः, नित्यस्य, सर्वसम्बन्धात्।

अर्थात्—नहीं है काल के योग से नित्य और व्यापक का सबसे सम्बन्ध होने से।

अभिप्राय यह है कि काल के योग से स्वभाव नहीं बदलता। उसका कारण यह है कि काल व्यापक और नित्य है, सबके साथ समान सम्बन्ध होने से। काल सब जीवात्माओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध रखता है। इस कारण किसी एक जीवात्मा के स्वभाव को बदलने की इसमें सामर्थ्य नहीं। काल का अर्थ है दिन-रात, सर्दी-गर्मी अथवा वर्षा-सूखा इत्यादि। ये सब जीवात्माओं के साथ समान रूप में आते-जाते हैं। इनका प्रभाव सब जीवात्माओं पर एक-समान होता है। अतः किसी एक के स्वभाव बदलने में इसका किसी प्रकार का योगदान नहीं।

ऊपर के सूत्रों में बताया है कि जब तक आसक्ति का स्वभाव बना रहता है, तब तक किसी प्रकार के मोक्ष-प्राप्ति के उपदेश का फल नहीं होता। स्वभाव रहते उपदेश सामर्थ्यहीन होता है।

अब स्वभाव को बदलने के उपायों पर कहा जाने लगा है। इस सूत्र में कहा है कि काल बदलने से स्वभाव नहीं बदलता। इस सूत्र में नित्य और व्यापी शब्द काल के विशेषण के रूप में आए हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री काल और नित्य का सम्बन्ध जीवात्मा से जोड़ते हैं। इसी सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं—'यद्यपि आपाततः यह बात एक-सी प्रतीत होती है कि नित्य आत्मा का सम्बन्ध काल के साथ कहा जाए या नित्य काल का सम्बन्ध आत्मा के साथ बताया जाए, परन्तु सांख्य-विचार के अनुसार इनमें भेद है। वस्तुतः सांख्य में काल के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया, फिर उसको नित्य कहने की बात तो दूर चली जाती है। देखें सांख्य सूत्र २-१२। सांख्य में चेतन तत्त्व और मूल उपादान प्रकृति इन दो तत्त्वों को ही नित्य माना गया है। अन्य समस्त जड़ जगत् प्रकृति का विकार है। तब नित्य कैसे? अतः सांख्य-दृष्टि से प्रकृत सूत्र का युक्त अर्थ वही है जो प्रथम किया गया है।'

हम समझते हैं कि शास्त्री जी ने ठीक अर्थ नहीं किया है। शास्त्री जी इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'काल-योग से आत्मा का बन्ध नहीं माना जा सकता। क्योंकि व्यापी नित्य आत्मा की विद्यमानता सर्वकाल में एक-समान रहती है।....'

सूत्र (१-१२) का अभिप्राय वह नहीं जो शास्त्री जी ने कहा है। वहाँ दिशा, काल और आकाश को भी आत्मा के प्रयोग के लिए कहा है। क्या आत्मा के प्रयोग के लिए कोई नित्य और व्यापी पदार्थ नहीं हो सकता? इस सूत्र (१-१२) में ऐसा प्रसंग नहीं कि दिशा और काल, महदादि की भाँति बने हुए पदार्थ हैं। यदि आत्मा-परमात्मा और प्रकृति अनादि पदार्थ हैं तो काल, जो कुछ भी यह है, अनादि ही होगा।

अतः इसके अर्थ वही होते हैं जो हमने बताए हैं। स्वभाव बदलने में काल का कोई योग नहीं, क्योंकि काल नित्य बदलता है और काल के बदलने के साथ स्वभाव बदलता नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार काल व्यापक है, सब जीवात्माओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध रखता है और स्वभाव भिन्न-भिन्न जीवात्माओं का भिन्न-भिन्न है।

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—न, देशयोगतः, अपि, अस्मात्।

अर्थात्—नहीं है देश के योग से भी उसी प्रकार (स्वभाव का बदलना)।

संसार में लिप्त होने का स्वभाव देश-परिवर्तन होने पर भी बना ही रहता है। स्वभाव के साथ देश का भी सम्बन्ध नहीं। देश का अभिप्राय है पंजाब, मद्रास, सिन्ध इत्यादि, अथवा भारत, यूरोप, अमेरिका इत्यादि। सूत्रकार का कहना है कि देश बदलने से भी स्वभाव पर प्रभाव नहीं होता। यहाँ प्रकृति में लिप्त होने के स्वभाव की चर्चा हो रही है।

नावस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—न अवस्थातः, देह-धर्मत्वात्, तस्याः।

अर्थात्—नहीं है अवस्था (बाल, कुमार, यौवन, वृद्ध इत्यादि तथा सबल, दुर्बल इत्यादि) से (भी स्वभाव-परिवर्तन के साथ सम्बन्ध)। यह उस (देह) का धर्म है। अवस्था का देह के साथ सम्बन्ध है। जीवात्मा से इनका सम्बन्ध नहीं। इस कारण जीवात्मा की लिप्तता अथवा अलिप्तता से अवस्था का सम्बन्ध नहीं है।

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥

पदच्छेद—असङ्गः, अयम्, पुरुषः, इति।

अर्थात्—यह पुरुष (इनसे) सङ्ग (सम्बन्ध) नहीं रखता।

यहाँ पुरुष से अभिप्राय इस शरीर में जीवात्मा से है। उसके दुःखों की निवृत्ति का सम्बन्ध ऊपर के सूत्रों में कही बातों (काल, देश और अवस्था) से नहीं है। इनके बदलने से जीवात्मा के स्वभाव पर प्रभाव नहीं पड़ता।

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥

पदच्छेद—न, कर्मणा, अन्य-धर्मत्वात्, अतिप्रसक्तेः, च।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—नहीं है कर्म से (भी सम्बन्ध) अन्य का धर्म होने से, और अति प्रसक्ति होने से।

कर्म करना शरीर का धर्म है। यहाँ शरीर से अभिप्राय बाह्य इन्द्रियों से है। ये कर्म करती हैं और कर्मों के संस्कार मन पर पड़ते हैं। संस्कारों का प्रभाव जीवात्मा के स्वभाव पर नहीं पड़ता। मन जीवात्मा को कर्म की प्रेरणा तो देता है, परन्तु जीवात्मा के स्वभाव को बदल नहीं सकता। ऐसा सूत्रकार का मत है। जीवात्मा पर 'शक्त्युद्भवानुद्भव' नहीं कर सकता।

नित्य कर्मों में अतिशय रूप से लगे रहने पर भी शरीर ही प्रभावित होता है, जीवात्मा नहीं।

इसका कारण यह है कि शरीर से किए कर्म मन के मार्ग से जीवात्मा तक पहुँचते हैं, परन्तु जीवात्मा में शक्ति के उत्पन्न करने अथवा न करने का प्रभाव नहीं होता। शक्ति से अभिप्राय है मोक्ष के मार्ग पर चलने का सामर्थ्य।

संस्कार कर्म-फल है। स्वभाव इनसे भिन्न स्थिति है। स्वभाव पर किस बात का प्रभाव होगा और कैसे होगा? यह सूत्रकार आगे चलकर बताएगा। यहाँ तो केवल इतने-से प्रयोजन है कि शरीर द्वारा किए जाने वाले कर्मों का प्रभाव जीवात्मा के स्वभाव पर नहीं होता।

एक सरल-सा उदाहरण लिया जा सकता है। एक व्यक्ति को चाट खाने की आदत पड़ गई है। यह आदत चाट के स्वाद का मन पर संस्कार के कारण है। इस स्वाद का संस्कार होने पर भी जीवात्मा की स्वाद से लिप्तता अथवा अलिप्तता पृथक् वस्तु है। जीवात्मा का निष्काम भाव से स्वादिष्ट पदार्थ का खाना अथवा न खाना उसके सुख अथवा दुःख का कारण नहीं होगा। निष्काम भाव संस्कारों के अधीन नहीं। यह जीवात्मा की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।

यहाँ सूत्रकार का इतना ही कहना है कि कर्म का जीवात्मा का स्वभाव बदलने में कुछ भी प्रभाव नहीं। कर्म का फल तो मिलता है। स्वभाव की बात पृथक् है।

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ १७ ॥

पदच्छेद—विचित्रभोगानुपपत्तिः, अन्य, धर्मत्वे।

अर्थात्—अनेकानेक भोगों की अप्राप्ति अर्थात् असिद्धि (है) दूसरे का धर्म होने पर।

इसका अभिप्राय यह है कि भोग इन्द्रियों तथा मनादि को प्राप्त होता है; जीवात्मा को नहीं होता। भोग भोगना शरीर का धर्म है, इस कारण यह जीवात्मा को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ यह सूत्र असंगत ही नहीं, वरन् अयुक्त भी है। असंगत इस कारण है कि प्रसंग जीवात्मा के स्वभाव का है और इस सूत्र में भोग की बात की गई है। इससे पहले सूत्र में कहा गया है कि जीवात्मा का स्वभाव काल, देश, अवस्था और कर्म से नहीं बदलता। इस सूत्र से अगला सूत्र भी स्वभाव से सम्बन्धित है। बीच में भोग की बात लाना असंगत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सूत्र सिद्धान्त-विरुद्ध भी है। वह इस प्रकार कि कर्म-फल शरीर को प्राप्त होता अवश्य है, परन्तु भोग अर्थात् सुख-दुःख जीवात्मा को ही प्राप्त होता है। सुख अथवा दुःख जीवात्मा के लक्षण हैं और भोग सुख-दुःख का दूसरा नाम है। अतः भोग जीवात्मा को प्राप्त होता है। सूत्र में उल्टी बात कही गई है। शरीर को सुविधा-असुविधा होती है, परन्तु इससे सुख-दुःख जीवात्मा को होता है। यही भोग कहा जाता है।

इस सूत्र की अयुक्तता श्री उदयवीर जी शास्त्री को भी अनुभव हुई है। परन्तु वह इसका अभिप्राय मोड़-तोड़कर स्पष्ट करने का यत्न कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है—

'अभिप्राय यह है कि सुख-दुःख आदि की अनुभूतिरूप भोग आत्मा में ही उत्पन्न माना जा सकता है; क्योंकि समस्त अचेतन जगत् चेतन आत्मा के भोगापवर्ग को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ है''''पर आचार्य का यह अभिमत नहीं। कारण यह है कि आत्मा कर्मानुष्ठान के प्रति देह-अन्तःकरण आदि के साथ सम्बन्ध होने के अनन्तर प्रवृत्त होता है और वह सम्बन्ध ही बन्ध का रूप है, तब अनन्तर होनेवाला कर्म अपने से पहले विद्यमान बन्ध का निमित्त कैसे हो जाएगा? इसलिए आत्म-धर्म होने पर भी कर्म बन्ध का कारण नहीं।'

इस सूत्र का जो स्पष्टीकरण शास्त्री जी ने दिया है उसका सिर-पैर नहीं है। आपके कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा अन्तःकरण से सम्बन्ध रखने के उपरान्त कर्म में प्रवृत्त होता है। इस कारण कर्म का भोग उसको प्राप्त नहीं होता। यह तो इस प्रकार हुआ कि जैसे कोई हत्यारा तलवार हाथ में लेकर हत्या करता है तो हत्या का फल उसको नहीं, अपितु तलवार को प्राप्त होना चाहिए। यह कथन युक्तिहीन है। शरीर तलवार की भाँति जड़ है। आत्मा उसके सम्पर्क में ऐसे ही आता है जैसे हत्यारा तलवार के सम्पर्क में आता है और हत्या करता है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म आत्मा ने नहीं किया और उसके फल का भोग वह नहीं करेगा।

हमारा मत है कि यह सूत्र कपिल का नहीं, प्रक्षिप्त है।

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—प्रकृतिनिबन्धनात्, चेत्, न, तस्याः, अपि, पारतन्त्र्यम्।

अर्थात्—प्रकृति के बन्धन से यदि कहो तो नहीं; उसके भी परतन्त्र होने के कारण।

प्रकृति के सम्बन्ध से लिप्त होना अथवा अलिप्त होना यदि कहा जाए तो यह भी ठीक नहीं। प्रकृति जड़ से स्वयं परतन्त्र है। यह भला किसी दूसरे पर स्वतः क्या प्रभाव उत्पन्न कर सकती है?

जो युक्ति कर्म के विषय में दी गई है वही यहाँ भी लागू होती है। प्रकृति के गुणों से ही तो आसक्ति होती है। परन्तु इस आसक्ति से जीवात्मा के स्वभाव पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रकृति से लिप्तता प्रकृति के करने से नहीं होती। यह जीवात्मा के स्वभाव के कारण है।

वही चाटवाला उदाहरण यहाँ भी लिया जा सकता है। चाट इस कारण खाई जाती है, क्योंकि व्यक्ति को इसकी चटक लग जाती है। खाने-न-खाने से चटक पर प्रभाव नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता। वह तो संस्कार है। वह बना ही है। स्वभाव है चाट खाने अथवा न खाने का, बिना सुख अथवा दुःख अनुभव करने के। यह पृथक् बात है। चाट देखने पर उसके स्वाद की स्मृति तो है, परन्तु उसके मिलने पर अथवा न मिलने पर सुख अथवा दुःख होना स्वभावाधीन है। यह मिटना चाहिए। कैसे मिट सकेगा? सूत्रकार आगे चलकर बताएगा।

युक्ति यह है कि प्रकृति से सम्बन्ध प्रकृति नहीं बनाती। कारण यह कि प्रकृति जड़ है। जड़ कुछ कर नहीं सकता। यह जीवात्मा का स्वभाव है जो सम्बन्ध बनाता है। क्यों सम्बन्ध बनाता है? इसका कारण दूसरा है। इसका कारण भी सूत्रकार आगे चलकर कहेगा।

मुख्य बात है जीवात्मा के स्वभाव को बदलना। वह काल, देश, अवस्था, कर्म और प्रकृति के भोग से नहीं बदलता। भोग से तृप्ति होने पर भी स्वभाव नहीं बदलता।

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥ १९ ॥

पदच्छेद—न, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य, तद्योगः, तद्योगात्, ऋते।

अर्थात्—नहीं है नित्य (अविनाशी) शुद्ध (विकाररहित) बुद्ध (चेतन) मुक्त (मुक्ति-प्राप्त) स्वभाववाले का बन्ध-योग, बिना उससे संयोग के।

इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाला है, प्रकृति के बन्धन में नहीं आता बिना प्रकृति के योग (संयोग) के।

यह बात तो ठीक ही है कि जीवात्मा प्रकृति के भोग से ही जन्म-मरण के चक्कर में फँसता है। परन्तु जीवात्मा के स्वभाव की जो बात कही है, वह ठीक नहीं है।

सूत्र में कहा है कि जीवात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाववाला है। यह अशुद्ध है। नित्य होना जीवात्मा का स्वभाव नहीं, गुण है। इसी प्रकार शुद्ध (विकाररहित) बुद्ध (चेतन) होना भी जीवात्मा के गुण हैं, स्वभाव नहीं। मुक्ति प्राप्त करना जीवात्मा का स्वभाव हो सकता है। यह गुण नहीं हो सकता। गुण सदा गुणी के साथ रहता है। जीवात्मा सदा नित्य, शुद्ध, बुद्ध तो है, परन्तु वह सदा मुक्त नहीं। यदि यह सदा मुक्त होता तो फिर इस पुस्तक को लिखने की आवश्यकता ही नहीं थी।

सूत्रकार ने नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त को एक समास में लिखकर और जीवात्मा को इन स्वभावोंवाला लिखकर सांख्य और वैदिक सिद्धान्त का अशुद्ध रूप में वर्णन किया है। नित्य होना, शुद्ध अर्थात् विकाररहित होना और चेतन होना जीवात्मा के स्वभाव नहीं हैं। स्वभाव तो बदल सकता है। क्या जीवात्मा कभी अनित्य अर्थात् नाशवान् भी हो सकता है?

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने परमात्मा के चार गुण नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त को बिना विचार किए जीवात्मा के लिए लिख दिया है। एक अन्य भी कारण हो सकता है कि जिस किसी ने भी यह सूत्र कहा है, वह शंकरपंथी वेदान्ती है। यह सूत्र कपिल का लिखा हुआ नहीं हो सकता।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Papers in Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मा का बन्ध-योग प्रकृति के योग के बिना नहीं।'

श्री शास्त्री जी मुक्त का अर्थ करते हैं—

'मुक्त—प्रकृति के सत्त्वरजस्तमोगुणों से सर्वथा भिन्न।'

मुक्त का अर्थ गुणरहित नहीं है। यह निर्गुण शब्द का अर्थ है। मुक्त का अर्थ तो है सूक्ष्म शरीर से भी छुटकारा पाकर पूर्ण आनन्दमय स्थिति में हो जाना। शास्त्री जी ने अर्थ करने में खींचातानी की है।

जीवात्मा मुक्त स्वभाववाला है, अर्थात् वह मुक्ति को नहीं भी प्राप्त कर सकता। परन्तु सूत्रकार ने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एक ही समास में रखकर और इन स्वभावों से युक्त बात कहकर सांख्य-सिद्धान्त और वेद-सिद्धान्त के विरुद्ध बात कही है। यह सूत्र कपिल का रचा नहीं हो सकता। इस सूत्र का रचयिता कोई नवीन वेदान्ती प्रतीत होता है।

अगले प्रक्षिप्त सूत्रों पर हमारी टिप्पणी पढ़ने पर पता चलेगा कि वे सूत्र भी किसी शंकरपंथी वेदान्ती द्वारा रचित हैं। अतः हमारा मत है कि सूत्र (१-१९ से १-५४ तक) सब प्रक्षिप्त हैं। श्री शास्त्री जी सूत्र (१-१९) को प्रक्षिप्त नहीं मानते। शेष सब सूत्रों के प्रक्षिप्त मानने में हम उनसे सहमत हैं।

सूत्र १-१८ की संगति सूत्र १-५५ से अधिक भली प्रकार बैठती है।

सूत्र १-१८ कहता है—

'प्रकृति के बन्धन से यदि कहें तो नहीं, उसके भी परतन्त्र होने के कारण।'

और सूत्र १-५५ कहता है—

'उस (प्रकृति) का संयोग भी अविवेक से (होता है), (उनसे) समानता नहीं।'

दोनों (सूत्र १-१८ और १-५५) में संगति इस प्रकार बैठती है। यह कहा गया है कि देश, काल, अवस्था और कर्म से स्वभाव नहीं बदलता। वैसे ही प्रकृति के सम्बन्ध से भी नहीं बदलता, परन्तु प्रकृति से सम्बन्ध अविवेक से उत्पन्न होता है। इस विषय में अर्थात् अविवेक से सम्बन्ध बनना देश, काल इत्यादि में नहीं होता। इसमें प्रकृति से सम्बन्ध में और देश, कालादि से सम्बन्ध में समानता नहीं।

अभिप्राय यह है कि देश, कालादि से सम्बन्ध अविवेक से नहीं होता।

अतः, ये दोनों सूत्र १-१८ और १-५५ साथ-साथ आने चाहिएँ।

प्रक्षिप्त सूत्र अधिकरण

यहाँ से उन सूत्रों की व्याख्या आरम्भ होती है, जिनको हम प्रक्षिप्त मानते हैं। हमारा विचार है कि ये सूत्र कपिल मुनि द्वारा रचित नहीं हैं। सूत्र १-१७ और १-१९ के विषय में हम यथास्थान लिख आए हैं।

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥२०॥

पदच्छेद—न, अविद्यातः, अपि, अवस्तुना, बन्धायोगात्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—नहीं है अविद्या से भी (स्वभाव पर प्रभाव) अवस्तु होने (के कारण) बन्ध का योग नहीं बनता।

अभिप्राय यह है कि अविद्या से भी आसक्ति नहीं होती; क्योंकि यह वस्तु नहीं। इस सूत्र को हम प्रक्षिप्त इस कारण कहते हैं, क्योंकि विद्या के विषय में सूत्रकार ने अशुद्ध कथन किया है।

यदि अविद्या वस्तु नहीं तो क्या वे पदार्थ जिनका पहले वर्णन किया गया है, वस्तु हैं? पहले काल, कर्म, अवस्था इत्यादि को स्वभाव पर प्रभाव न डालनेवाला कहा गया है और वे भी वस्तु नहीं हैं। वहाँ उनके प्रभावहीन बताने में कारण उनका अवस्तु होना नहीं बताया।

साथ ही क्या विद्या वस्तु है? वास्तव में विद्या और अविद्या न वस्तु है और न अवस्तु। वरन् यो दो प्रकार के पदार्थों के ज्ञान के नाम हैं। अव्यक्त (मूल तत्त्वों के) ज्ञान को विद्या कहा जाता है। और विनाश होनेवाले (कार्य-जगत् के) पदार्थों के ज्ञान को अविद्या कहा है। इसी कारण वेद में कहा है—

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। (यजु० ४०-१४)

अर्थात्—जो विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर विद्या की सहायता से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

यदि अविद्या कुछ न होती तो उसको जानकर जन्म-मरण के बन्धन से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

वेद तो कहता है कि अविद्या को जानकर संसार को पार किया जा सकता है और इस सूत्र के लिखनेवाला कह रहा है कि आसक्ति के स्वभाव को छुड़ाने में अविद्या सहायक नहीं होती, क्योंकि यह इसका अस्तित्व नहीं है। कार्य-जगत् को अवस्तु मानने वाले (नवीन वेदान्ती) ही ऐसा कह सकते हैं।

यह सूत्र सांख्य-सिद्धान्त और वेद के विरुद्ध है।

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥२१॥

पदच्छेद—वस्तुत्वे, सिद्धान्त-हानिः॥

अर्थात्—अविद्या को वस्तु मानने से सिद्धान्त की हानि होगी।

किसको अवस्तु माना जा रहा है और किस सिद्धान्त की हानि होगी? वेद का सिद्धान्त तो हमने ऊपर बता दिया है। उसमें विद्या को संसार से पार पाने के लिए सहायक माना है। तो फिर यह किस सिद्धान्त की हानि मानता है?

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम।
विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः॥
अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पञ्चविंशकः॥

(म० भा० शान्ति० ३०७-१,२)

'हे नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सांख्य दर्शन की बात बतायी है। अब तुम

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझसे विद्या-अविद्या के विषय में क्रम से (सांख्य के कहे अनुसार) सुनो।

'रचना और प्रलय धर्म वाले अव्यक्त (प्रकृति) को अविद्या कहा है और रचना-प्रलय से मुक्त प्रकृति एवं पच्चीसवें तत्त्व (पुरुष) को विद्या कहा है।'

इस सूत्र में कहा है कि अविद्या को वस्तु मानेंगे तो सिद्धान्त की हानि होगी। उक्त उदाहरण से तो यह सिद्ध होता है कि वह सांख्य-सिद्धान्त नहीं जिसकी हानि होती है, वरन् कुछ और सिद्धान्त है। हम सांख्य-सिद्धान्त पर लिख रहे हैं। अतः यह सूत्र भी सांख्य-सिद्धान्त का विरोध होने से प्रक्षिप्त है। किन्तु यह अवश्य विचारणीय है कि हानि किस सिद्धान्त की होगी?

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥२२॥

पदच्छेद—च, विजातीय-द्वैतापत्तिः।

अर्थात्—'च' ऊपर के सूत्र का सम्बन्ध बताने के लिए है। ऊपर के सूत्र में कहा है कि अविद्या को वस्तु मान लेने से सिद्धान्त का विरोध होगा। इस सूत्र में कहा है—और विजातीय द्वैत की प्राप्ति होती है।

विजातीय विरोधी सिद्धान्त के लिए आया है। ऊपर कहा है कि सिद्धान्त की हानि होती है। यहाँ कहा है कि विरोधी सिद्धान्त की प्राप्ति होती है। विरोधी सिद्धान्त का नाम भी बता दिया है। द्वैत सिद्धान्त की आपत्ति के विषय में कहा है, अर्थात् इन सूत्रों (१-२०, २१,२२) के लिखनेवाला द्वैत के सिद्धान्त को विजातीय (विरोधी) सिद्धान्त मानता है।

द्वैत सिद्धान्त है पुरुष और प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं। ये दो हैं। यही सांख्य का सिद्धान्त है।[१] अद्वैत अर्थात् वह सिद्धान्त जिसको प्रक्षेपक मानता है, वह है प्रकृति-पुरुष को एक ही मानना। यह शंकर का नवीन वेदान्त है।

इससे यह स्पष्ट है कि इन सूत्रों के लिखनेवाला कोई शंकरपंथी है। सांख्य मत पुरुष-प्रकृति को पृथक्-पृथक् मानता है। सूत्र १-६१ में प्रकृति के चौबीस रूप बताए हैं। पच्चीसवाँ पुरुष पृथक् है। फिर सूत्र १-६६ में कहा है कि प्रकृति के संयोग पुरुष के लाभ के लिए हैं। इस प्रकार द्वैत मत सांख्य का है। प्रक्षेपक का मत सांख्य के विपरीत अद्वैत का है। अतः यह सूत्र भी प्रक्षिप्त है।

अद्वैत मत वेद-विरुद्ध भी है। वेद में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋग्० १-१६४-२०)

इसका अर्थ है कि एक वृक्ष (प्रकृति) पर आश्रित दो सुपर्ण अर्थात् चेतन तत्त्व हैं। एक चेतन तत्त्व उस वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है और दूसरा उसका भोग नहीं करता, केवल साक्षी मात्र है।

एक अन्य मन्त्र है—

---

१. सांख्य द्वैतवादी है। वह दोनों पुरुषों (परमात्मा और आत्मा) को लिखने में एक ले रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥

(अथर्व १०-८-१७)

इस मन्त्र का अर्थ है कि वर्तमान (कल्प) मध्यम (कल्पों) और पुरातन (कल्पों) में वेद के विद्वान्, वेदज्ञान को जाननेवाले, सूर्य की भाँति सबको अपने भीतर ले लेने वाले उस महान् पुरुष के विषय में वर्णन करते हैं। एक अन्य (जीवात्मा) का भी वर्णन किया करते हैं और त्रिगुणात्मक हंस समान (प्रकृति) के विषय में भी कहते हैं।

इस प्रकार अद्वैत-मत वेद-मत नहीं है।

प्रक्षेप करनेवाला अद्वैतवादी है। वह द्वैत की प्राप्ति से भयभीत है और इसे विरोधी सिद्धान्त मानता है। इस कारण हम इस सूत्र को भी प्रक्षिप्त मानते हैं। कपिल वेदानुयायी था और त्रैतवाद का अनन्य भक्त था।

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—चेत्, विरुद्ध-उभय-रूपा।

यदि कहो कि परस्पर-विरुद्ध दोनों रूपवाला (पदार्थ) है तो।

अर्थात्—एक ही पदार्थ में दो परस्पर-विरोधी गुण हैं। परस्पर-विरोधी क्या? विद्या-अविद्या, जड़-चेतन इत्यादि। सूत्र कहनेवाला कहता है कि यदि ऐसा कहें तो। उत्तर अगले सूत्र में दिया है।

न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—न्, तादृक् पदार्थ-अप्रतीतेः।

अर्थात्—नहीं है (ऐसा नहीं हो सकता) इस प्रकार का पदार्थ प्रतीत नहीं होता।

परन्तु संसार में परस्पर-विरोधी गुणवाले तो दिखाई देते हैं। एक पदार्थ में तो नहीं, किन्तु दो पदार्थ परस्पर-विरोधी गुण रखनेवाले मिलते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि विद्या भी है और अविद्या भी है। दोनों परस्पर-विरोधी हैं। इनमें क्या विरोध है? यह इस स्थान पर विचारणीय नहीं है। यहाँ तो इतने से ही प्रयोजन है कि विद्या भी है और अविद्या भी है। अपनी ही युक्ति से प्रक्षेपक अपने पूर्व के कथन के विरुद्ध कह गया है। उसने सूत्र १-२१ में कहा है कि अविद्या को वस्तु मानने से सिद्धान्त की हानि होगी। वर्तमान सूत्र में वह यह कह रहा है कि जहाँ परस्पर-विरोधी गुण हों, वहाँ दो पदार्थ मानने चाहिएँ, क्योंकि एक ही पदार्थ में दो परस्पर-विरोधी गुण नहीं हो सकते। विरोधी गुण तो हम देखते हैं। प्राणी है जो चेतन है। मेज़, कुर्सी, स्टूल इत्यादि हैं, परन्तु वे चेतन नहीं हैं। तब तो अद्वैत सिद्धान्त असिद्ध हो गया और द्वैत की स्थापना हो गई।

प्रक्षेपक ने अपने पक्ष का ही खण्डन कर दिया है। कपिल जैसा तार्किक ऐसा नहीं कर सकता। यह सूत्र भी प्रक्षिप्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—न, वयम्, षट्पदार्थवादिनः, वैशेषिकादिवत्।

अर्थात्—नहीं हैं हम छः पदार्थवादी की भाँति वैशेषिक (वैशेषिक दर्शन रचयिता) इत्यादि की भाँति।

सूत्र लिखने में 'हम' शब्द का प्रयोग दर्शन-शास्त्रों की शैली नहीं है। 'वयं' शब्द के अतिरिक्त भी यह कथन सांख्य-मतानुसार नहीं है। छः न सही, सांख्य-दर्शनाचार्य प्रकृति के चौबीस रूप तो मानता है।

सांख्य और वैशेषिक दर्शन में विवेच्य विषय का अन्तर है। इस कारण संसार के पदार्थ-समूह में सांख्य पच्चीस की गणना करता है और वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म की सामान्य और विशेष अवस्थाओं में छः पदार्थ मानता है। इनमें वैशेषिक का क्या अभिप्राय है? यह यहाँ विषयान्तर होगा, इस कारण यहाँ बताने से लाभ नहीं; परन्तु महत्, अहंकार इत्यादि पच्चीस की गणना सांख्य ने किसी अन्य दृष्टि से, तथा वैशेषिक ने छः पदार्थों की गणना किसी अन्य दृष्टि से की है। अतः परस्पर विरोध नहीं है। परन्तु प्रक्षेप करनेवाला न केवल सांख्य-सिद्धान्त का विरोध कर रहा है, वरन् वैशेषिक का भी विरोध करता प्रतीत होता है। शंकर-मतावलम्बी भी सांख्य और वैशेषिक की निन्दा करते हैं।[१] वैशेषिक का प्रवक्ता कपिल से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ था।

छहों वैदिक दर्शन-शास्त्र परस्पर-विरोधी नहीं हैं। अतः हमारा यह कहना है कि यह सूत्र भी किसी ने सांख्य दर्शन में प्रक्षेप किया है।

अनियतत्वे नायोक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादि समत्वम् ॥२६ ॥

पदच्छेद—अनियतत्वे, अपि, न, अयोक्तिकस्य, संग्रह, अन्यथा, बालोन्मत्तादि, समत्वम्।

अर्थात्—अनियत (संख्या में) पदार्थों को मानने पर भी अयुक्ति-युक्त संग्रह की बात हो जाएगी। ऐसा नहीं है। अन्यथा यह बालकों का प्रलाप मात्र होगा।

यह तो है कि इस कार्य-जगत् में पदार्थ अगणित संख्या में हैं। यद्यपि ये सब एक मूल प्रकृति से बने हैं, फिर भी हैं। इनको कहना कि नहीं हैं, मूर्खता होगी। इसके विपरीत प्रक्षेपक लिखता है कि अनियमित संख्या में पदार्थों को मानना उन्माद है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रक्षेपक पदार्थ और द्रव्य में भेद नहीं जानता। यही कारण है कि वह न तो सांख्य के सिद्धान्त को समझा है और न वैशेषिक को।

पंच महाभूतों से असंख्य वस्तुओं की सृष्टि हुई है। फिर भी सांख्य एक दृष्टि से सृष्टि में पदार्थ-समूह में पच्चीस गण गिनाता है, और वैशेषिक एक दूसरी दृष्टि से छः पदार्थों की गणना करता है। इन सूत्रों का प्रक्षेप करनेवाला या तो सांख्य से अनभिज्ञ है अथवा यह जान-बूझकर शास्त्र को अर्थहीन करने के लिए ऐसा कह रहा है

---

१. देखें ब्रह्मसूत्र शंकर-भाष्य, सूत्र ३-१-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य ॥ २७ ॥

पदच्छेद—न, अनादिविषयोपरागनिमित्ततः, अपि, अस्य।

अर्थात्—नहीं हैं अनादि विषयों के उपराग भी कारण इसका।

'अस्य' जीवात्मा के लिए आया है। जीवात्मा की आसक्ति के कारण अनादि से चले आनेवाले विषयों में लीन होना भी नहीं है। अथवा बहुत प्राचीन काल से अनादि विषय में लिप्तता भी जीवात्मा के जन्म-मरण के बन्धन में आने का कारण नहीं है।

वेद-मत इसके विपरीत है। वेद में कहा है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

(ऋ० १-१६४-२२)

अर्थात्—जिस प्रकृति में (शरीर में) स्वाद लेनेवाला (जीवात्मा) स्थित होता है और सन्तान उत्पन्न करता है (विषय-वासना में लिप्त रहता है), उसके विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह पके फलों को खाता है। उसके कर्म-फल नष्ट नहीं होते। वह पालक-परमात्मा को नहीं जानता।

इसका अभिप्राय यह है कि विषयों में लिप्त होने से जीवात्मा मोक्ष (अर्थात् त्रिविध दुःखों से निवृत्ति) को प्राप्त नहीं होता।

अद्वैतवादी जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। इस कारण उसका बन्ध में आना विषयों के कारण नहीं मानते। यहाँ भी सांख्य मत का विरोध है।

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्सुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८ ॥

पदच्छेद—न, बाह्याभ्यन्तरयोः, उपरञ्ज्योपरञ्जकभावः, अपि, देश व्यवधानात्, सुघ्नस्थ-पाटलिपुत्रस्थयोः, इव।

अर्थात्—जैसे सुघ्न में स्थित वस्तु और पाटलिपुत्र में स्थित वस्तु का एक-दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ सकता, वैसे ही बाहर और भीतर का राग में रंगे जानेवाले का भाव का भी स्थान में व्यवधान (अन्तर) होने के कारण प्रभाव नहीं हो सकता।

सुघ्न नगर में स्थित और पाटलिपुत्र में स्थित लुभायमान वस्तुओं की भाँति दूसरे स्थान पर स्थित वस्तुओं पर प्रभाव नहीं होता, वैसे ही बाहर की इन्द्रियों का राग में लिप्त होने से भीतर स्थित जीवात्मा पर प्रभाव नहीं होता।

सुघ्न प्राचीन काल में एक नगर था। इसके खण्डहर आज भी मिलते हैं। पाटलिपुत्र पटना का प्राचीन नाम है। दोनों में आठ-नौ सौ कि० मी० का अन्तर है। इस सूत्र का लिखनेवाला कहता है कि बाह्य शरीर (इन्द्रियाँ) और भीतर (आत्मा) में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि सुघ्न और पाटलिपुत्र में। दोनों में स्थान का अन्तर है। इस कारण इन्द्रियों के विषय में लिप्त होने से जीवात्मा लिप्त नहीं हो सकता। यह इस सूत्र के रचयिता का मत है।

यह नगर विशेष रूप से पाटलिपुत्र आज से ढाई सहस्र वर्ष पहले निर्माण हुआ

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। अभिप्राय यह है कि सूत्र के लिखनेवाला पाटलिपुत्र के बनने के बाद हुआ है। इससे इतना तो निस्संकोच ही कहा जा सकता है कि यह सूत्र ढाई सहस्र वर्ष के भीतर ही लिखा गया है।

परन्तु सांख्य तो गीता तथा महाभारत से भी पहले का लिखा ग्रन्थ है और गीता तथा महाभारत भारतीय परम्परा के अनुसार आज से पाँच सहस्र वर्ष पहले के लिखे हुए ग्रन्थ हैं।

इस ऐतिहासिक असंगति के अतिरिक्त भी यह अद्वैतवादियों के मत का प्रतिपादन है। वे ही मानते हैं कि सुख-दुःख इन्द्रियों को तथा मन को होता है, जीवात्मा को नहीं। उसे परमात्मा का ही स्वरूप माना जाता है।

सांख्य जीवात्मा को भोक्ता मानता है (देखें सांख्य १-१०४, १०५), अतः यह सूत्र भी प्रक्षिप्त है।

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥ २९ ॥

पदच्छेद—द्वयोः, एकदेशलब्धोपरागात् न, व्यवस्था।

अर्थात्—दोनों का (इन्द्रियों और आत्मा का) एक देश में हुए राग-सम्बन्ध से व्यवस्था नहीं, अर्थात् यह सम्भव नहीं।

शरीर (बाह्य इन्द्रियों) का विषय राग माना गया है। राग का अभिप्राय है लगाव। यह कहा गया है कि शरीर की विषयों की उपलब्धि से दूसरे (भीतर के आत्मा) पर प्रभाव नहीं पड़ता।

अद्वैतवादी जीवात्मा को परमात्मा का ही रूप मानते हैं और उसे अलिप्त मानते हैं। इसी कारण कहते हैं कि बाहर की इन्द्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि का भीतर आत्मा पर प्रभाव नहीं होता।

यह सूत्र (१-२९) पूर्वोक्त सूत्र (१-२८) का स्पष्टीकरण ही है। अतः हमारी आलोचना वही है जो हमने पूर्व-सूत्र पर की है।

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—अदृष्ट-वशात्, चेत्।

अर्थात्—अदृष्ट के वश से यदि कहो तो।

इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा अदृष्ट के वश (प्रभाव) से जन्म-मरण के बन्ध में आता है अथवा छूटता है। यदि ऐसा कहो तो (इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है।)

जो दिखाई न दे उसे अदृष्ट कहते हैं। यह माना जाता है कि कर्म तो दृष्ट हैं, परन्तु कर्मफल अदृष्ट है। इस कारण कर्मफल को अदृष्ट माना जाता है।

सूत्रकार कह रहा है कि यदि कर्मफल से जीवात्मा को बन्ध में मानें तो—(उत्तर अगले सूत्र में दिया है।)

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—न, द्वयोः, एक-काल-अयोगात्, उपकार्योपकारकभावः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—नहीं है दोनों का (अदृष्ट का और जीवात्मा का सम्बन्ध) एक-कालिक सम्बन्ध न होने से, उपकार्य और उपकारक भाव।

अभिप्राय यह है कि सूत्र १-२९ में जो कहा है कि इन्द्रियों के विषय जीवात्मा के बन्ध में कारण नहीं, यह कर्मफल का जीवात्मा से सम्बन्ध की भाँति नहीं है। कर्मफल का प्रभाव तो जीवात्मा पर पड़ता है, परन्तु इन्द्रियों के विषय का जीव के बन्ध पर प्रभाव नहीं, दोनों में स्थानान्तर होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों और जीवात्मा का एक स्थान पर न होने के कारण एक के विषय-रत होने से दूसरे के बन्ध पर प्रभाव नहीं (सूत्र १-२९) होता। यह अदृष्ट और जीवात्मा के सम्बन्धवत् नहीं। यहाँ सम्बन्ध एककालिक नहीं और इन्द्रियों के विषय और जीवात्मा में सम्बन्ध एककालिक है। वहाँ सम्बन्ध स्थानान्तर के कारण नहीं। परन्तु यह अशुद्ध है। यह हम सूत्र १-२८ के भाष्य में बता आए हैं। कपिल मुनि तो कहता है कि इन्द्रियों और मन के कर्म का प्रभाव जीवात्मा तक जाता है।

पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—पुत्रकर्मवत्, इति, चेत् ॥

अर्थात्—पुत्रकर्म की भाँति यदि कहो तो। (उत्तर अगले सूत्र में है।)

पुत्रकर्म का अभिप्राय है गर्भ में बच्चा बनने की भाँति।

सूत्रकार कहता है कि ऐसा भी नहीं। वह युक्ति अगले सूत्र में देता है।

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—न, अस्ति, हि, तत्र, स्थिर, एकात्मा, यः गर्भाधानादिना, संस्क्रियते।

अर्थात्—नहीं है (पुत्रकर्मवत्) क्योंकि वहाँ (पुत्रकर्म में) एक स्थिर आत्मा है जो गर्भाधानादि में (उपकार्य और उपकारक भाव नहीं रखता)।

संस्क्रियते का अर्थ है जो गर्भ में भली-भाँति किया जाता है (पलता है)।

सूत्रकार कह रहा है कि इन्द्रियों के विषय जीवात्मा में उपकार्य-उपकारक भाव नहीं रखते; क्योंकि दोनों में स्थान का अन्तर है। यह पुत्रकर्मवत् नहीं। क्योंकि पुत्रकर्म में, अर्थात् गर्भ में जो जीव बन रहा है उसमें, पूर्ण पालन के समय एक स्थिर जीवात्मा रहता है। इन्द्रियों के विषय और जीवात्मा में कोई एक आत्मा की स्थिति नहीं।

ऊपर के छः सूत्र (१-२८ से १-३३ तक) परस्पर सम्बन्धित हैं और इन सबमें एक ही बात सिद्ध करने का यत्न किया गया है। वह यह कि विषयरत इन्द्रियों का जीवात्मा के बन्ध अथवा मुक्त होने पर प्रभाव नहीं पड़ता। यह हम बता आए हैं कि सांख्य-सिद्धान्त के यह विपरीत है। इस कारण ये सब कपिल-रचित नहीं माने जा सकते।

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥३४॥

पदच्छेद—स्थिरकार्यासिद्धेः, क्षणिकत्वम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—स्थिर कार्य के सिद्ध न होने से क्षणिकत्व का सिद्धान्त सिद्ध होता है।

यह स्पष्ट नहीं कि यह सूत्र पूर्व-पक्ष में है अथवा प्रक्षेपक का अपना मत है। इसके साथ 'चेत्', 'न चेत्' इत्यादि शब्द न होने से सूत्र अधूरा प्रतीत होता है।

तदपि अगले सूत्र में 'न' शब्द होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूत्र प्रक्षेपक ने पूर्व-पक्ष में कहा है।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि कार्य-पदार्थ स्थिर नहीं। महत् से अहंकार, अहंकार से पंच महाभूत और इनसे आगे अनेकानेक पदार्थ, अर्थात् परिणामों की शृंखला चलती है। कोई परिणाम स्थिर नहीं है।

इसको समझाने में दीपक की लौ का उदाहरण लेते हैं। यह देखने में स्थिर-रूप प्रतीत होती है, वास्तव में यह स्थिर नहीं है। इसमें प्रतिक्षण तैल के नए-नए कण आते रहते हैं और जलते चले जाते हैं। अतः सूत्रकार (प्रक्षेपक) कहता है कि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहे हैं, अर्थात् जगत् में क्षणिकत्व है।

यह 'बौद्ध' सिद्धान्त भी मिथ्या है। कहा नहीं जा सकता कि प्रक्षेपक ने इसे वर्तमान प्रसंग में किस प्रकार कह दिया है? यह विषयान्तर है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सूत्रों में पुत्रकर्म इत्यादि जो बात कही गयी है, उससे नास्तिकता सिद्ध होती है और सूत्रकार (प्रक्षेपक) को भय लग गया कि वह जीवात्मा पर कर्म तथा कर्मफल का प्रभाव असिद्ध करते-करते बौद्ध मत को ही सिद्ध कर रहा है। इस कारण इस सूत्र में बौद्ध मत का, क्षणिकत्व के सिद्धान्त का खण्डन करने लगा है।

यह तो सिद्ध ही है कि अनीश्वरवाद और अद्वैतवाद एक ही मुद्रा के दो पक्ष हैं। जगत् में जड़ तथा चेतन दोनों की उपस्थिति दिखाई देती है। मूल पदार्थ एक ही है। तो जड़ से चेतन और चेतन से जड़ में परिवर्तन मानना पड़ेगा। प्रथम क्या है, कहा नहीं जा सकता। इस कारण अद्वैतवाद को मानने से अनीश्वरवादिता और ईश्वरवादिता में अन्तर नहीं रहेगा। अतः प्रक्षेपक अद्वैत मत को सिद्ध करता-करता बौद्ध मत (अनीश्वरवादिता) को सिद्ध करने लगा था।

यह है कारण अप्रासंगिक बौद्ध सिद्धान्तों को यहाँ ले आने का। प्रक्षेपक ही इस 'क्षणिकत्व' का खण्डन करता है।

वह कहता है—

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—प्रत्यभिज्ञाबाधात्, न।

अर्थात्—प्रत्यक्ष ज्ञान की बाधा होगी, इस कारण ऐसा नहीं।

पहले के समय में अनुभव किये ज्ञान को कालान्तर में स्मरण रखना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। किसी ने बाल्यकाल में कुछ देखा अथवा सुना था। युवावस्था में वह उसे स्मरण रखता है। इससे 'क्षणिकत्व' का सिद्धान्त सत्य प्रतीत नहीं होता। कुछ है जो स्थिर भी है। वही एक समय का ज्ञान दूसरे समय में ले जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु न तो क्षणिकत्ववादी और न प्रक्षेपक जीवात्मा को मानते हैं। प्रक्षेपक भी कह चुका है कि एक स्थिर एकात्मा (सूत्र १-३३) है। अतः ये एक-दूसरे का उत्तर भली-भाँति नहीं दे सकते। क्षणिकत्व का उत्तर इस परिणामी संसार में एक स्थिर आत्मा मानने से ही दिया जा सकता है। इस प्रकार ही इस वाद की त्रुटि का वर्णन किया जा सकता है।

अपने उक्त उत्तर को अपर्याप्त समझ प्रक्षेपक वेद का आश्रय लेता है। वह कहता है—

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—श्रुतिन्यायविरोधात्, च।

अर्थात्—और श्रुति तथा युक्ति पूर्व-(क्षणिकत्व)-सिद्धान्त का विरोध करते हैं। यह ठीक है। वेद में जीवात्मा को अनादि और अक्षर माना है। एक मन्त्र इस प्रकार है—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥

(ऋग्० ६-९-५)

ज्योतिः—चेतन। निहितं—स्थित है। दृशये—देखने के लिए। ध्रुवं—स्थिर, नित्य। कम्—किन्तु। मनः—मन। जविष्ठं—अति वेगवान्। पतयत्सु—गति करनेवाला प्राण। अन्तः—देह के भीतर। विश्वे देवाः—सब शरीर के दिव्य गुण युक्त पदार्थ। समनसः—मन के साथ। सकेता—ज्ञानयुक्त होकर। एकं—एक ही। क्रतुम् अभि—कार्य करनेवाला। वि यन्ति साधु—भली प्रकार जाता (कार्य करता) है।

जीवात्मा के स्थिर अर्थात् नित्य होने में युक्ति भी है। प्रारब्ध-फल सबसे बड़ा प्रमाण है। यही प्रत्यभिज्ञा का कारण है।

न्याय का अभिप्राय युक्ति से है। प्रारब्ध-फल प्रत्यभिज्ञा है। प्रक्षेपक अदृष्टवशात् को असिद्ध करने के लिए एक अन्य युक्ति देता है।

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—च, दृष्टान्त-असिद्धेः।

अर्थात्—दृष्टान्त के सिद्ध न होने से (उक्त बात ग़लत है)। अभिप्राय यह कि अदृष्टों का जीवात्मा को बाँधने में कुछ प्रभाव नहीं है।

प्रक्षेपक ने अभी तक एक ही दृष्टान्त दिया है और हम इसे अनुपयुक्त तो पहले ही कह चुके हैं। सूत्रकार ने कहा है कि नहीं है पुत्र-कर्म और पुत्र में कारण-कार्य का सम्बन्ध। प्रश्न है कि अब वह कौन-सा दृष्टान्त असिद्ध कर रहा है? उसने बताया नहीं। साथ ही असिद्ध करने में कोई युक्ति नहीं दी।

इस पर कुछ-एक भाष्यकार दीप-शिखा की बात ले बैठे हैं। यह सूत्रकार का दिया दृष्टान्त नहीं। इस कारण हम समझते हैं कि सूत्रकार का यह अभिप्राय नहीं। सूत्रकार भला भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विषय में कैसे कुछ कह सकता है!

आगे कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—युगपत्-जायमानयोः न, कार्यकारणभावः ।

अर्थात्—युगपत्—एक ही समय में उत्पन्न होनेवाले दो (कार्य और कारण) नहीं होते ।

यह कहा जाता है कि जगत् का एक ही समय में आविर्भाव हुआ, इस कारण इनमें कारण और कार्य-भाव नहीं हो सकता ।

जगत् का एक ही समय में होना सांख्य-सिद्धान्त के विपरीत है । वहाँ प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकारों से पञ्च महाभूतादि बने । ये एक-दूसरे के उपरान्त बने । अतः युगपत् का सिद्धान्त सांख्य का नहीं है ।

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—पूर्वापाये, उत्तर-अयोगात् ।

अर्थात्—पहले की वस्तु का विनाश होने पर आगे होने वाली वस्तु का सम्बन्ध न होने से (कार्य-कारण के भाव की सिद्धि नहीं) ।

कारण-कार्य के अभाव को अद्वैतवादी ही मानते हैं । वे कहते हैं कि इस जगत् की रचना हुई ही नहीं । यह भ्रम है । सांख्य इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता । वह कार्य-जगत् की रचना का होना मानता है ।

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥ ४० ॥

पदच्छेद—तद्भावे, तत्-अयोगात्, उभय-व्यभिचारात्, अपि, न ।

अर्थात्—उसके भाव (होने) में उस (कार्य) का योग न होने से व्यभिचार-दोष के आ जाने से भी (यह) ठीक नहीं ।

व्यभिचारात् का अर्थ है असंगति-दोष आ जाने से । यह कहा है कि जब कारण का होना मानें तो कार्य का योग नहीं होता । यह बात पूर्व के सूत्र में भी कही है । यहाँ कहा है कि दोनों को न मानने से व्यभिचार अर्थात् असंगति-दोष भी आ जाएगा ।

अद्वैतवादी कहते हैं कि जगत् बना ही नहीं । जब जगत् बना ही नहीं तो न कारण है और न कार्य । इस बात को अद्वैतवाद के परमगुरु गौड़पादाचार्य अपनी एक कारिका में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥

(गौ० का० १-१७)

अर्थात्—प्रपंच (कार्य-जगत्) यदि होता तो निवर्त (विनष्ट) हो जाता, इसमें संदेह नहीं । यह (कार्य जगत्) द्वैत तो माया मात्र है । अद्वैत परम अर्थ अर्थात् वास्तविक तत्त्व है ।

यही बात इन सूत्रों का प्रक्षेप करनेवाला कह रहा है । उसका कहना है कि कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है, अतः कारण भी नहीं है। कुछ बना ही नहीं तो कार्य-कारण-भाव मानने से व्यभिचार-दोष आ जाएगा। यह हम ऊपर बता आए हैं कि सांख्य तो कारण-कार्य-भाव मानता है। (देखो सांख्य १-११२)

वेद में भी कहा है—

तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋ० १०-१२९-३)

पहले वह तममय था। न जाना जाने योग्य। यह सर्वथा सलिल था। जो इस तुच्छ से चारों ओर से ढका हुआ है, वह तप की महिमा से उत्पन्न हुआ।

यहाँ स्पष्ट रूप में कहा है कि प्रकृति का आदिरूप सूक्ष्म था, चारों ओर से ढका हुआ। महान् महिमामय तपस से यह (जगत्) उत्पन्न हुआ।

यह सूत्र भी प्रक्षिप्त है।

अब प्रक्षेपक पुनः बौद्ध-मतानुसार पूर्व-पक्ष उपस्थित करता है—

पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—पूर्वभावमात्रे, नियमः, न।

अर्थात्—पूर्व में होना-मात्र उसके कारण होने का नियम नहीं, अर्थात् यह नियम नहीं कि सत् से असत् हुआ है।

बौद्ध मतावलम्बी यह आक्षेप अद्वैतवादियों पर करते हैं। बौद्ध मत वालों का कहना है कि वह (बौद्ध) परमात्मा को तो मान लेते हैं, परन्तु उससे कुछ बना नहीं। अद्वैतवादी भी यही मानते हैं, (जैसा गौ० का० १-१७ में कहा है और हमने ऊपर लिखा है।) बौद्ध कहते हैं कि यदि ऐसा मानें तो यह आवश्यक नहीं कि पूर्व में कोई पदार्थ था और उसका परिणाम अवश्य है।

प्रक्षेपक इस कथन का उत्तर देता है। पहले हम प्रक्षेपक का उत्तर लिखेंगे, फिर बताएँगे कि यह कैसे सांख्य-सिद्धान्त के विपरीत है।

उक्त पूर्व-पक्ष के उत्तर में प्रक्षेपक कहता है—

न विज्ञानमात्रं बाह्य प्रतीतेः ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—न, विज्ञानमात्रम्, बाह्य, प्रतीतेः।

अर्थात्—नहीं है विज्ञान मात्र (क्योंकि) बाहर जो दिखाई देता है।

शून्यवादी बौद्ध अपने मत का स्पष्टीकरण विज्ञान के अस्तित्व को मानकर करते हैं। वे कहते हैं कि शून्य में विज्ञान अर्थात् विचार मात्र ही है। उसके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। इस कारण वे जगत् अवस्तु से उत्पन्न हुआ मानते हैं।

सूत्रकार (प्रक्षेपक) कहता है कि बाहर का जगत् तो दिखाई देता है। यदि विज्ञान (अवस्तु) जगत् का कारण है तो जगत् भी अवस्तु होना चाहिए, परन्तु यह अवस्तु प्रतीत नहीं होता। इस कारण विज्ञान मात्र से जगत् का बनना युक्तियुक्त नहीं। सामान्य शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बौद्ध मत वालों का कहना है कि जो कुछ हम देखते हैं, वह कल्पना-मात्र है। प्रक्षेपक कहता है कि दिखाई तो देता है। वह कहता है—

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—तत्, अभावे, तत्, अभावात्, शून्यं, तर्हि।

अर्थात्—उन (बाहर के पदार्थों) का अभाव (मानने) में तो उस (विज्ञान) का भी अभाव हो जाएगा।

बात वही है जो ऊपर कही जा चुकी है। वह यह कि शून्य और विज्ञान अवस्तु है और अवस्तु से अवस्तु ही बन सकती है।

बौद्ध मतावलम्बी कहता है—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—शून्यं, तत्त्वं, भावः, विनश्यति, वस्तु, धर्मत्वात्, विनाशस्य।

अर्थात्—(यदि) शून्य तत्त्व है तो वह (भाव) विनाश को प्राप्त होता है, विनाश होना वस्तु का धर्म होने से।

प्रक्षेपक उत्तर देता है—

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—अपवादमात्रम्, अबुद्धानाम्।

अर्थात्—(उक्त वचन) अपवाद (अयुक्त कथन) है। यह मूर्खों की बात है। अयुक्त बात यह है कि शून्य का भी नाश होता है। जो है ही नहीं, उसका नाश कैसे होगा?

प्रक्षेपक अपनी बात को और आगे कहता है—

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—उभयपक्ष, समानक्षेमत्वात्, अयम्, अपि।

अर्थात्—दोनों (बौद्ध) पक्षों में समान विचार होने से यह भी (अमान्य) है। बौद्धों के दो मतों, क्षणिकवाद और विज्ञानवाद जिसे योगाचार भी कहते हैं, समान प्रकार के विचार होने से त्यागने योग्य हैं। प्रक्षेपक ने दोनों का उत्तर अपने मन से दिया है। क्षणिकवाद का उत्तर उसने प्रत्यभिज्ञा से दिया है और विज्ञानवाद का उत्तर उसने शून्य के नष्ट होने को अपवाद (अयुक्त कथन) कहकर दिया है।

और भी कहा है—

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—अपुरुषार्थत्वम्, उभयथा।

अर्थात्—दोनों प्रकार के पुरुषार्थ का अभाव होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थ के दो अर्थ हैं—परिश्रम करना; इसका अर्थ मोक्ष-प्राप्ति भी है। प्रक्षेपक का कहना है कि शून्यवाद और क्षणिकवाद दोनों को स्वीकार करने से पुरुषार्थ का अभाव हो जाएगा तथा मोक्ष-प्राप्ति की बात निरर्थक हो जाएगी, अर्थात् इस लोक में किसी प्रकार का प्रयत्न करने का भी कुछ अर्थ नहीं रह जाएगा। बौद्धों की मुक्ति निर्वाण में मानी जाती है। उसके लिए भी कुछ अर्थ नहीं रहेगा।

जगत् में जब जीवन का अन्त शून्यता है, तब कोई क्यों न वर्तमान में अधिक से अधिक सुख-प्राप्ति के लिए येन-केन-प्रकारेण संलग्न रहे? साथ ही यदि यह जगत् विज्ञानमय है अर्थात् इसका अस्तित्व नहीं, तो फिर किसी भी कष्टदायक कार्य को करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥

पदच्छेद—न, गति-विशेषात्।

अर्थात्—गति की विशेषता से नहीं।

'नहीं है' से अभिप्राय है क्षणिकवाद और विज्ञानवाद। ये दोनों सिद्ध नहीं होते, क्योंकि गति विशेष है। गति का अभिप्राय है जीवात्मा के मरण-जन्म अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में जाने से। बौद्ध जन्म-जन्मान्तर को मानते हैं। परन्तु क्षणिकवाद और विज्ञानवाद को मानने से विशेष गति अर्थात् विशेष व्यवहार का कुछ अर्थ नहीं रह जाता।

इस प्रकार सूत्रकार एक अन्य युक्ति देता है—

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

पदच्छेद—निष्क्रियस्य, तत्, असम्भवात्।

अर्थात्—तत् का अर्थ है वह गति जिसका पूर्व-सूत्र में उल्लेख है। यह असम्भव होगी। इस सूत्र में निष्क्रिय से अभिप्राय पूर्व में वर्णित बौद्ध सिद्धान्तों से ही है। क्षणिकत्व और शून्यवाद जिसका दूसरा नाम विज्ञानवाद कहा है, दोनों को निष्क्रिय इस कारण कहा है कि इसमें कुछ सम्पन्न नहीं होता—न क्षणिकवाद में और न ही शून्यवाद में। कुछ सम्पन्न न करनेवाले होने से ये निष्क्रिय कहे हैं। ऐसा मानने से जन्म-मरण अर्थात् देह बदलना नहीं हो सकता।

इन सूत्रों का रचयिता आगे कहता है—

मूर्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥ ५० ॥

पदच्छेद—मूर्तत्वात्, घटादिवत्, समानधर्मापत्तौ, अपसिद्धान्तः।

अर्थात्—मूर्त अर्थात् स्वरूपवान् होने के कारण घटादि की भाँति समान धर्म की प्राप्ति होने पर ग़लत सिद्धान्त हो जाएगा।

शून्य अथवा एक अवस्तु से स्वरूपवान् पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कारण और कार्य के धर्मों में समानता होनी चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्त ग़लत हैं, अर्थात् अयुक्तिसंगत हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा यह मत है कि ये सब सूत्र असंगत ही हैं। इनमें से प्रायः सांख्य-सिद्धान्त के विपरीत हैं। जो बौद्धमत के विरुद्ध हैं, वे ठीक होते हुए भी सांख्य दर्शन का अंग नहीं हो सकते। कारण यह कि बौद्ध मत की स्थापना सांख्य दर्शन के लिखे जाने के बहुत पीछे हुई है।

सांख्य का वर्णन महाभारत में मिलता है और बौद्ध मत महाभारत की रचना के बहुत बाद में कल्पित किया गया है।

वास्तव में अद्वैतवाद के बहुत समीप होने के कारण सूत्रकार द्वैत का खण्डन करता-करता बौद्ध मत का समर्थन करता अनुभव करने लगा था। इस कारण इसने बौद्ध मत का भी खण्डन कर दिया है।

ये सूत्र किसी अद्वैतवादी ने लिखे हैं। यह ऊपर के सूत्रों की व्याख्या करते हुए, विशेष रूप में सूत्र १-२२ और उसके उपरान्त आनेवाले सूत्रों की व्याख्या में हमने स्पष्ट कर दिया है। सांख्य त्रैतवादी है, अर्थात् यह जगत् के तीन मूल कारण मानता है। इस कारण ये सब सूत्र किसी अद्वैतवादी ने सांख्य दर्शन से अपना मत प्रतिपादित करने के लिए सम्मिलित किए हैं। परन्तु पूर्ण सांख्य दर्शन के अवलोकन से यह दर्शन अद्वैतवाद का खण्डन करना प्रतीत होता है।

प्रक्षिप्त सूत्र अभी और भी हैं।

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—गतिश्रुतिः, अपि, उपाधियोगात्, आकाशवत् ।

अर्थात्—वेद में जीवात्मा की गति का वर्णन है, आकाश की भाँति उपाधि-योग से।

यह उदाहरण अद्वैतवादी देते हैं। जैसे आकाश समान रूप में सर्वत्र विद्यमान है, परन्तु जिस वस्तु में यह विद्यमान होता है उसका ही रूप यह धारण कर लेता है। आकाश घड़े में भी है और लोटे में भी है, साथ ही यह उस पदार्थ के साथ जाता दिखाई देता है। वास्तव में आकाश तो सर्वव्यापक होने के कारण कहीं आता-जाता नहीं। यह वस्तु ही हिलती-डुलती है।

यह युक्ति है अद्वैतवादियों की संसार में भिन्नता दिखाई देने की। प्रक्षेपक कहता है कि जन्म-मरण तो होता है, परन्तु यह ऐसे ही है जैसे कि घड़े में आकाश कुएँ में ऊपर-नीचे जाता है, अर्थात् परमात्मा ही सब-कुछ है। उपाधि-भेद से ही पृथक्-पृथक् जीव-जन्तुओं में अथवा पदार्थों में भेद-भाव दिखाई देता है।

यह शंकरपंथी अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। न यह श्रुति में है और न ही यह सांख्य दर्शन के अनुसार है। सांख्य दर्शन के कहनेवाला तो प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानता है। इसे वह सर्वव्यापक परमात्मा से पृथक् मानता है। साथ ही वह जीवात्मा को, जो घड़े को भी देखता है, परमात्मा को भी देखता है, पृथक् मानता है।

श्रुति कहती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थात्—दो सुन्दर गति वाले, सहयोग करने वाले और सहभाव वाले एक वृक्ष (प्रकृति) पर स्थित हैं। उन दो में से एक वृक्ष के पके फल स्वाद से खाता है और दूसरा साक्षी मात्र देखता है।

इस वेद-मन्त्र में तीन पदार्थ पृथक्-पृथक् कहे हैं। कहीं उपाधि योग की बात नहीं कही। हाँ, शंकरपंथी अद्वैतवादी यह मानते हैं कि उपाधि योग से परमात्मा ही जीवात्मा इत्यादि प्रतीत होता है। यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी है और वहाँ इस पर भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

तयोरन्योऽविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःख-लक्षणं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते।

स्वामी जी के इस कथन का अर्थ इस प्रकार है—

अविद्या काम और वासनाओं के आश्रयभूत लिङ्-देहरूप उपाधिवाला विज्ञानात्मा अविवेकवश उसके स्वादु अनेक विचित्र वेदनारूप स्वादवाले पिप्पल सुख-दुःखरूप कर्मफलों को भोगता है तथा अन्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव परमात्मा उन्हें न भोगता हुआ उन सभी को देखता रहता है।

स्वामी जी यह प्रकट कर रहे हैं कि वेद-मन्त्र में यह लिखा है कि परमात्मा विज्ञानात्मा को देखता है कि वह उपाधि-भेद में लिङ्गरूपी शरीर धारण कर वासनाओं के अधीन अविद्या और कामवश प्रकृति के फलों को खाता है।

परमात्मा जो उपाधि-रहित है वही उपाधि-भेद से विज्ञानात्मा हो जाता है और फिर अविद्या और प्रकृति के फलों को खाता है।

अर्थात् स्वामी शंकराचार्य जी की कल्पना का परमात्मा उपाधि से अविद्यायुक्त हो जाता है, कामाभिभूत हो जाता है और प्रकृति का भोग करता है।

हमारा यह कहना है कि इस मन्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा गया और न ही सांख्य-दर्शन में कहीं ऐसा कहा है। यह अद्वैतवादियों का स्वकल्पित सिद्धान्त है और ऐसा होने से ये सूत्र किसी अद्वैतवादी ने सांख्य में पीछे मिलाए हैं।

न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात् ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—न, कर्मणा, अपि, अतत्-धर्मत्वात्।

अर्थात्—कर्म से भी उसका धर्म न होने से।

कर्म से क्या? आत्मा का जन्म-मरण में बन्ध। दूसरे शब्दों में यह कहा है कि कर्म से दुःखों की निवृत्ति नहीं होती। इसमें कारण यह बताया है कि कर्म करना उसका धर्म नहीं है।

कर्म तो जीवात्मा का धर्म है। सांख्य और न्याय दर्शन ऐसा ही मानते हैं। हाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवादी जो परमात्मा का एक स्वरूप ही जीवात्मा को मानते हैं, वे कहते हैं कि कर्म मन और बुद्धि करते हैं। इस कारण यह जीवात्मा को बाँधता नहीं।

न्याय दर्शन में जीवात्मा का लिङ्ग अर्थात् उसकी पहचान इस प्रकार आई है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ *(न्याय १-१०)*

अर्थात्—इच्छा करना, द्वेष (विपरीत परिस्थिति का विरोध), प्रयत्न, सुख-दुःख अनुभव करना, ज्ञान (चेतना), ये आत्मा के लिङ्ग हैं, अर्थात् इनको देखकर आत्मा की प्राणी में उपस्थिति का पता चलता है।

सांख्य भी इस सूत्र का विरोध करता है। (देखो सूत्र १-१०५, १०६, १०७)

अतएव यह सूत्र भी किसी अद्वैतवादी द्वारा प्रक्षिप्त है। आगे कहा है—

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥ ५३ ॥

पदच्छेद—अति, प्रसक्तिः, अन्य, धर्मत्वे।

अर्थात्—अत्यन्त लिप्तता दूसरे का धर्म होने से।

इस प्रक्षिप्त सूत्र में युक्ति दी है, कहा है कि प्राणी में किसी अन्य के धर्म से प्राणी में लिप्तता हो जाएगी।

परमात्मा को तो प्रकृति से अलिप्त माना है, परन्तु जीवात्मा को लिप्त माना है। यह तो ऊपर कहे वेद-मन्त्र के उदाहरण में स्पष्ट है। अद्वैतवादी जीवात्मा को भी उपाधि योग से परमात्मा ही मानते हैं। इसी कारण वे कहते हैं कि प्राणी में लिप्तता मन और बुद्धि से होती है। यदि यह जीवात्मा में भी कर्म मानेंगे तो इसमें लिप्तता का दोष आ जाएगा।

सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध होने से हम इसे भी प्रक्षिप्त ही मानते हैं। प्रश्न यह है कि मन-बुद्धि क्या परमात्मा से भिन्न है?

निर्गुणादि श्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥

पदच्छेद—निर्गुणादि-श्रुतिविरोधः, च, इति ।

अर्थात्—जीवात्मा निर्गुणादि है, इस कारण इसका बन्धन में आना मानने से श्रुति का विरोध करना होगा।

परन्तु क्या जीवात्मा निर्गुण है? जीवात्मा की जो पहचान न्याय दर्शन में बताई है, वह बिना गुणों के कैसे हो सकती है?

वास्तव में प्रक्षेपक जीवात्मा और परमात्मा को एक मान रहा है। उपनिषदों में परमात्मा को जहाँ असंग और निर्गुण कहा है, वहाँ प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के विषय में कहा है।

वैसे परमात्मा के अपने गुण हैं। जीवात्मा के भी अपने गुण हैं और प्रकृति के गुण सत्त्व, रजस् तथा तमस् बताये हैं। ये प्रकृति के तीनों गुण परमात्मा तथा जीवात्मा में नहीं माने जाते।

परमात्मा के गुणों के विषय में वेद ने कहा है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०-८)

अर्थात्—वह (परमात्मा) सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अकाय अर्थात् अव्यक्त, छिद्ररहित अर्थात् एकरस, शुद्ध, पाप से रहित अर्थात् सदा कल्याण करनेवाला है। वह सर्वज्ञ, सबके मनों को जाननेवाला, दुष्टों का नाश करनेवाला, अपने-आप ही प्रकट होने वाला, यथार्थ ज्ञान का देनेवाला और सबको यथावत् बतानेवाला शाश्वत और सबको समान रूप से देखनेवाला है।

जीवात्मा के लक्षण हम न्यायदर्शन के अनुसार पहले बता चुके हैं। अतः यह सूत्र सांख्य और वेद-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

इस सूत्र के अन्त में 'इति' शब्द आया है। इससे भी यही प्रकट होता है कि उक्त ३६ प्रक्षिप्त सूत्रों का प्रक्षेप यहाँ समाप्त होता है।

अविवेकोच्छेद अधिकरण

यहाँ हम सूत्र-संख्या १-१८ की शृंखला को आगे ले-जा रहे हैं। सूत्र-संख्या १-१८ और उससे पूर्व के सूत्रों में कहा है—

जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध (अलिप्त) है, परन्तु प्रकृति का स्वाद इसे अपने में लिप्त कर लेता है। जब इसका स्वभाव लिप्तता का बन जाता है तो यह सुगमता से मिट नहीं सकता। इस स्वभाव की उपस्थिति में मुक्ति प्राप्त करने के उपदेश का प्रभाव नहीं होता। देश, काल, अवस्था और जड़ प्रकृति भी इसे उस स्वभाव से हटा नहीं सकते। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह स्वभाव किस प्रकार बदल सकता है? उसके लिए अगला सूत्र कहा है—

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥

पदच्छेद—तद्योगः, अपि, अविवेकात्, न, समानत्वम्।

यह (जीवात्मा का प्रकृति से) योग भी अविवेक से होता है। यह योग (देश, काल, अवस्था और कर्म के योग के) समान नहीं।

अर्थात् प्रकृति से योग वैसा नहीं, जैसा उक्त देशादि का योग होता है। यह जीवात्मा सुख की इच्छा के वशीभूत होकर योग करता है। देश, कालादि से योग तो सामान्य योग है जो मनुष्य के चाहने न चाहने से, सम्बन्ध नहीं रखता।

जन्म-मरण का बन्ध प्रकृति के योग से होता है और प्रकृति का योग अविवेक से होता है। इसके विपरीत अर्थात् प्रकृति से बन्ध छूटता है विवेक से।

विवेक क्या है? यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है। विवेक के अर्थ मोनियर विलियम अपने शब्दकोष में इस प्रकार लिखते हैं—

विवेक—discrimination, distinction, consideration, discussion,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

investigation – true knowledge, discretion, right judgement, the faculty of distinguishing and classifying things according to their real properties, the power of separating the imperishable spirit from the perishable world.

इन सब का निष्कर्ष है—सत्य ज्ञान (जगत् का और पुरुष का)।

अतः सूत्रार्थ बनता है कि सत्य ज्ञान के विलुप्त होने से ही जीवात्मा का प्रकृति से योग होता है और सत्य ज्ञान से ही बन्ध छूटता है।

प्रकृति से योग, देश-काल इत्यादि के योग से भिन्न है। दोनों में समानता नहीं। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी अत्यावश्यक है कि सत्य ज्ञान का अर्थ है कार्य-जगत् और पुरुष का ज्ञान।

वेद का एक मन्त्र है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ *(यजु० ४०-१४)*

अर्थात्—विद्या (अनादि, अक्षर पदार्थों का ज्ञान) और अविद्या (क्षर पदार्थों का ज्ञान), दोनों को साथ-साथ जानना चाहिए। अविद्या से इस जगत् से पार पाया जा सकता है और विद्या से अमृत (मोक्ष) प्राप्त होता है।

दूसरे शब्दों में विद्या और अविद्या दोनों के सत्य ज्ञान का नाम विवेक है।

तनिक सूत्र १-१८ के उपरान्त सूत्र १-५५ पढ़ें तो पता चलेगा कि दोनों सूत्र शृंखला-बद्ध हैं, एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

यह हमारी सबसे प्रबल युक्ति है कि बीच के सूत्र (१-१९ से १-५४ तक) प्रक्षिप्त हैं।

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥

पदच्छेद—नियत, कारणात्, तत्, उच्छित्तिः, ध्वान्तवत्।

अर्थात्—नियत कारण से उसका उच्छेद होता है, अन्धकार की भाँति।

अन्धकार का उच्छेद (नाश) एक नियत कारण से होता है, अर्थात् प्रकाश किये बिना अन्धकार हटता नहीं। इसी प्रकार उच्छेद (बन्ध का उच्छेद) यथार्थ ज्ञान से ही होता है।

हमने वेद-प्रमाण से बताया है कि यथार्थ ज्ञान से अभिप्राय है जगत् के दृश्यमान पदार्थ तथा अदृश्यमान पदार्थ, दोनों का ज्ञान।

अतः सूत्र का अर्थ है कि वास्तविक ज्ञान से अविवेक दूर होता है। वास्तविक ज्ञान इस संसार के ज्ञान और संसार के मूल तत्त्वों के ज्ञान तथा दोनों में सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥ ५७ ॥

पदच्छेद—प्रधान, अविवेकात्, अन्य-अविवेकस्य, तद्धाने, हानम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—प्रधान अविवेक से दूसरे अविवेक की (उत्पत्ति होती है)। इस (पहले अविवेक) की हानि (नाश) पर दूसरे (अविवेक की भी) हानि होती है।

'हानम्' का अर्थ है नाश ।

प्रधान का अभिप्राय है मुख्य और दूसरों से अभिप्राय है सामान्य, अर्थात् मुख्य अज्ञान दूर हो जाये तो छोटी-छोटी अज्ञान की बातें दूर हो जाती हैं।

मुख्य अविवेक है चेतन-अचेतन में भेद न जानना। जो यह जान जाता है उसके अन्य सामान्य अज्ञान भी छूट जाते हैं। सामान्य अविवेक है संसार के पदार्थों से अथवा सांसारिक सम्बन्धों से मोह-ममता।

अतः सूत्रकार का अभिप्राय है कि मुख्य अविवेक—चेतन-अचेतन में भेद दूर करने का यत्न करना चाहिए। शेष अज्ञान तो स्वतः दूर हो जाता है।

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

पदच्छेद—वाङ्मात्रम्, न, तु, तत्त्वम्, चित्तस्थितेः ।

अर्थात्—कहना मात्र है और तत्त्व नहीं है, चित्त की स्थिति में कारण।

कथन मात्र क्या है? जो ऊपर के सूत्र में कहा गया है, अर्थात् प्रधान अविवेक के दूर हो जाने से सामान्य अविवेक स्वतः दूर हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि कहा तो जाये, परन्तु चित्त की स्थिति न बदले। इस न बदलने के कारण यह कहना मात्र ही होगा।

इसका अर्थ यह है कि जब तक विवेक चित्त की उचित स्थिति के कारण न हो तब तक यह कहना मात्र ही होगा कि प्रधान अविवेक से सामान्य अविवेक बदल गये हैं।

प्रश्न यह है कि उचित चित्त की स्थिति से यहाँ क्या अभिप्राय है? इसके विषय में योग दर्शन में कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ *(योग० १-२)*

अर्थात्—चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है। वृत्ति का अभिप्राय भी योग दर्शन में इस प्रकार है—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ *(योग० १-४)*

अर्थात्—वृत्ति की समानरूपता को व्युत्थान की अवस्था कहते हैं। इसे लिप्तता की अवस्था भी कहा जाता है।

संसार में लिप्त तो जीवात्मा होता है। कपिल मुनि ने अभी तक जो कुछ बताया है वह जीवात्मा की लिप्तता के विषय में बताया है। इससे यह कहा जा सकता है कि चित्त की वृत्तियों के परिणामस्वरूप जीवात्मा ही लिप्त होता है।

चित्त में जीवात्मा के साथ मन और बुद्धि भी होते हैं। कुछ लोग मन और बुद्धि के साथ अहंकार भी मानते हैं। हम समझते हैं कि ऐसा नहीं है। मन का मुख्य लक्षण स्मृति है। मन, विषयों के स्वाद की स्मृति को जीवात्मा तक पहुँचाता है। उन विषयों को पुनः प्राप्त करने की इच्छा जीवात्मा में उत्पन्न होती है, क्योंकि इच्छा करना जीवात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार बुद्धि विषयों की प्राप्ति के उपाय बताती है।

इच्छा न मन करता है और न बुद्धि करती है, जीवात्मा ही इच्छा करता है। चित्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तियाँ (व्यवहार) दो ही रह जाती हैं—विषयों की स्मृति और उनकी प्राप्ति के उपाय बताना। तीसरा कोई काम नहीं जो चित्त का हो। अतः अहंकार का क्या लक्षण है और वह किस प्रकार जीवात्मा का सहायक होता है, यह कहीं पर लिखित नहीं मिलता।

अतएव चित्त के दो व्यवहार होने से ही चित्त, मन और बुद्धि का संयोग कहा जा सकता है। चित्त अपने व्यवहार (वृत्ति) से जीवात्मा को विषयों में लिप्त करता है।

इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि जब तक चित्त का व्यवहार स्थिर नहीं होता तब तक मुख्य विवेक होने पर भी सांसारिक (पुत्र-कलत्रादि से) मोह दूर नहीं हो सकता।

चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण योगाभ्यास के माध्यम से होता है। इस कारण यह कहा है कि ज्ञान, जिसे सूत्रकार ने विवेक कहा है, उसके होने पर भी योगाभ्यास से चित्तवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता रहती है। अन्यथा संसार से मोह-ममता अर्थात् लिप्तता बनी रहती है।

सामान्य अविवेक मन और बुद्धि की वृत्तियों (व्यवहारों) से उत्पन्न होता है। होता तो जीवात्मा में ही है। मुख्य अविवेक भी मन और बुद्धि का ही विषय है। फिर भी सांख्याचार्य का कहना है कि दोनों का कार्य स्वतन्त्र रूप से चलता है।

अतः सूत्रार्थ यह है कि प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर भी यदि चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं होता तो संसार से लिप्तता नहीं मिटती।

युक्ततोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥ ५९ ॥

पदच्छेद—युक्तितः, अपि, न, बाध्यते, दिङ्मूढवत्, अपरोक्षात्, ऋते ।

अर्थात्—युक्ति से भी बाधा नहीं होती (अविवेक के उच्छेद में), जैसे दिशा भूला व्यक्ति बिना अपरोक्ष की (अर्थात् प्रत्यक्ष की) सहायता से।

अभिप्राय यह है कि अविवेक के उच्छेद में युक्ति बाधा नहीं, अर्थात् सहायक होती है। शर्त यह है कि युक्ति में प्रत्यक्ष सहायक हो।

सूत्र १-५६ में कहा है कि अविवेक दूर हो सकता है नियत कारण से, जैसे अन्धकार दीपक दिखाने से दूर होता है। यहाँ कहा है कि अविवेक दूर हो सकता है युक्ति से भी, जैसे दिशाशून्य व्यक्ति को दिशा का ज्ञान हो जाता है प्रत्यक्ष से। प्रत्यक्ष का अभिप्राय है ध्रुवादि नक्षत्रों को देखने से। दिन का समय हो तो सूर्योदय को देखकर।

युक्ति से भी विवेक हो सकता है, जैसे दिशाशून्य को प्रत्यक्ष देखकर युक्ति करने से होता है। एक मनुष्य जानता है कि वह दिल्ली से हरिद्वार को जा रहा है। वह मार्ग में सो जाता है। सोकर उसे ज्ञान नहीं रहता कि वह किधर से किधर को जा रहा था। तब वह सूर्य, तथा रात का समय हो तो ध्रुव, को देखकर जान लेगा कि उत्तर किधर है और फिर युक्ति कर लेगा कि वह दिल्ली से हरिद्वार को जा रहा है। अतः उसे ध्रुव की ओर चलना चाहिए। हरिद्वार दिल्ली से उत्तर की ओर है।

प्रत्यक्ष को देखकर युक्ति की जाती है। इसी प्रकार प्रकृति-पुरुष-विवेक में भी प्रत्यक्ष को देखकर युक्ति की जा सकती है और उससे विवेक (ज्ञान) प्राप्त हो सकता है। इसमें बाधा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में विपरीत बात लिखते हैं। वे लिखते हैं—'युक्ति' अनुमान अथवा श्रवण मात्र से जो हमें पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाता है, ऐसा ज्ञान वस्तुभूत न होने के कारण अविवेक को बाधा नहीं कर सकता…'

हम समझते हैं कि सूत्रकार का यह अभिप्राय नहीं है। यदि यह अभिप्राय होता तो पूर्ण सांख्य ग्रन्थ का लिखना ही व्यर्थ हो जाता। कारण यह कि सांख्याचार्य ने सब-कुछ जो ग्रन्थ में वर्णन किया है, वह अनुमान के आधार पर ही किया है।

इससे पहले के सूत्र (१-५८) में कहा है कि यह कहना कथन मात्र होगा। कारण यह कि विवेक नहीं हो सकता जब तक चित्त की वृत्तियाँ नियन्त्रण में न हों। विवेक-प्राप्ति के साथ चित्त की वृत्तियों का निरोध भी आवश्यक है।

इस सूत्र में सामान्य सांसारिक पदार्थों के ज्ञान के विषय में भी कहा है कि वही बात है जो प्रधान अविवेक को दूर करने के लिए है, अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ नियन्त्रण में होनी चाहिएँ।

अतः यहाँ सूत्र (१-५९) में यही अभिप्राय है कि युक्ति (अनुमान) से भी अविवेक दूर हो सकता है। शर्त यह है कि युक्ति प्रत्यक्ष पर आधारित हो। दिशाशून्य व्यक्ति सूर्योदय तथा ध्रुव को देखे बिना युक्तियाँ करता रहे कि वह किधर से आया है और किधर जा रहा है तो दिशा नहीं पाएगा। दिशा तब ही पाएगा जब उसे दो बातों का प्रत्यक्ष हो जाए। एक तो यह कि उसे किस दिशा को जाना है—पूर्व, पश्चिम अथवा किसी अन्य दिशा को; दूसरा ध्रुवादि को देख वह प्रत्यक्ष कर ले कि उत्तर किधर है।

श्री शास्त्री जी ने तो सांख्य-सिद्धान्त को ही मिथ्या कर दिया है।

सूत्रकार अगले सूत्र में बात को और अधिक स्पष्ट करता है। सूत्रकार कहता है—

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥ ६० ॥

पदच्छेद—अचाक्षुषाणाम्, अनुमानेन, बोधः, धूमादिभिः, इव, वह्नेः।

अर्थात्—आँखों इत्यादि से जो न देखा जा सके, उसका अनुमान से ज्ञान हो जाता है, जैसे धूमादि से अग्नि का ज्ञान हो जाता है।

धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है, भले ही अग्नि दिखाई न दे। कालान्तर से अथवा स्थानान्तर से जब कोई वस्तु इन्द्रियों से प्रतीत न हो तो उसका ज्ञान अनुमान (प्रमाण) से होता है।

अनुमान आधारयुक्त युक्तियों को कहते हैं। जब हम प्रत्यक्ष में किन्हीं दो वस्तुओं अथवा घटनाओं का सम्बन्ध अनिवार्य रूप में होना जान जाते हैं तो फिर एक को देखकर दूसरी वस्तु की उपस्थिति अथवा दूसरी घटना का होना जान जाते हैं।

धुएँ और अग्नि का सम्बन्ध अटूट है। इस कारण धुएँ को देखकर अग्नि होने का अनुमान विश्वास से किया जा सकता है। सूत्र में धूम्रादि में 'आदि' शब्द है। आदि से चिनगारियों इत्यादि से अभिप्राय है। कपिल मुनि ने अनुमान प्रमाण को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना कि प्रत्यक्ष को दिया है। वास्तव में पूर्ण सांख्यदर्शन अनुमान-प्रमाण पर ही आधारित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र १-५९ के भाष्य में श्री उदयवीर शास्त्री ने यह कहा है कि युक्ति अर्थात् अनुमान से अविवेक छूट नहीं सकता, और यहाँ सूत्रकार कहता है कि जब कोई वस्तु अथवा घटना इन्द्रियों से न जानी जा सके तो उसे अनुमान प्रमाण से जाना जा सकता है। अनुमान प्रत्यक्ष-पर आधारित होता है।

इसी कारण वह्निः और धुएँ का उदाहरण दिया है। धुआँ प्रत्यक्ष है। उसे देखकर ही अप्रत्यक्ष वह्निः का अनुमान सत्य है।

रचना अधिकरण

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्
महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—सत्त्वरजस्तमसाम्, साम्यावस्था, प्रकृतिः, प्रकृतेः, महान्, महतः, अंहाकारः, अहंकारात्, पंचतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्, तन्मात्रेभ्यः, स्थूलभूतानि, पुरुष, इति पञ्चविंशतिः गणः।

अर्थात्—सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ और तन्मात्राओं से स्थूल महाभूत (बनते हैं)। (इनके साथ) पुरुष है। यह पच्चीस (का) गण है।

साम्यावस्था का अभिप्राय सन्तुलित अवस्था है। इस अवस्था में तीनों (सत्त्व, रजस् और तमस्) एक-दूसरे के प्रभाव को विलीन करते रहते हैं।

पुरुष का अभिप्राय चेतन तत्त्व है। इसमें दोनों चेतन तत्त्वों को लिया जा सकता है। वही दोनों जो वेद-मन्त्र १-१६४-२० में 'द्वा सुपर्णा' में वर्णन किए गए हैं।

पच्चीस का गण (समूह) है। इसमें कौन-कौन-से पदार्थ हैं? इस विषय में हमारी गणना अन्य भाष्यकारों से कुछ भिन्न है।

पूर्व इसके कि इनकी गणना की जाए, यह देखना चाहिए कि समूह (गण) क्या है? इस सूत्र (१-६१) में यह कहा गया है कि पच्चीस के समूह में दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ भी हैं। दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ प्राणी-शरीर में ही होती हैं। ये इन्द्रियाँ प्राणी के अतिरिक्त किसी भी स्थान पर नहीं होतीं। अतः हमारा मत है कि यह पच्चीस का समूह प्राणी-शरीर में ही लिया है। प्राणी के शरीर के अतिरिक्त पच्चीस की गणना पूरी नहीं हो सकती। अन्य भाष्यकार पच्चीस की गणना प्राणी के अतिरिक्त भी करते हैं।

दूसरा मतभेद प्रकृति के विषय में है। हम प्रकृति को इन पच्चीस में नहीं लेते। यदि हमारी पहली धारणा कि पच्चीस का गण प्राणी-शरीर है तो प्रकृति (मूल रूप में) उस शरीर का अंग न होने से गणना में नहीं आनी चाहिए। प्रकृति, मूल रूप में, ब्रह्माण्ड में कहीं होगी, परन्तु वह शरीर के निर्माण, पालन तथा विधान में कुछ भी भाग नहीं ले रही। इस कारण हम मानते हैं कि मूल प्रकृति इन पच्चीस के समूह में नहीं है।

ये पच्चीस गण (समूह) के रूप में कहे गए हैं, अतः इनकी गणना करते समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनको एक स्थान पर एकत्रित कर देखना होगा। यह प्राणी-शरीर ही है। पंच महाभूत तो प्राणी के शरीर के बाहर भी देखे जाते हैं, परन्तु उनका इन्द्रियों के साथ 'गण' में होना प्राणी-शरीर में ही देखा जाता है। प्रकृति प्राणी-शरीर का अंग नहीं। प्रकृति के परिणामी पदार्थ तो अंग हैं। उनकी गणना की जाएगी। प्रकृति के लक्षण ऋग्वेद १०-१२९-१, २, ३ में बताए हैं। उन लक्षणोंवाला पदार्थ प्राणी-शरीर का सक्रिय अंग नहीं है। यह निष्क्रिय अंग भी है अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। प्रकृति व्यापक पदार्थ भी नहीं है।

अन्य भाष्यकारों से तीसरा मतभेद है अहंकारों के विषय में। भाष्यकार गणना में अहंकार को एक लेते हैं। हम उनकी गणना तीन मानते हैं। इस विषय में हमारी मान्यता का आधार सुश्रुत और सांख्य दर्शन के निम्न प्रमाण हैं। सुश्रुत संहिता आयुर्वेद का एक मान्य ग्रन्थ है। जैसा कि हमने पूर्व में यह सिद्ध किया है कि पच्चीस पदार्थ प्राणी के शरीर में ही गणरूप में हैं। सुश्रुत संहिता के शरीर स्थान का ही प्रमाण इस विषय में है। वहाँ मनुष्य-शरीर के वर्णन में यह कहा है—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिंग एव तल्लिंगाच्च महतस्तल्लिंग एवाहंकार उत्पद्यते स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥ २ ॥

तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेंद्रियाण्युत्पद्यते। तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः ॥ ३ ॥

भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रमिति तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधास्तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः एवमेषां तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥ ४ ॥

(सुश्रुत० सं० १-२, ३, ४)

अर्थात् उस अव्यक्त (प्रकृति) से उसी के-से लक्षणोंवाला महत्त्व उत्पन्न हुआ और इस अव्यक्त लिंग-महत्तत्त्व से अधिक लिंग-अहंकार उत्पन्न हुआ। वह तीन प्रकार का है—वैकारिक, तैजस और भूतादि।

वहाँ तैजस की सहायता द्वारा वैकारिक अहंकार से उसी लक्षणवाली ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण तथा वाणी, हाथ, लिंग, गुदा, और पाँव तथा मन। इनमें पहली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं और दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और दोनों का सार मन है।

तैजस अहंकार की सहायता द्वारा भूतादि अहंकार से तामस लक्षणवाली पाँच तन्मात्रा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यथाक्रम होते हैं और इन्हीं तन्मात्राओं से यथाक्रम आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न हुए। इन्हीं को चौबीस कहा है।

आगे चलकर कहा है—

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः पंचविंशतितमः ।

(सु० सं० १-८)

अर्थात्—वह समस्त वर्ग चेतनारहित है और चेतनावाला पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार यहाँ अहंकार तीन प्रकार के माने हैं। उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के अहंकारों से भिन्न-भिन्न कार्य करना लिखा है। सांख्य दर्शन में इस प्रकार कहा है—

एकादशपंचतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥

(सांख्य २-१७,१८)

अर्थात्—अहंकार का कार्य ग्यारह (इन्द्रियाँ) और पाँच तन्मात्राएँ हैं। सात्त्विक, और वैकारिक अहंकार से सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियों का उत्पादन होता है।

यहाँ भी सात्त्विक अहंकार का विशेष कार्य बताया है। शब्द है 'वैकृतात्', अर्थात् वैकारी से। यही बात सुश्रुताचार्य ने कही है।

इस आधार पर हम अहंकारों को तीन प्रकार का मानते हैं। इनको गणसमूह में तीन की गणना की है।

चौथा मतभेद इस गण (समूह) में परमात्मा मानने के विषय में है। परमात्मा प्राणी के शरीर के कार्य में भाग नहीं लेता। यद्यपि परमात्मा के दिए प्राणों से शरीर कार्य करता है, परन्तु उन प्राणों से काम लेनेवाला जीवात्मा है, परमात्मा नहीं। परमात्मा शरीर का अंग भी नहीं है। जीवात्मा शरीर के कार्यों में सक्रिय भाग लेता है। जो कुछ पाप-पुण्य शरीर करता है, वह जीवात्मा करता है; परमात्मा नहीं करता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि इस गण में परमात्मा की गणना नहीं की गई है।

इस प्रकार 'पंचविंशतिर्गणः' में युक्त पदार्थ ये हैं—

महत् १, अहंकार ३, तन्मात्राएँ ५, इन्द्रियाँ १०, पंचमहाभूत ५; कुल २४ तथा पुरुष १ मिलाकर २५।

हमने इन्द्रियों को ग्यारह नहीं गिना। यह इस कारण कि मन की गणना तो महत् कहने में ही आ गई है। सांख्य महत् को ही मन मानता है (देखो सूत्र १-७१)। साथ ही जो आभ्यान्तरिक इन्द्रिय अहंकारों से उत्पन्न होती है, वह दस इन्द्रियों से पृथक् नहीं है। वह इन्द्रियों का संयोग-स्थान है। वह अन्य दस इन्द्रियों से पृथक् कार्य नहीं करता।

इस मन के विषय में सांख्य १-७१ के भाष्य में व्याख्या से वर्णन करेंगे।

कुछ भाष्यकार 'उभयमिन्द्रियम्' से भीतर और बाहर की इन्द्रियाँ लेते हैं।

भीतर की इन्द्रियाँ हैं मन और बुद्धि। ये दो हैं। इस प्रकार तो इन्द्रियों की गणना बारह हो जाएगी। इसके अतिरिक्त रचना-कार्य में सुश्रुताचार्य 'उभयमिन्द्रियम्' से कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ लेता है। हम भी यहाँ दस बाह्य इन्द्रियाँ ही ले रहे हैं। मन महत् के साथ ही गणना में आ गया है। मन और बुद्धि के विषय में सूत्र २-२६ के भाष्य में बताएँगे।

जगत्-रचना के विषय में एक वक्तव्य मात्र इस सूत्र (१-६१) में दे दिया गया है। वक्तव्य यह है : प्रकृति—महत्—अहंकार—पंचतन्मात्रा— दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ—पुरुष—(सबका समूह) प्राणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे आगे सूत्रकार रचना के इस स्थिति तक पहुँचने में युक्ति (अनुमान) का क्रम बताता है। वह कहता है—

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—स्थूलात्, पंच, तन्मात्रस्य।

अर्थात्—(जगत् के) स्थूल पदार्थों को (देखने से) पञ्चतन्मात्राओं का (अनुमान होता है)। जगत्-रचना के समय कोई मनुष्य साक्षी-रूप उपस्थित नहीं था। इस कारण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण (आँखों-देखा वृत्तान्त) नहीं है। इस पर भी सूत्रकार ने एक रचना-क्रम सूत्र १-६१ में वर्णन किया है और अब वह यह बता रहा है कि उक्त रचना-क्रम की कल्पना वह किस प्रकार कर सका है।

सूत्रकार पूर्व के सूत्र (१-६०) में वर्णन कर चुका है कि जो पदार्थ अथवा घटनाएँ इन्द्रियों से न देखी गई हों अथवा न देखी जा सकती हों उनका ज्ञान अनुमान प्रमाण से प्राप्त किया जा सकता है, जैसे धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जा सकता है। सूत्रकार सूत्र १-५९ में यह भी बता चुका है कि युक्ति भी ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। युक्ति से उसका अभिप्राय अनुमान से ही है, क्योंकि वह उसी सूत्र में कहता है कि युक्ति, परन्तु प्रत्यक्ष की सहायता से।

अतः अब वह इस प्रत्यक्ष का आश्रय लेकर युक्ति से उस पूर्ण प्रक्रिया को सिद्ध कर रहा है जो उसने सूत्र १-६१ में वर्णन की है।

वह कहता है कि जब हम स्थूल जगत् को देखते हैं तो इससे स्थूल रूप में बाँधने वाली शक्तियों का अनुमान लगाते हैं। स्थूल जगत् तो प्रत्यक्ष है। यह विघटित होता है, यह भी देखा जाता है। सूत्रकार ने उस काल में इसका विघटन किस सीमा तक देखा था, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष देखने में केवल आँखों का ही आश्रय लिया था अथवा योग के प्रत्यक्ष का भी। (देखो सूत्र १-९०)

यह निश्चय है कि वर्तमान वैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों से स्थूल जगत् के संगठन को इस प्रकार समझा है। प्रकृति की साम्यावस्था की झलक उसे अपने परीक्षणों में मिली है।[1] वैज्ञानिकों ने इसका नाम 'neutrins' रखा है। महत् की झलक वैज्ञानिक को 'Cosmic dust' में मिली है। अहंकारों का पर्याय उसने 'electrons, protons' और 'neutrons' में पाया है। परिमण्डल को वह 'atom' कहता है और उसके उपरान्त अणु (molecule) तथा पृथिवी (solids), जल (liquids), वायु (gaseous)। अग्नि और आकाश के विषय में उसका ज्ञान कहाँ तक है, कहना कठिन है। सम्भवतः इसके रेडियो ऐक्टिव ऐटम (radio active atoms) ही सांख्य का अग्नि-महाभूत है। आकाश के विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

हमारे इस कथन का अभिप्राय यह है कि स्थूल जगत् में वर्तमान वैज्ञानिक भी प्रकृति की साम्यावस्था के परमाणु मानने के लिए तैयारी कर रहा है।

---

१. देखें हमारी पुस्तक 'विज्ञान और विज्ञान' पृष्ठ ११०,१११ अथवा Encyclopaedea Brittanica, Ed, 1962, Vol.-2, Page 600.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद में प्रकृति को सलिल कहा गया है, अर्थात् वह जानेवाला तत्त्व। वह जाने वाले पदार्थ छोटे-छोटे कणों में, परस्पर असम्बद्ध ही होते हैं, जैसे रेत अथवा जल, पारा इत्यादि हैं। इनके कण अथवा अणु (molecules) परस्पर असम्बद्ध होने से ये तरल होकर बह जाते हैं। यही अवस्था प्रकृति की थी। इसके परमाणु परस्पर असम्बद्ध थे। अतः यह सलिल-अवस्था में थी।

प्रकृति के परमाणु में तीन गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) हैं। ये गुण मात्र हैं अथवा ये परमाणु के तीन भाग हैं, स्पष्ट नहीं है। कदाचित् जब सांख्याचार्य कपिल मुनि ने कहा, 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' तो उसका अभिप्राय यह था कि ये परमाणु के तीन भाग हैं, परन्तु वे गुण भी हैं। ये उपादान (matter) तो हैं, परन्तु सदा गुण भी (permanently electrically charged particles) हैं।

यह तो सूत्रकार सूत्र १-६१ में कह चुका है। अब वह स्थूल जगत् जो प्रत्यक्ष है, उसको देखकर इन साम्यावस्था परमाणुओं तक की कल्पना कैसे करता है, उसका आरम्भ इस सूत्र में करता है। वह कहता है कि उन परमाणुओं को इस स्थूल रूप में बाँधकर रखने वाली कुछ शक्तियाँ हैं। वह कल्पना करता है कि वे पाँच प्रकार की हैं। उनको वह तन्मात्रा कहता है।

यदि हम परमाणुओं से विचार करते हुए चलें और जगत् के स्थूल पदार्थों तक आएँ तो इनके बनने में नीचे लिखी पाँच प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती प्रतीत होती हैं। स्थूल जगत् विशेषों से ही बना है। विशेषों का आरम्भ परिमण्डल (atoms) से होता है। परिमण्डल अहंकारों (electrons, protons and neutrons) से बनते हैं। यह पता किया गया है कि प्रोटोन और न्यूट्रोन परिमण्डल के मध्य में रहते हैं और इलैक्ट्रोन उनके चारों ओर अति वेग से चक्कर काट रहे होते हैं। अतः—

१. प्रथम शक्ति वह है जिससे इलैक्ट्रोन परिमण्डल (atoms) में बँधे हुए प्रोटोन और न्यूट्रोन के चारों ओर चक्कर काट रहा है। इसे ही सम्भवतः सूत्रकार ने प्रथम तन्मात्रा माना है। इसे वैज्ञानिक 'inter-atomic energy' कहते हैं।

२. वह शक्ति, जिससे परिमण्डल (atoms) संयुक्त होकर अणु (molecules) और अणु अणु संयुक्त होकर बड़े (complex) अणु बनते हैं। इसे वैज्ञानिक 'chemical affinity' कहते हैं। सूत्रकार इसे दूसरी तन्मात्रा मानता है।

३. जिससे परिमण्डल अथवा अणु (atoms or molecules) एक पिण्ड (lump) में दूर अथवा समीप स्थित हैं। इसी से पदार्थों के तीन (three states of matter) रूप बनते हैं। पृथिवी, जल और वायु अणुओं के समीप अथवा दूर-दूर होने तथा परस्पर सम्बद्ध रहने की सामर्थ्य को कहते हैं। सूत्रकार इसे तीसरी तन्मात्रा मानता है। इस शक्ति को वैज्ञानिक molecular dynamics कहते हैं।

४. जिस शक्ति से एक पदार्थ का पिण्ड (lump of a substance) दूसरे पिण्ड को आकर्षित करता है, उसे वैज्ञानिक भाषा में गुरुत्वाकर्षण (gravity) कहते हैं। सूत्रकार इसे चौथी प्रकार की तन्मात्रा मानता है।

५. जिस शक्ति से चुम्बक लोह-कण को अपनी ओर खींचता है, वैज्ञानिक भाषा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे चुम्बकीय शक्ति (magnetic force) कहते हैं। यह लोहे के अतिरिक्त कुछ-एक अन्य पदार्थों में भी देखी जाती है। सूत्रकार इसको पाँचवीं प्रकार की तन्मात्रा कहता है।

इन तन्मात्राओं के विषय में मनु इस प्रकार कहता है —

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥ *(मनु० १-२७)*

अर्थात्—पाँच (महाभूतों) के साथ उत्पन्न, विनष्ट होनेवाली मात्राओं (शक्तियों) से पहले (पूर्व-श्लोकों में) तथा आगे (कहे जाने) वाले पदार्थ सब (क्रमशः) उत्पन्न हुए।

यह सांख्य दर्शन के अनुसार ही है। विशेष बात यह है कि तन्मात्राओं को विनष्ट होनेवाली कहा है, अर्थात् ये कार्य करती हैं और फिर नहीं रहतीं। यह शक्ति (energy) का ही लक्षण है। शक्ति कार्य करती है और फिर समाप्त हो जाती है।

इससे ही हमने यह परिणाम निकाला है कि ये तेज (प्राण) का स्वरूप हैं। ये पंच महाभूतों की भाँति के पदार्थ नहीं। ये अहंकारों से उत्पन्न होती हैं और स्थूल जगत् को गठित कर विलीन हो जाती हैं।

भौतिकी (science of physics) के ज्ञाता यह जानते हैं कि शक्ति (energy) कार्य करने पर ऊँचे स्तर (high potential) से निम्न स्तर (lower potential) पर चली जाती है। तब यह काम करने में असमर्थ हो जाती है। विनष्ट होने का यही अभिप्राय है।

तन्मात्रा को ऊपर वर्णित पाँच शक्तियों का रूप मानना हमारा मत है। उसका आधार भी हमने वर्णन कर दिया है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि इन तन्मात्राओं के नाम—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा उक्त कथन से स्पष्ट नहीं होते और न ही इनके विषय में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्पष्ट होते हैं। इसके लिए वैशेषिक दर्शन में की गई व्याख्या को देखना चाहिए।

महत् से लेकर स्थूल जगत् तक प्रकृति के परिणामों को दो भागों में बाँटा है। एक भाग को अविशेष अथवा अव्यक्त भाग कहते हैं; दूसरे को विशेष अर्थात् व्यक्त भाग कहते हैं। महत्—अहंकार—तन्मात्रा अविशेष हैं, और पंच महाभूत तथा इन्द्रियाँ विशेष कहे जाते हैं।

सांख्य अविशेषों का ही वर्णन करता है; विशेषों की ओर संकेत-भर है। इसी प्रकार विशेषों का वर्णन वैशेषिक दर्शन में है। तन्मात्राएँ इन विशेषों को बनाकर विनष्ट हो जाती हैं।

सांख्याचार्य अनुमान की शृंखला को सूक्ष्म भूतों से आगे ले चलता है। वह कहता है—

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य ॥ ६३ ॥

पदच्छेद—बाह्याभ्यातराभ्याम्, तैः, च, अहंकारस्य।
अर्थात्—बाहर-भीतर (इन्द्रियों को देखने) से और उन (तन्मात्राओं की सहायता) से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकारों का ज्ञान होता है।

बाहर और भीतर की इन्द्रियों का अभिप्राय भाष्यकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि लेते हैं। बाहर की इन्द्रियों से उनका अभिप्राय है श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, प्राण, वाणी, हाथ, लिंग, गुदा और पाँव। ये दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं।

हमने गण में पच्चीस पदार्थों की गणना के समय 'उभयमिन्द्रियम्' में मन को नहीं लिया था। यहाँ 'उभयमिन्द्रियम्' का शब्द नहीं है। स्पष्ट 'बाह्याभ्यन्ताराभ्यां' लिखा है। अतः यहाँ बाहर और भीतर की इन्द्रियों का वर्णन है। इन इन्द्रियों के कार्य को देखकर तथा तन्मात्राओं के कार्य से अहंकारों का ज्ञान होता है।

वर्तमान विज्ञान की भाषा में कहें तो यह कथन इस प्रकार होगा कि स्थूल जगत् को बाँधनेवाली शक्तियों के कार्य को देखकर तथा इन्द्रियों के कार्य को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परिमण्डलान्तर्गत शक्ति-सम्पन्न कण (electrically charged particles) हैं। ये शक्ति-सम्पन्न कण अहंकार नाम से स्मरण किए जाते हैं।

विज्ञान की भाषा में इलैक्ट्रोन ऋण-विद्युत का आवेश (negative charge) रखता है। सांख्य भाषा में तेजस् अहंकार रजस् गुण का आवेश रखता है। विज्ञान की भाषा में प्रोटोन धन-विद्युत् का आवेश रखता है। और वैकारी अहंकार सत्त्व गुण का आवेश रखता है। विज्ञान में न्यूट्रोन को आवेश-रहित (neutral) कहते हैं। सांख्य की भाषा में भूतादि अहंकार तम गुण का आवेश रखता है। तमस् का अर्थ अक्रिय है।

इस पर हमारी विवेचना यह है कि जब परमाणुओं में गुणों की साम्यावस्था भंग हुई तो गुण न्यूनाधिक नहीं हुए। हुआ यह कि पहले गुण अन्तर्मुखी थे और एक-दूसरे का विरोध करते हुए प्रभावहीन हो रहे थे। तब परमात्मा के तेज के प्रभाव से ये बहिर्मुख हो गए, और ये अपने गुणों से पड़ोस के परमाणुओं का आकर्षण-विकर्षण करने लगे।

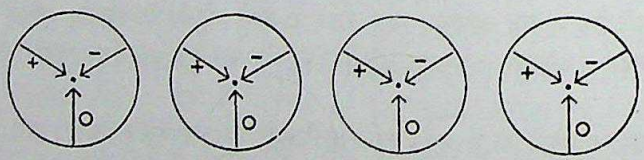

गण जब अन्तर्मुखी होते हैं। यह प्रकृति की साम्यावस्था होती है।

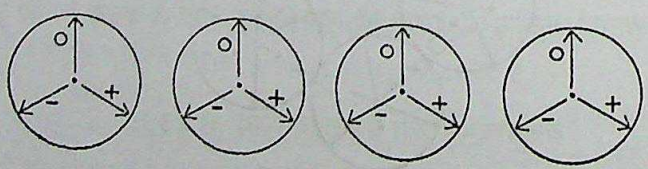

साम्यावस्था जब भंग होती है तो बहिर्मुखी हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस आकर्षण-विकर्षण से परमाणुओं के संग्रह होने लगते हैं। इन संग्रहों में जब सत्त्व गुण मुख्य हो जाता है तो वह सतोगुणप्रधान वैकारी अहंकार बन जाता है। जब रजोगुण प्रधान हो जाता है तो तैजस अहंकार बन जाता है और जब तमोगुण प्रधान हो जाता है तो भूतादि अहंकार बन जाता है। ये अहंकार ही सृष्टि के सब पदार्थ बनाने में मूल बन जाते हैं। अहंकारों से परिमण्डल (atoms) बनते हैं और परिमण्डलों से पंच महाभूत (solids, liquids, gaseous, radio active, etherial substances) बनते हैं।

वैकारी अहंकार धन-विद्युत् का आवेश (+ electric charge) वाले हैं। तैजस ऋण-विद्युत् आवेश (- electric charge) वाले हैं। भूतादि विषाद (neutral) हैं।

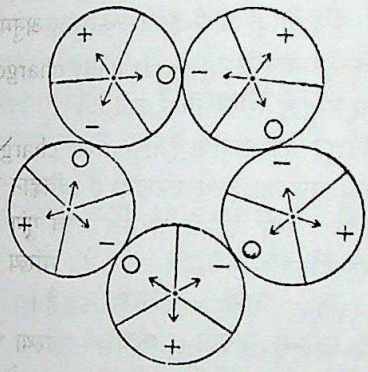

सत्त्वगुण प्रधान परमाणु समूह

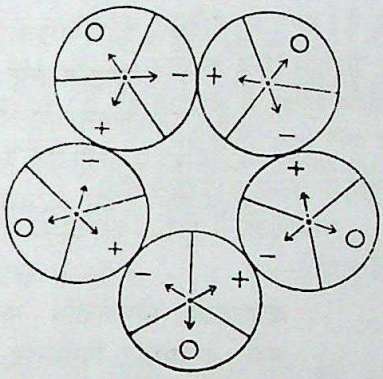

तमोगुण प्रधान परमाणु समूह

इन्द्रियाँ शक्ति से कार्य करती हैं। इस कारण इनके कार्य को देखकर इनके मूल में शक्ति का अनुमान होता है। वे इन्द्रियाँ विशेष रूप से वैकारिक अहंकार के कारण हैं।

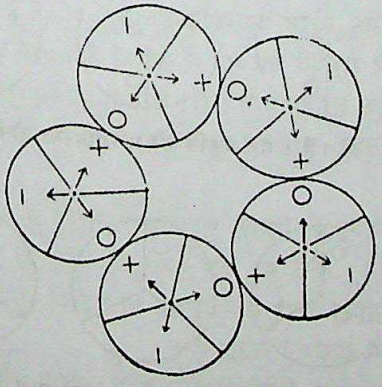

रजोगुण प्रधान परमाणु समूह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेनान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—तेन, अन्तःकरणस्य ।

अर्थात्—उस (त्रिविध अहंकार) से अन्तःकरण का ज्ञान होता है। यहाँ अन्तःकरण से अभिप्राय मन (महत्) है। (देखो सूत्र १·७१)

ततः प्रकृतेः ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—ततः, प्रकृतेः ।

अर्थात्—उस (अन्तःकरण अर्थात् महत्) से प्रकृति का ज्ञान होता है। अन्तःकरण और महत् पर्यायवाचक माने गए हैं। यह महत् कहाँ से बना? इससे ही प्रकृति का ज्ञान होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्रा तथा पंच महाभूत—ये सब परिणाम बिना उपादान (matter) के नहीं बन सकते। साथ ही महत् और दूसरा परिणाम शक्ति से संगठित हुए हैं। इस कारण प्रकृति शक्तिरूप है। वह शक्ति इनमें तीन गुणों सत्त्व, रजस् तथा तमस् से उत्पन्न हुई है, जो प्रकृति की अवस्था में साम्यावस्था में होने के कारण प्रभावहीन होती है।

परमाणुओं में गुण अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी कैसे हो गए? यह वेद में बताया है। वहाँ कहा है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

(ऋ० १०·१२९·४, ५)

पदच्छेद—कामः, तत्-अग्रे, सम्-अवर्तत, अधि-मनसः, रेतः, प्रथमम्, यत्, आसीत्, सतः, बन्धुम्, असति, निः, अविन्दन्, हृदि, प्रति-इष्या, कवयः, मनीषा ॥ ४ ॥

तिरश्चीनः, विततः, रश्मिः, एषाम्, अधः, स्वित्, आसीत्, उपरि, स्वित्, आसीत्। रेतः, अधः, आसन्, महिमानः, आसन्, स्वधा, अवस्तात्, प्रयतिः, परस्तात् ॥ ५ ॥

अर्थात्—(सृष्टि होने से) पूर्व वह मन से उत्पन्न होनेवाली कामना सर्वत्र उपस्थित थी। वह पहला बीज था (इस जगत्-रचना का)। कामना करनेवाला वह क्रान्तदर्शी मनीषा (ज्ञानवान्) बार-बार विचार कर असति (अरूपवान्) तत्त्व को बाँधकर सत् (स्वरूपवान् तत्त्व) प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त (कवयो मनीषा) से तिरछी चलनेवाली तरंगों के समान (उसकी कामना) बहुत दूर-दूर तक व्याप्त हुई। नीचे भी और ऊपर भी बीज को धारण करनेवाला तत्त्व स्वधा (प्रकृति) था। रेतस् (बीज) महान् सामर्थ्यवान् था। उसने सृष्टि-रचना की।

इसी मन्त्र के भाष्य में सायण लिखता है—

एषाम् अविद्याकामकर्मणां वियदादिभूतजातानि सृजतां रश्मिः रश्मिसदृशो यथा सूर्यरश्मिः उदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत् सर्वजगत् व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यः कार्यवर्गः विततः विस्तृतः आसीत्। इत्यादि।

अभिप्राय यह कि इस अविद्या नाम वाले (जगत्-रचना) कार्य के लिए पंच महाभूतों को बनाया। सूर्य की रश्मियों के समान उदय होने पर झलक मात्र से एकाएक सब जगत् सर्वत्र (बीज) फैल गया और विस्तृत स्थान में कार्य आरम्भ हो गया।

हमारा इन वेद-मन्त्रों को उद्धृत करने का अभिप्राय मात्र इतना है कि परमात्मा जो सामर्थ्यवान् और ज्ञानवान् है, उसने अपना तेज सूर्य की रश्मियों के समान स्वधा (प्रकृति) पर फेंका और रचना-कार्य एक विस्तृत क्षेत्र में एकाएक आरम्भ हो गया।

हमने ऊपर सूत्र के भाष्य में लिखा है कि परमाणुओं के अन्तर्मुखी गुण जो साम्यावस्था में हो रहे थे, परमात्मा के तेज से बहिर्मुख हुए तो परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण होने लगा और सृष्टि-रचना आरम्भ हो गई।

सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों में आकर्षण-विकर्षण ऐसे ही है जैसे धन-विद्युत (+) और ऋण-विद्युत् (−) में आकर्षण (attraction) होता है और धन (+) तथा धन (+) में विकर्षण (repulsion) होता है। (इस विषय में देखें सांख्य-सूत्र १-१२७)

इस प्रकार महत् (electrically charged particles) को देखकर त्रिगुणात्मक प्रकृति और उसमें गुणों की साम्यावस्था (balanced state) का ज्ञान होता है।

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६ ॥

पदच्छेद--संहत, परार्थत्वात्, पुरुषस्य।

अर्थात्—संहत (एकत्रित होना अथवा संयुक्त होना) किसी दूसरे के लिए होने से पुरुष का (ज्ञान होता है)।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति से महतादि का निर्माण किया जाना किसी दूसरे के लिए हो सकता है। वह दूसरा पुरुष है। ऐसा ज्ञान अनुमान से होता है।

सृष्टि-रचना का उदाहरण घटादि के निर्माण से दिया जाता है। घड़ा बनने में तीन कारण स्पष्ट दिखाई देते हैं—घड़े में लगनेवाली मिट्टी होनी चाहिए, मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता; घड़ा बनानेवाला कुम्हार होना चाहिए; और घड़ा प्रयोग में लानेवाला ग्राहक होना चाहिए। इन तीन कारणों में एक के भी अभाव से घड़े के बनने में कुछ भी सम्भव नहीं।

यही बात जगत्-रचना की है। सूत्रकार कहता है कि मूल प्रकृति है। प्रकृति से रचना-कार्य करनेवाले (परमात्मा) को मानना पड़ेगा और फिर सृष्टि-रचना में भोग करने वाले पुरुष (जीवात्मा) को भी मानना अनिवार्य है।

यही इस सूत्र का अभिप्राय है कि रचना-कार्य करनेवाले ने किसी के लिए यह किया है। वह प्रकृति और परमात्मा से कोई पृथक् होगा, यह स्वीकार करना पड़ा है। उसे सूत्रकार पुरुष कहता है।

नास्तिक वैज्ञानिक इस रहस्य के उद्घाटन में लगा हुआ है कि वास्तव में शरीर का अधिष्ठाता कोई जीवात्मा है अथवा नहीं। उसका इस समस्या को सुलझाने का ढंग सूत्रकार के ढंग से दूसरा है। वैज्ञानिक प्राणी के शरीर का विश्लेषण कर उसकी इकाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(unit) प्रतीत करने में लगे हुए हैं। यह देखा जा चुका है कि प्राणी का चेतन शरीर जीवित कोषाणुओं (living cells) का बना है।

जीवित कोषाणु बना है कोषाणु की दीवार (cell wall) से, एक लेसदार पदार्थ (protaplasm) से और केन्द्रिका (nucleus) से। दीवार तो कोषाणु की रक्षार्थ है। लेसदार पदार्थ भोज्य पदार्थ (nourishing material) है और केन्द्रिका ही वास्तव में जीवन है।

वैज्ञानिक ने केन्द्रिका का भी विश्लेषण किया है। वह जान गया है कि इसमें सूत के टुकड़ों के समान अंश हैं। उन्हें वह क्रोमोज़ोम्स (chromosomes) कहता है। वह और आगे गया है। क्रोमोज़ोम्स की डाल के साथ लगे फलों के सदृश जीन (gene) हैं। और आगे गया तो पता चला कि जीन दो प्रकार के रासायनिक पदार्थों (DNA तथा RNA) के अणुओं के संयोग से बने हैं।

अब वैज्ञानिक इस यत्न में है कि वह DNA तथा RNA को अपनी परीक्षण-नली में संयुक्त कर जीन, क्रोमोज़ोम्स, केन्द्रिका और फिर जीवित कोषाणु निर्माण करे।

यह सम्भव है कि वह यह सब कर सके, परन्तु, सूत्रकार का कहना है कि जो प्रकृति निर्माण कर रही है, वही तो वैज्ञानिक निर्माण कर सकेंगे। परन्तु वह सब बिना किसी प्रयोग करनेवाले के क्यों कोई बनाएगा? वह प्रयोग करनेवाला कोई है। उसका नाम सूत्रकार ने पुरुष (जीवात्मा) कहा है।

सूत्रकार युक्ति करता है कि प्राणी का शरीर बना है तो किसके लिए बना है? क्या वह प्रकृति के अपने प्रयोग के लिए ही है? इस शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति क्या प्रकृति को ही होती है? सूत्रकार की बुद्धि कहती है कि यह निरर्थक योजना नहीं हो सकती। इसका भोक्ता कोई पृथक् होना चाहिए। वह पुरुष (जीवात्मा) है।

इस प्रकार सूत्रकार ने रचित जगत् से आरम्भ कर मूल प्रकृति और पुरुष तक अनुमान द्वारा परिणाम निकाले हैं।

वह आगे कहता है—

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ ६७ ॥

पदच्छेद—मूले, मूलाभावात्, अमूलम्, मूलम्।

अर्थात्—मूल में मूल के न होने से मूलरहित मूल है।

किसी क्रिया का आदि होना आवश्यक है। आदि का पूर्व नहीं होता, इस कारण कि आदि तो आदि ही है। जगत्-रचना हुई है। यह युक्ति से परिणाम निकाला गया कि एक के उपरान्त दूसरा पदार्थ बना। स्थूल जगत् से युक्ति करते-करते प्रकृति तक पहुँचते हैं। यह भी समझा कि प्रकृति, अणुरूप टुकड़ों से जिसमें गुण साम्यावस्था में हैं, बनी है।

अब सूत्रकार कहता है कि इस क्रम का आदि भी तो कहीं होना चाहिए। प्रकृति आदि है तो आदि का आदि अर्थात् उससे पहले कुछ नहीं हो सकता। इसी कारण तो उसे आदि कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः मूल में मूल नहीं होता, इस कारण कि वह मूल है। अतः मानना पड़ेगा कि मूल (प्रकृति) अनादि है।

सूत्रकार का कहना है कि अनादि काल से प्रकृति विद्यमान है। वह तमभूत (अन्धकारमय) है। इस कारण उसे साम्यावस्था में मानना पड़ेगा। प्रकृति से निर्मित जगत् तो तम-भूत नहीं। वह तो चलता-डोलता प्रकाश-युक्त है। इस कारण प्रकृति से रचना हुई है और गुण असम अवस्था में हो गए हैं।

इसे किसी ने किया है। कारण यह कि प्रकृति के पदार्थ स्वतः हिलते-डोलते नहीं।

हमने यह बताया है कि पच्चीस का गण, जो सूत्र १-६१ में वर्णन किया गया है, वह प्राणी के विषय में है। परन्तु यह देखा जाता है कि प्राणी के अतिरिक्त भी तो कुछ है। क्या यह भी उसी क्रम में बना है जिसमें प्राणी का शरीर बना है?

कुछ अन्तर भी है। शरीर में मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ हैं। बाह्य जगत् में ऐसा नहीं दिखाई देता। फिर भी बाह्य जगत् में गति है और परिवर्तन है, निर्माण और विघटन है। अतः उसमें और शरीर-रचना में समानता भी है। इस विषय में सूत्रकार आगे चलकर वर्णन करेगा।

प्रकृति अधिकरण

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥ ६८ ॥

पदच्छेद—पारम्पर्ये, अपि, एकत्र, परिनिष्ठा, इति, संज्ञामात्रम्।

अर्थात्—परम्परा (मानने पर) भी किसी एक (अन्तिम सीमा) पर टिकना होगा। अन्यथा यह कल्पना-मात्र होगी।

संज्ञा-मात्र का अर्थ है नाम-मात्र। क्या नाम-मात्र होगा? परम्परा कहना कथन-मात्र हो जाएगा। यदि किसी प्रक्रिया का अन्त नहीं मानेंगे तो वह प्रक्रिया ही नहीं रहेगी। परम्परा की परम्परा नहीं होती। इसकी कहीं सीमा माननी पड़ेगी।

शून्य से कभी कुछ बनता नहीं। इस कारण मूल पदार्थ मानना होगा। वह मूल जड़ है, चेतन है अथवा इन दोनों से कुछ भिन्न है? यह विचारणीय अवश्य है, परन्तु मूल है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी की खोज में तो यह प्रकरण है।

इस सूत्र में बस इतना ही कहा है कि मूल का भी मूल अर्थात् परम्परा की भी परम्परा मानना अयुक्त है। कोई प्रारम्भिक बिन्दु मानना पड़ेगा।

सूत्रकार का कहना है कि मूल प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥ ६९ ॥

पदच्छेद—समानः, प्रकृतेः, द्वयोः।

अर्थात्—प्रकृति के दोनों (रूपों) में समानता है।

प्रकृति के दो रूप वर्णन किए जा चुके हैं। मूल रूप परमाणुवत् साम्यावस्था में है और क्रियारूप [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार का कहना है कि दोनों रूपों में समानता है। क्या समानता है? इनमे जड़त्व है। जड़त्व का अर्थ क्या है? यह ब्रह्मसूत्र में एक स्थान पर इस प्रकार कहा है—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥ *(ब्र० सू० २-२-४)*

अर्थात्—उलट धर्म (गति) की उलट स्थिति (व्यवस्था) न होने से, अनपेक्ष अर्थात् (किसी दूसरे के) प्रभाव-रहित होने से।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि किसी दूसरे के प्रभाव की अनुस्थिति में उलट धर्म (गति) नहीं हो सकता।

यह प्रकृति का ही वर्णन है। इसी अभिप्राय को न्यूटन के गति के प्रथम नियम (Newton's first law of motion) में भली-भाँति वर्णन किया है। कहा है—

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state.

अर्थात्—प्रकृति का प्रत्येक कण खड़ा ही रहता है अथवा सीधी रेखा में एक स्थिर गति में चलता ही रहता है जब तक कोई बाहरी शक्ति प्रभाव न डाले।

यह है जड़त्व का गुण जो प्रकृति के दोनों रूपों में एक-समान देखा जाता है। मूल प्रकृति में रचना-कार्य आरम्भ हुआ। सूत्रकार का कहना है कि यह स्वतः आरम्भ नहीं हो सकता। इसके आरम्भ करनेवाला कोई होना चाहिए। कारण यह कि प्रकृति में गति स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकती।

खेलने के मैदान में हॉकी का गेंद रखा जाता है। जब तक इसे हॉकी-स्टिक से कोई चोट नहीं करता, यह हिलता नहीं। जब तक कोई उसे हिलाएगा नहीं, सैकड़ों वर्षों तक पड़ा रहने पर भी वह हिलेगा नहीं।

इसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों की बात है।

अतः, सूत्रकार का कहना है कि प्रकृति दोनों रूपों में, मूल रूप में तथा कार्य-जगत् की अवस्था में समान धर्मवाली है, अर्थात् जड़ है।

अन्य भाष्यकारों ने 'द्वयोः' के अर्थ में लिखा है कि प्रकृति और पुरुष, जगत् के मूल में दोनों को मानना ही ठीक होगा।

हमारा विचार है कि पूर्वापर के विचार से ये अर्थ नहीं बनते। ठीक है कि पहले यह लिखा गया है कि प्रकृति में परिवर्तन पुरुष के लिए हुए हैं, परन्तु 'समानः' के अर्थ तो स्पष्ट हैं कि 'समान' हो सकते हैं। 'ठीक है' अथवा 'सामंजस्य है' अर्थ नहीं है। हमारा कहना है कि प्रकृति के दो रूपों का ही वर्णन है।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ ७० ॥

पदच्छेद—अधिकारित्रैविध्यात्, न, नियमः ॥

अर्थात्—अधिकारी तीन प्रकार के हैं, इस कारण नियम नहीं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या नियम नहीं? क्या पूर्व के सूत्र में कुछ नियम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताया गया है? वहाँ कहा गया है कि कारण-प्रकृति और कार्य-प्रकृति में समानता है। सूत्रकार का कहना है कि कारण और कार्य में समानता का नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। कारण यह कि अधिकारी तीन प्रकार के हैं। अधिकारी से अभिप्राय है कारण कहे जाने का अधिकार रखनेवाले। जगत् के मूल तत्त्व तीन हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। ये तीनों ही कार्य-जगत् में उपस्थित हैं, अतः तीनों जगत् के कारण कहे जा सकते हैं। एक निमित्त कारण है। दूसरा भोक्ता होने से कारण है। तीसरा उपादान कारण है। जगत् की कारण से समानता केवल प्रकृति से है।

हमने पूर्व-सूत्र (१-६९) के भाष्य में कहा है कि मूल प्रकृति और कार्य-जगत् प्रकृति में समानता जड़त्व की है। इस प्रकार की समानता परमात्मा और कार्य-जगत् तथा जीवात्मा और कार्य-जगत् में नहीं है। उदाहरण के रूप में परमात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है, महान् शक्तिशाली है; इस प्रकार के गुण कार्य-जगत् में नहीं हैं। इसी प्रकार जीवात्मा में सुख-दुःख अनुभव करने के लक्षण हैं; ऐसी कोई बात कार्य-जगत् में नहीं है।

इस सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि प्रकृति के सब गुण कार्य-जगत् में नहीं हो सकते। प्रकृति, तमोभूत, अप्रज्ञेय, अप्रतर्क्य इत्यादि है। कार्य-जगत् ऐसा नहीं है। इस कारण यह कहा है कि कारण और कार्य में समानता का नियम नहीं है।

मूल प्रकृति और कार्य-जगत् में समानता जहाँ भी है और जितनी भी है, वह इस कारण है कि प्रकृति परिणामी है, अर्थात् प्रकृति में परिवर्तन होते हैं और प्रकृति का पदार्थ (matter) ही परिवर्तित रूपों में कार्य-जगत् में उपस्थित होता है। प्रकृति का जड़त्व गुण उसके सब रूपों में विद्यमान रहता है।

परमात्मा और जीवात्मा परिणामी नहीं हैं, अर्थात् उनमें परिवर्तन नहीं होते। वे ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं।

कुछ भाष्यकारों ने 'अधिकारित्रैविध्यात्' का अर्थ किया है कि ज्ञान पाने के अधिकारी तीन प्रकार के होने से।

हम समझते हैं कि यहाँ, पूर्वापर के प्रसंग से, ज्ञान पानेवालों का अर्थ ठीक नहीं। 'नियम नहीं' से अभिप्राय किसी ऐसे नियम से है, जिसका प्रकरण चल रहा है। पूर्व के सूत्र में कहा है कि प्रकृति के दोनों रूपों में समानता है, अर्थात् 'कारण-कार्य में समानता होती है' का नियम है। यह सर्वत्र उपस्थित नहीं। कारण यह कि कारण कहलाने के अधिकारी तीन हैं और तीनों का कार्य-जगत् से कारण-कार्य का सम्बन्ध एक-समान नहीं।

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥ ७१ ॥

पदच्छेद—महदाख्यम्, आद्यम्, कार्यम्, तत्-मनः।

अर्थात्—महत् जिसे कहा जाता है, प्रकृति का पहला कार्य है, वह मन है।

प्रकृति से सर्वप्रथम महत् बना। इस कारण यह उसका प्रथम कार्य माना जाता है। यही मन है।

यहाँ मन के विषय में समझने की आवश्यकता है। सांख्याचार्य ने ही एक अन्य स्थान पर यह कहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादशपंचतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥
कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ *(सांख्य २-१७, १८, १९)*

यहाँ अहंकारों से होनेवाले परिणामों का उल्लेख है। कहा है कि उस (अहंकारों) का कार्य ग्यारह (इन्द्रियाँ) और पंच तन्मात्रा हैं। इन्द्रियाँ ग्यारह बतायी हैं।

(ग्यारह इन्द्रियाँ) सात्त्विक व्यवहार वाली हैं, वैकृत (वैकारिक) अहंकार से (बनी) हैं।

कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और भीतरी इन्द्रिय—ये ग्यारह हैं।

अन्य भाष्यकारों ने इन सूत्रों से यह अर्थ किया है कि अहंकारों से ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक आभ्यन्तर की इन्द्रिय) बनी हैं। इस आभ्यन्तर की इन्द्रिय का अर्थ मन किया जाता है। इसी कारण मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा जाता है।

परन्तु इस सूत्र (१-७१) में महत् को प्रकृति का प्रथम परिणाम कहा है और इसे मन कहा है। इससे दोनों बातों में विरोध प्रतीत होता है। एक स्थान पर मन को प्रकृति का प्रथम परिणाम कहा है और दूसरे स्थान पर मन को इन्द्रिय कहा है, अर्थात् वह तीसरा परिणाम है।

हम समझते हैं कि सूत्रकार के आशय को न समझकर भाष्यकारों ने अर्थ करने में भूल की है। मन तो प्रकृति का प्रथम परिणाम है। यह वह मन है जिसके विषय में वेद-मन्त्र में इस प्रकार कहा है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥ *(यजु० ३४-१)*

यह मन, जब मनुष्य जागता है तो दूर-दूर जाता है और जब मनुष्य सोता है तो मन भी सो जाता है। यह दूर तक पहुँचनेवाला प्रकाश (ज्ञान) का साधन है। यह एकमात्र ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पोंवाला हो।

और जो ग्यारहवीं इन्द्रिय सांख्य-सूत्र (२-१७, १८) में बतायी है वह मन नहीं, वरन् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का संगम-स्थान है। वह स्थान उस मन से सम्पर्क रखता माना जा सकता है, जो महत् का अंश है।

यदि ऐसा स्वीकार न करेंगे तो कपिल-सूत्रों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाएगा। हम समझते हैं कि हमारा विचार ठीक है। भाष्यकारों ने दोनों में बिना पाठ पढ़े भूल कर दी है।

श्री उदयवीर शास्त्री का मत है कि प्रकृति और महत् के भीतर एक अन्य पदार्थ बनता है। उनका विचार है कि यजुर्वेद (२३-५४) में इसे विद्युत् और मनुस्मृति (१-८) में इसे 'आपः' कहा है। उन्होंने कुछ अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। हम शास्त्री जी से भी मतभेद रखते हैं। यजुर्वेद-मन्त्र २३-५४ इस प्रकार है—

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ *(यजु० २३-५४)*

श्री उदयवीर जी ने महर्षि स्वामी दयानन्द जी के अर्थों से ही उक्त बात कही है। स्वामी जी इस मन्त्र में 'द्यौ' शब्द का अर्थ विद्युत् करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा मत है कि यहाँ 'द्यौ' का अर्थ दिव्य प्रकाशमय पदार्थ है। यह वह तेज है जिसका ऋग्वेद (१०-१२९-३) में वर्णन किया गया है। यह पूर्व में था। इसे ही स्वामी दयानन्द ने विद्युत् कहा है। इस तेज को चित्तिः भी कहा है और वेद में इसे मनीषा (ऋ० १०-१२९-४) कहा है। इससे अश्व उत्पन्न हुआ। स्वामी जी का अश्व से अर्थ महत् भी ठीक नहीं।

अतः मन्त्रार्थ इस प्रकार बनता है। परमात्मा का तेज था जो चित्तिः था। उससे अश्व बना····। तेज प्रकृति और महत् के बीच का पदार्थ नहीं। यह प्रकृति में परिवर्तन करने वाली परमात्मा की शक्ति है। इसे ही अग्नि कहा है।

मनुस्मृति का श्लोक इस प्रकार है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्ससृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्॥ *(मनु० १-८)*

उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सबसे पहले आपः ही रचे। उसमें (शक्तिरूप) बीज छोड़ा।

यहाँ आपः से अभिप्राय अहंकारों से है।

अगले श्लोक में कहा है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। *(मनु० १-९)*

वह अण्डा (बीज) स्वर्ण-समान प्रभावाले सूर्य के समान प्रकाशवाला था। [यह अंग्रेज़ी में 'नैब्युला' (nebula) कहलाता है।]

यजुर्वेद २३-५४ में द्यौ का अर्थ तेज प्रतीत होता है। जहाँ कहीं भी महत् का उल्लेख आया है, वहाँ आपः का नाम नहीं आया। साथ ही परमात्मा के तेज से आपः बने और उसी (तेज) से महत् बना। आपः से सृष्टि-रचना हुई और महत् से भी सृष्टि-रचना हुई। इतना स्पष्ट है कि इसका महत् और अहंकारों से ही अभिप्राय है।

हमारा यह विचारित मत है कि कपिल मुनि के कथन में और वेद में कहीं भी भेद नहीं है।

चरमोऽहङ्कारः ॥ ७२ ॥

पदच्छेद—चरमः, अहंकारः।

अर्थात्—चरम शब्द का अर्थ है पराकाष्ठा (extreme), परन्तु यहाँ इस (चरमः) शब्द का अर्थ 'इससे आगे' (next) प्रतीत होता है।

अतः सूत्रार्थ है कि अब आगे अहंकार बनता है।

अहंकार एकवचन है। हमने बताया है कि अहंकार तीन प्रकार के हैं—वैकारिक, तैजस और भूतादि। अहंकार को एकवचन में उसी प्रकार लिखा है जैसे वेद कहने से चारों वेदों का अर्थ लिया जाता है अथवा जीवात्मा (एकवचन) कहने से जीवात्माओं का अर्थ लिया जाता है।

सुश्रुत के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सात्त्विक (वैकारिक) अहंकार और तैजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ बनीं और पंच तन्मात्रा बनीं तथा भूतादि अहंकार और तैजस की सहायता से पंचमहाभूत बने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥

पदच्छेद—तत्कार्यत्वम्, उत्तरेषाम् ।

अर्थात्—आगे कहे गए पदार्थ इस (अहंकार) से बने हैं। यह सब ऊपर वर्णन कर आए हैं।

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥ ७४ ॥

पदच्छेद—आद्यहेतुता तत्-द्वारा पारम्पर्ये, अपि, अणुवत् ।

अर्थात्—आदि हेतु है। इस कारण (तथा) उस द्वारा परम्परा से (सृष्टि-रचना होने पर) भी (वह) अणुवत् है।

ऊपर सूत्र में कहा है कि पूर्ण कार्य अहंकारों से बना है। यहाँ कहा है कि आदि हेतु होने पर भी वह अणुमात्र है। यहाँ अणु से अभिप्राय अतिसूक्ष्म कहा जा सकता है। अहंकारों से एक ओर तो इन्द्रियाँ बनती हैं, दूसरी ओर पंच महाभूत बनते हैं। पंच महाभूतों से जगत् के सब पदार्थ बनते हैं। अणु से अभिप्राय है सूक्ष्म कण। बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़ों में प्रकृति के परमाणु होते हैं, क्योंकि उससे छोटे टुकड़े नहीं होते। अहंकारों को अणु कहा है। प्रत्येक अहंकार के अणु में प्रकृति के कई परमाणु होते हैं।

यह कहा है कि आदि कारण से जगत् और उससे क्रमवार सृष्टि के पदार्थ बने हैं। इस कारण यह अणुवत् है, सिद्ध है। कणों में है।

हम चित्रों द्वारा बता चुके हैं कि किस प्रकार परमाणुओं के संयोग-वियोग से सृष्टि के विविध पदार्थ बने हैं। परम्परा का चित्र इस प्रकार बन सकता है—

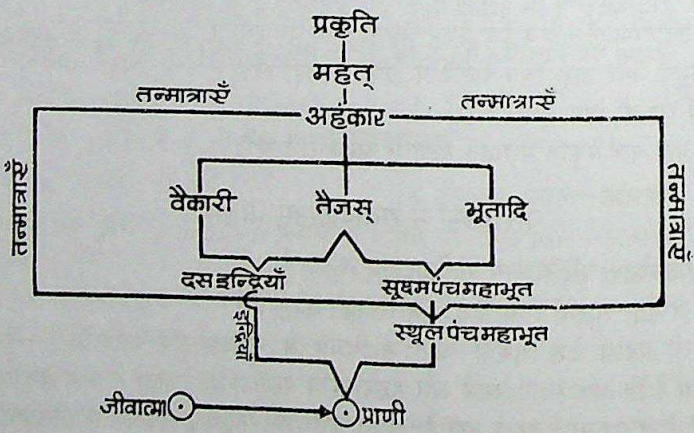

प्रकृति परमाणुवत् है। परमाणुओं के समूह बनते हैं। अणुओं के समूह में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमाणुओं की संख्या और परस्पर मिलने की विधि से असंख्य प्रकार के द्रव्य बनते हैं।

अतएव यदि अहंकारों को अणुवत् न मानें तो जगत् के असंख्य द्रव्यों की रचना वर्णन नहीं की जा सकती ! अनेक बनने की बात नहीं हो सकती।

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥ ७५ ॥

पदच्छेद—पूर्वभावित्वे, द्वयोः, एकतरस्य, हाने, अन्यतर, योगः।

अर्थात्—पहले होने से दोनों में (उनमें से) एक के न रहने पर दूसरे का योग रहता है।

इस सूत्र में 'द्वयोः' का अभिप्राय अन्य भाष्यकारों ने प्रकृति और पुरुष लिया है और पूर्व का अर्थ वे रचना आरम्भ होने से पूर्व लेते हैं।

हमारा यह कहना है कि 'द्वयोः' से उन दो का अभिप्राय है जो इससे पूर्व के सूत्र में कहा है। वहाँ कहा है अणुवत् अहंकार और उसकी परम्परा में बननेवाले पदार्थ पंचभूतादि; और पूर्व के अर्थ हम लेते हैं 'होने' से पूर्व।

अतः हमारे विचार में अर्थ बनता है कि वे दो जिनका ऊपर के सूत्र में वर्णन आया है। जब एक का नाश होता है तो दूसरे का योग रहता है, अर्थात् दूसरा बना रह सकता है। प्रकृति के परमाणु साम्यावस्था में होते हैं। साम्यावस्था भंग हुई तो इनका स्वरूप बदला और ये महत् के रूप में हो गए। महत् के परमाणु समूहों में हुए तो अहंकार बन गए। तब महत् वाले परमाणु नहीं रहे। अहंकारों से पंच महाभूत बने तो अहंकारों के समूह नहीं रहे। इसी प्रकार परम्परा है।

सूत्रकार का कहना है कि जब एक का नाश हो तो दूसरा बनता है। तब पहले का नाश होने पर दूसरे का योग रहता है।

उदाहरण लें—जब हाइड्रोजन जलती है तो यह हवा की ऑक्सीजन से मिलती है। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन जलने के उपरान्त नहीं रहतीं। परन्तु इनके जलने से जल बनता है, वह तो रहता है।

यही बात प्रकृति से महत्, महत् से अहंकारों इत्यादि के बनने की है।

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥ ७६ ॥

पदच्छेद—परिच्छिन्नम्, सर्वोपादानम्, न।

अर्थात्—दूसरों से कटी हुई (अलग हुई पड़ी), सबके बनानेवाली नहीं हो सकती।

जो पदार्थ देश अथवा काल के विचार से परिच्छिन्न है—देश के विचार से अभिप्राय है कि एक स्थान पर है और दूसरे स्थान पर नहीं है, काल के विचार से जो एक काल में है और दूसरे काल में नहीं है—ऐसा परिच्छिन्न पदार्थ संसार की सब वस्तुओं का उपादान (बनानेवाला) कारण नहीं हो सकता। प्रकृति सर्वत्र उपस्थित होने से ही ऐसा उपादान हो सकती है जो पूर्ण जगत् का कारण हो सकती है। परिच्छिन्न पदार्थ ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे पदार्थों में से किसी से कुछ बनता है और किसी से कुछ, अर्थात् प्रकृति सर्वत्र उपस्थित है और सबका मूल पदार्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

पदच्छेद—तत्, उत्पत्तिश्रुतेः, च ।

अर्थात्—तत् से अभिप्राय है वह—परिच्छिन्न पदार्थ जिसका ऊपर के सूत्र (१-७६) में वर्णन है । इसकी उत्पत्ति का वर्णन श्रुति (वेदों) में भी है ।

वेद का एक मन्त्र है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ (ऋ० १०-७२-४)

अर्थात्—जगत् को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति से आकाश में गति करनेवाले सूर्य, चन्द्रादि प्रकट हुए । प्रकृति से दिशाएँ बनीं । प्रकृति से अग्नि (energy) बनी और अग्नि से विदितिः अर्थात् वेद-वाणी प्रकट हुई ।

इस प्रकार प्रकृति से जगत्-रचना की श्रुति में प्रमाण है ।

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥

पदच्छेद—न, अवस्तुनः, वस्तुसिद्धिः ।

अर्थात्—नहीं है अवस्तु से वस्तु की सिद्धि ।

शून्य से कुछ कहाँ से बन जाएगा ? कार्य-जगत् प्रत्यक्ष है; इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, अर्थात् वह वस्तु है । वस्तु का अभिप्राय है 'वास्तव में उपस्थित' । सूत्रकार कहता है कि मूल इस कारण भी वस्तु माना जाएगा । उसका अस्तित्व भी मानना होगा । अवस्तु से वस्तु नहीं बन सकती ।

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥ ७९ ॥

पदच्छेद—अबाधात्, अदुष्ट-कारणजन्यत्वात्, च, न, अवस्तुत्वम् ।

अर्थात्—बाधा नहीं होने से, निर्दोष कारणों से उत्पन्न होनेवाले (प्रतीत होने से) नहीं है अवस्तु होना ।

ऊपर कहा है कि अवस्तु से वस्तु नहीं हो सकती, अर्थात् प्रकृति जो कार्य-जगत् का मूल कारण है, वह भी वस्तु है । उसका अस्तित्व है । इस सूत्र (१-७९) में यह बताया है कि जगत् वस्तु है; क्योंकि निर्दोष कारणों से जाना जा सकता है । सूत्र में शब्द हैं 'अदुष्टकारण-जन्यत्वात्'—दोषरहित कारणों से उत्पन्न होने से, अर्थात् निर्मल आँखों से देखा जा सकने से । यह स्पर्श किया जा सकता है, इत्यादि ।

ऐसा जानने के उपरान्त इसके अस्तित्व को मानने में कोई बाधा नहीं, अर्थात् आपत्ति नहीं । इस सूत्र का अर्थ एक अन्य ढंग से भी किया जा सकता है—

अबाधात् अदुष्ट कारण जन्यत्वात्, अर्थात् बाधारहित (निर्विवाद रूप में सिद्ध किया जा चुका है) निर्दोष कारण से उत्पन्न (युक्ति-युक्त ढंग से सिद्ध किया जा चुका है) जगत् का अस्तित्व है ।

दोनों ढंग से अभिप्राय एक ही बनता है कि जगत् का अस्तित्व है । यह वस्तु है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सूत्र १-७८ के अनुसार यह अवस्तु से बना नहीं हो सकता।

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥ ८० ॥

पदच्छेद—भावे, तत्-योगेन, तत्-सिद्धिः, अभावे, तत्-अभावात्, कुतस्तराम्, तत्-सिद्धिः।

अर्थात्—(मूल के) होने पर उसके संयोग से उस (कार्य-जगत्) की सिद्धि होती है। मूल के (अभाव) होने पर कार्य-जगत् का (भी) अभाव होगा। कैसे उसकी सिद्धि मानें?

इसका अभिप्राय यह है कि मूल पदार्थ, प्रकृति के अस्तित्व को मान लेने पर कार्य-जगत् के भी अस्तित्व को मानना होगा और प्रकृति के अभाव में कार्य-जगत् का भी अभाव मानना होगा। परन्तु कार्य-जगत् तो है। (प्रकृति के अभाव में) कैसे उस (कार्य-जगत्) की सिद्धि मानी जा सकती है? अभिप्राय यह कि मूल प्रकृति का अभाव नहीं माना जा सकता।

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥ ८१ ॥

पदच्छेद—न कर्मणः, उपादानत्व, अयोगात्।

अर्थात्—नहीं होता कर्म का (फल), प्रकृति के उपादानत्व से सम्बन्ध के बिना।

इसका अभिप्राय यह बनता है कि जब तक कर्म का उपादान (material cause) के साथ योग (सम्बन्ध) न हो तब तक कर्म का फल नहीं हो सकता। कार्य-जगत् रचा हुआ सामने उपस्थित है। यह वस्तु है। इस कारण (मूल) भी वस्तु होगा। यह सब ऊपर युक्ति से सिद्ध कर चुके हैं। यहाँ यह कहा है कि रचना-कार्य तब ही सिद्ध (सम्पन्न) हो सकता है जब कर्म का उपादान से सम्बन्ध हो। परिवर्तन में कर्म होता है। कर्म बिना किसी पदार्थ पर प्रभाव के नहीं होगा।

यह माना जा सकता है कि रचनेवाला कोई है। वह, बिना किसी उपादान के संयोग में आए, भला कैसे रचना-कार्य कर सकता है? कर्म को किसी क्षेत्र की आवश्यकता रहती है। परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति का सम्पर्क किसी उपादान गुण वाले पदार्थ से हो तब ही रचना सम्भव है।

एक वेद-मन्त्र में भी ऐसा वर्णन है (ऋ० १०-१२९-५)। वहाँ लिखा है कि तेज की तरंगें स्वधा (प्रकृति) के ऊपर-नीचे प्रभाव डालती हैं और सृष्टि-रचना होती है। (देखें भाष्य सांख्य १-६५)

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥

पदच्छेद—न, आनुश्रविकात्, अपि, तत्सिद्धिः, साध्यत्वेन, आवृत्तियोगात्, अपुरुषार्थत्वम्।

अर्थात्—वेद में कहे से भी उसकी सिद्धि नहीं। साध्य होने से है। (आवृत्तियोगात्) दोहराए जाने के योग से अपुरुषार्थ हो जाएगा।

पूर्व के सूत्र में कहा है कि कर्म के प्रकृति से संम्पर्क के बिना कार्य सम्पन्न नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। इस सूत्र में कहा है कि वेद में कहे से भी ऐसा नहीं है। बिना उपादान के कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

इस सूत्र में युक्ति भी दी है। युक्ति यह है कि कार्य साध्य है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो इसके दोहराए जाने से पुरुषार्थ-हीनता हो जाएगी।

अभिप्राय यह है कि यदि कर्म और प्रकृति का संयोग नहीं मानें तो साध्य अर्थात् कार्य-जगत् (आवृत्ति योग) का न बनना अपुरुषार्थ हो जाएगा, अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि कार्य-जगत् बना ही नहीं।

आवृत्ति योग से अभिप्राय है पुनः करने का योग। अभिप्राय रचना-कार्य से है।

आनुश्रविक का अर्थ श्री उदयवीर शास्त्री ने किया है—केवल यज्ञयागादिक वैदिक कर्म।

आनुश्रविक के शाब्दिक अर्थ हैं श्रवण किए के अनुसार। यहाँ श्रवण से अभिप्राय है वेद में कहे को श्रवण करने के अनुसार। इसके यहाँ यज्ञ-यागादि कर्मों से सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार शास्त्री जी 'तत् सिद्धिः' का अभिप्राय बताते हैं—अपवर्ग (मोक्ष) की सिद्धि। हमारा यह कहना है कि यह प्रकरण है प्रकृति का। कहा यह जा रहा है कि कार्य-जगत् दिखाई देता है। निर्दोष कारणों से यह सिद्ध किया जा सकता है। परमात्मा द्वारा भी बिना उपादान पर कार्य किए परिणाम नहीं निकल सकता। अतः यहाँ मोक्ष-प्राप्ति का विषय नहीं है। सिद्धि है कार्य-जगत् का बनना। यही साध्य है। निमित्त कारण है परमात्मा। वह कार्य करता है। कार्य करने के लिए कोई क्षेत्र होना चाहिए। यदि यह मानेंगे कि उपादान कारण नहीं, तो साध्य नहीं रहेगा और फिर परमात्मा का कार्य अकार्य हो जाएगा। यहाँ न तो यज्ञ-यागादिक वैदिक कर्मों से तात्पर्य है और न ही मोक्ष-प्राप्ति से है।

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥

पदच्छेद—तत्र, प्राप्तविवेकस्य, अनावृत्ति, श्रुतिः।

अर्थात्—वहाँ (उपर्युक्त सूत्रों में) प्राप्त विवेक (कथन) का श्रुति के अनुसार होना।

अभिप्राय यह है कि जो कुछ ऊपर के सूत्रों में कहा गया है, वह श्रुति के अनुसार होता है।

'आवृत्ति' का अर्थ 'reversion' भी है, अर्थात् उलट देना। 'अनावृत्ति' न उलटना होगा, अर्थात् अनुसार होना।

विवेक का अर्थ है विचार किया हुआ, अर्थात् युक्ति से पता किया गया। वह श्रुति भी है। मोनियर विलियम अपने शब्दकोष में विवेक का अर्थ करते हैं—'Knowledge'।

अतएव सूत्र के अर्थ बनते हैं कि उपर्युक्त सूत्र में 'आनुश्रविकात्' बात कही है (वेदानुकूल कथन किया है), साथ ही वहाँ युक्ति भी की है। इस सूत्र में कहा है कि जो कुछ युक्ति से प्राप्त किया गया है, यह वेदानुसार ही है, अर्थात् युक्ति और वेद एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात कहते हैं। क्या कहते हैं ?

यह कि प्रकृति है; क्योंकि परमात्मा भी रचना-कार्य नहीं कर सकता जब तक उपादानत्व गुण वाला कोई पदार्थ कर्म करने के लिए उपस्थित न हो।

दुःखात्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४ ॥

पदच्छेद—दुःखात्, दुःखम्, जलाभिषेकवत्, न, जाड्यविमोकः ।

अर्थात्—दुःख से दुःख (ही होता है) जल से भीगने की भाँति। (इसी प्रकार) नहीं जड़ता से विमुक्ति।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति जड़ है। स्वतः इसमें गति अथवा चेतनता नहीं आ सकती। जैसे दुःख से दुःख ही प्राप्त होता है अथवा जल से मनुष्य गीला ही होता है।

सूत्रकार यह बता चुका है कि कार्य-जगत् का एक मूल पदार्थ है। वह मूल पदार्थ अपना मूल नहीं रखता। कारण यह कि कहीं से आरम्भ तो मानना पड़ेगा। सूत्रकार ने यह भी बताया है कि शून्य से कुछ बन नहीं सकता। इतना सिद्ध करने के उपरान्त उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि यह कार्य-जगत् भी भ्रम नहीं। यह वस्तु है। इसका अस्तित्व है।

इतना-कुछ बताकर सूत्रकार कहता है कि जड़ पदार्थ बिना किसी चेतन के प्रभाव के गतिशील अथवा चेतनायुक्त नहीं हो सकते। इस एक सामान्य कथन से वह पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्ति करने लगा है।

जड़ पदार्थों के विषय में हम अपना अनुभव लिख आए हैं कि इन पर बिना किसी शक्ति के आरोप के इनमें गति उत्पन्न नहीं होती। इसी सम्बन्ध में हमने न्यूटन के गति के नियमों में प्रथम नियम लिखा है। उसी विचार का सूत्रकार इस सूत्र (१-८४) में वर्णन कर रहा है। जड़ में स्वतः गति उत्पन्न नहीं हो सकती। जड़ से जड़त्व ही होगा जैसे जल से गीला ही होगा।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५ ॥

पदच्छेद—काम्ये, अकाम्ये, अपि, साध्यत्व-अविशेषात्।

अर्थात्—कामनायुक्त (और) कामनारहित (कर्मों के करने पर) सिद्धि-योग्य (उद्देश्य) में विशेषता नहीं।

विशेषता नहीं का अभिप्राय है कि दोनों व्यवस्थाओं में कर्म-फल में अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। एक अवस्था है जब कर्म किसी कामना अर्थात् फल की इच्छा से किया जाए, और दूसरी अवस्था है जब कर्म निष्काम भाव से किया जाए। सूत्रकार का कहना है कि कर्म-फल तो कर्म का होता है, चाहे वह किसी भी उद्देश्य अथवा बिना उद्देश्य के किया जाए।

इसका अर्थ यह है कि निष्काम भाव से भी किए कर्म का फल तो निकलता ही है। जहाँ तक सृष्टि-रचना का सम्बन्ध है—इसमें सूत्र का अभिप्राय यह है कि रचना करने वाले की कुछ कामना थी अथवा नहीं थी, इसका विचार किए बिना भी रचना-कार्य हुआ है और इसका फल हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ ८६ ॥

पदच्छेद--निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रम्, परम् न समानत्वम् ।

अर्थात्—अपने गुणों से मुक्त के बन्ध का विनाश मात्र (ही) परम साध्य है। यह समान होना नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके बन्ध के टूटने की बात हो रही है ? सूत्र १-६८ से प्रकृति अधिकरण आरम्भ हुआ है।

सूत्र १-६८ में सूत्रकार ने कहा है कि प्रकृति के दोनों रूपों में मुख्य गुण समान है।

सूत्र १-७० में कहा है कि मूल पदार्थ तीन हैं। अतः दो में समान गुणवाली प्रकृति की बात अन्य मूल पदार्थों में लागू नहीं होती। कारण यह कि उनके परिणाम नहीं होते। वे अपरिवर्तनशील रहते हैं। उनकी अवस्था में मूल और परिणामों का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

सूत्र १-७१ में सूत्रकार ने बताया है कि प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् है। यही मन है।

सूत्र १-७२ में कहा है कि महत् से आगे अहंकार है।

सूत्र १-७३ में कहा है कि आगे के सब परिणाम अहंकार से बने हैं।

सूत्र १-७४ में कहा है कि प्रकृति आदि हेतु होने के कारण परमाणुवत् है। परमाणु होने के कारण ही कार्य-जगत् के परिणामों की परम्परा चलती है।

सूत्र १-७५ में कहा है कि कार्य-जगत् के नष्ट हो जाने पर भी मूल का नाश नहीं हो जाता। परमाणुओं के संयोग-वियोग से ही परिणामी है। परमाणुओं में हेर-फेर नहीं होता।

सूत्र १-७६—प्रकृति परिच्छिन्न नहीं। यह परमाणुरूप होने पर भी सर्वत्र उपस्थित है।

सूत्र १-७७ में कहा है कि परमाणुवत् प्रकृति से कार्य-जगत् की उत्पत्ति वेद में भी कही है।

सूत्र १-७८ में कहा है कि अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्य से कुछ बनेगा, यह अयुक्ति-संगत है।

सूत्र १-७९ में कहा है कि कार्य-जगत् का अस्तित्व निर्दोष (आपत्ति-रहित) कारणों (युक्तियों) से सिद्ध होता है। अतः मूल प्रकृति की भी सिद्धि होती है।

सूत्र १-८०—प्रकृति है, क्योंकि कार्य-जगत् है। यदि प्रकृति (मूल पदार्थ) को न मानें तो कार्य-जगत् को भी नहीं मान सकते। परन्तु कार्य-जगत् तो है। इस कारण मूल प्रकृति भी है।

सूत्र १-८१—कर्त्ता जब तक किसी उपादान-तत्त्व (material cause) के सम्पर्क में न आए तब तक कार्य नहीं हो सकता। कर्म से अभिप्राय रचना-कार्य है।

सूत्र १-८२—वेद के कथनुसार भी कार्य-जगत् की उत्पत्ति सिद्ध है।

सूत्र १-८३ में कहा है कि ऊपर जो कुछ युक्ति से सिद्ध किया गया है, वह वेद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी वर्णित है।

सूत्र १-८४ में कहा है कि जैसे दुःख से दुःख ही हो सकता है, इसी प्रकार जड़ पदार्थ में जड़त्व ही होगा, चेतना नहीं हो सकती।

सूत्र १-८५ में कहा है कि कार्य का प्रभाव तो होगा। यह चाहे कामनायुक्त हो अथवा कामनारहित हो।

अभिप्राय यह है कि जगत्-रचना में रचयिता का क्या प्रयोजन है, इसके विषय में विचार किए बिना भी यह निर्विवाद है कि कार्य-जगत् बना है।

अतएव इस सूत्र (१-८६) में भी प्रकृति का ही वर्णन है। बन्ध और मुक्त अवस्थाएँ प्रकृति का ही वर्णन हैं। प्रकृति की भी दो अवस्थाएँ हैं। बन्ध की अवस्था वह है, जब परमाणु के तीनों गुण साम्यावस्था में (परस्पर बँधी अवस्था में) होते हैं और मुक्तावस्था वह है जब ये गुण परस्पर बन्ध से छूटकर कार्य करने लगते हैं।

सूत्र में कहा है कि प्रकृति की बन्ध अवस्था से मुक्त-अवस्था हो जाना एक परम अर्थात् अति महान् कार्य है। यह अन्य कार्य (जगत् के परिवर्तनों) के समान नहीं है।

परमाणु में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग होना इतना सरल काम नहीं जितना कि लकड़ी का जलकर अपने अवयवों से विमुक्त होना है। वह कर्म अति महान् है, अर्थात् साम्यावस्था भंग करनेवाले में विशेष सामर्थ्य होनी चाहिए। कार्य-जगत् में परिवर्तन होना साम्यावस्था भंग होने की तुलना में अति तुच्छ कार्य है।

अतः सूत्रार्थ है कि मुक्त हुए (प्रकृति) के बन्ध का नाश होना मात्र महान् कार्य है। सामान्य ध्वंस नहीं है।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ ८७ ॥

पदच्छेद—द्वयोः, एकतरस्य, अपि, वा, असन्निकृष्टार्थ, परिच्छित्तिः, प्रमा, तत्-साधकतमम्, यत्, तत्-त्रिविधम् प्रमाणम्।

अर्थात्—दोनों (कार्य जिनमें समानता नहीं कही—सूत्र १-८६) में, अथवा उनमें से एक (कार्य) का पूर्व अज्ञात अर्थ (रूप अथवा कार्य) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमा है। उसको जो प्रमाण सिद्ध करता है वह तीन प्रकार का है।

'द्वयोः' का अर्थ है वे दो जिनका वर्णन ऊपर हो रहा है—एक, परमाणु में गुणों की साम्यावस्था भंग होना; और दूसरे, कार्य-जगत् में परिवर्त्तन होना। इन दोनों क्रियाओं में, अथवा एक में, परोक्ष में होनेवाली क्रिया जो इन्द्रिय से नहीं जानी जा सकती, उसका यथार्थ ज्ञान जानने के प्रमाण तीन प्रकार के हैं। ये प्रमाण हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥ ८८ ॥

पदच्छेद—तत्-सिद्धौ सर्वसिद्धेः, न, आधिक्यसिद्धिः।

अर्थात्—उन (तीन प्रकार के प्रमाण) के सिद्ध होने पर सब-कुछ सिद्ध होने से। सिद्ध करने में और अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं।

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि इन तीन प्रमाणों के प्रयोग से अथवा इनमें से किसी एक के प्रयोग से जो सिद्धि होती है, वह निश्चयात्मक है। उससे अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। अभिप्राय यह है कि संसार का पूर्ण ज्ञान इन तीन प्रमाणों से प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ अन्य शास्त्रों में प्रमाणों की संख्या तीन से अधिक भी बतायी है। कपिल मुनि का यह कहना है कि अन्य प्रमाण भी इन तीन मुख्य प्रमाणों के अन्तर्गत हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सांख्य-शास्त्र अपना सब-कुछ इन तीन प्रमाणों से ही सिद्ध कर सकने की घोषणा करता है। वह अन्य प्रमाणों की आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

न्याय-दर्शन में प्रमाणों के विषय में इस प्रकार कहा है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ *(न्याय० १-१-३)*

अर्थात्—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये प्रमाण हैं। इस प्रकार न्याय में चार प्रकार के प्रमाण कहे हैं।

वास्तव में अनुमान और उपमान में विशेष भेद नहीं। दोनों को एक के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है।

यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥ ८९ ॥

पदच्छेद—यत्-सम्बद्धम्, सत् तदाकारोल्लेखि, विज्ञानम्, तत्, प्रत्यक्षम्।

अर्थात्—जिसके साथ सम्बद्ध होता हुआ, उसी के आकार को धारण करनेवाला अथवा आकार का उल्लेख करनेवाला जो विशेष ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।

सम्बद्ध होता हुआ का अभिप्राय है सम्पर्क में आता हुआ। जब कोई पदार्थ इन्द्रियों के सम्पर्क में आए तो जैसा उसका आकार-विस्तार इन्द्रियों को पता चले, उसका वैसा ही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ किसी पदार्थ का जैसा ज्ञान कराती हैं उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, और ज्ञान कराने की क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ ९० ॥

पदच्छेद—योगिनाम्, अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्, न, दोषः।

अर्थात्—योगियों का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष न होने पर (भी) दोषयुक्त नहीं।

योगीजन आभ्यंतरिक करणों से ज्ञान प्राप्त करते हैं। करण दो प्रकार के हैं—बाह्य और आभ्यंतरिक। आभ्यंतरिक करण हैं मन और बुद्धि। योगीजन मन और बुद्धि से प्रत्यक्ष करते हैं। सूत्रकार ने कहा है कि यद्यपि योगियों का प्रत्यक्ष ज्ञान बाहरी इन्द्रियों श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण द्वारा नहीं होता, तब भी वह ज्ञान दोषरहित होता है। यह योगियों का ज्ञान अबाह्य प्रत्यक्ष है।

मन और बुद्धि से किस प्रकार प्रत्यक्ष होता है? यह शब्दों में तो नहीं बताया जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि योगियों का मन और उनकी बुद्धि, दोनों इतने परिष्कृत हो जाते हैं कि वे बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना भी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकते हैं।

अतः सूत्रार्थ यह बनता है कि योगियों का आभ्यन्तरिक करणों से प्राप्त ज्ञान भी ठीक ही होता है। हमने यहाँ मन-बुद्धि को आभ्यन्तरिक करण कहा है, इन्द्रियाँ नहीं कहा। (इसके लिए देखें सूत्र १-७१ पर भाष्य)

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१ ॥

पदच्छेद—लीनवस्तुलब्धातिशय-सम्बन्धात् वा अदोषः।

अर्थात्—अथवा लीन वस्तु से अतिशय सम्बन्ध से प्राप्त ज्ञान भी निर्दोष है।

'वा' पूर्व-सूत्र के विकल्प के अर्थ में आया है। अभिप्राय यह है कि पूर्व-सूत्र में कही बात को ही दूसरे ढंग से कहा है और उसमें वृद्धि की है।

पूर्व-सूत्र (१-९०) में यह कहा है कि योगी का अबाह्य प्रत्यक्ष निर्दोष है। इस सूत्र (१-९१) में यह कहा है कि लीन वस्तु से घनिष्ट सम्पर्क हो जाने से योगी का ज्ञान दोषरहित होता है। लीन वस्तु का अभिप्राय है वह वस्तु जो लीन हो गई है, अर्थात् महदादि। इनसे योगियों का घनिष्ट सम्बन्ध हो जाने से उनका उनके विषय में ज्ञान दोषरहित है। कार्य-जगत् और महदादि पदार्थ लीन होनेवाले पदार्थ हैं। ये प्रकृति में लीन होते हैं। अतः हमारा अभिप्राय यह है कि आभ्यंतरिक प्रत्यक्ष महदादि तक ही जाता है। यह प्रकृति तक नहीं जाता।

कुछ भाष्यकार लीन वस्तु से अभिप्राय प्रकृति लेते हैं। हमारा उनसे मतभेद है। प्रकृति लीन वस्तु नहीं। कार्य-जगत् महद् तक लीन वस्तु है।

इसका अभिप्राय है कि योगी का प्रत्यक्ष बाह्य अथवा आभ्यंतरिक प्रत्यक्ष प्रकृति तक नहीं जाता। प्रकृति के ज्ञान के लिए योगी को भी अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है। यह ठीक है कि योगी का अनुमान अधिक दूरगामी होगा। उसका प्रत्यक्ष भी दूरगामी होता है और अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित होता है।

ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥

पदच्छेद—ईश्वर-असिद्धेः।

अर्थात्—ईश्वर की सिद्धि (प्रत्यक्ष से) नहीं हो सकती।

प्रत्यक्ष का अर्थ सूत्रकार ऊपर बता चुका है। इन्द्रियों के सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। योगियों का प्रत्यक्ष आभ्यंतरिक करणों के साथ पदार्थ के सम्पर्क से बनता है। इन दोनों प्रकार के सम्पर्क से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता।

इस सूत्र को पूर्व के सूत्रों (१-९०, ९१) के सन्दर्भ में पढ़ने से यह पता चलता है कि इन्द्रियों से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। यह विख्यात है कि योगियों को ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इन सूत्रों को एक-साथ लेने से तो यह पता चलता है कि योगियों को भी जो ज्ञान मन और बुद्धि से होता है, उससे भी ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष किसी प्रकार हो भी सकता है अथवा नहीं? यह सूत्रकार आगे चलकर बताएगा। यह बात का यहाँ संकेत मिलता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि योगियों का भी दो प्रकार का ज्ञान है—अबाह्य करणों द्वारा, और करणों के अतिरिक्त सीधा जीवात्मा को।

यहाँ तो इतने से ही प्रयोजन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष बाह्य अथवा आभ्यंतरिक करणों के वस्तु से सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान को कहते हैं।

इस सूत्र के यह अर्थ नहीं बनते कि ईश्वर की सिद्धि हो ही नहीं सकती। ऐसा अर्थ करना पूर्वापर-सम्बन्ध की अवहेलना हो जाएगी।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥

पदच्छेद—मुक्तबद्धयोः, अन्यतराभावात्, न, तत् सिद्धिः।

अर्थात्—मुक्त और बद्ध दोनों (अवस्थाओं) का, दूसरे की स्थिति का होना (भी प्रत्यक्ष से) सिद्ध नहीं होता।

यहाँ मुक्त और बद्ध अवस्थाओं से अभिप्राय प्रकृति की साम्यावस्था और कार्य-जगत् की अवस्था है। (देखें सूत्र १-८६ पर भाष्य)।

यहाँ 'अन्यतराभावात्' का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। 'अन्यतराभावात्' का अर्थ बनता है भिन्न अवस्थावाले का भी होना। अन्यतरा के अर्थ मोनियर विलियम्स अपने शब्दकोष में करते हैं other, different।

अतः सूत्र का अर्थ बनता है कि प्रकृति की मुक्त और बद्ध अवस्थाओं से भिन्न की भी नहीं है (प्रत्यक्ष से) सिद्धि।

पूर्वापर का सम्बन्ध देखने से सूत्र के यही अर्थ बनते हैं। प्रकृति की मुक्त और बद्ध अवस्थाओं से भिन्न है जीवात्मा। इसकी भी मुक्त और बद्ध अवस्थाएँ हैं। जीवात्मा की भी सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती।

ऊपर लिखा है कि योगियों को लीन वस्तु का ज्ञान तो प्रत्यक्ष से होता है। लीन वस्तु का अर्थ कार्य-जगत् और अहंकार तथा महद् है, प्रकृति नहीं, क्योंकि प्रकृति लीन वस्तु नहीं है। इसमें महदादि लीन होते हैं। प्रकृति भी अव्यक्त है। इसका ज्ञान भी प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। फिर कहा है कि परमात्मा की सिद्धि भी प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती। यह भी अव्यक्त है। इसी प्रकार अब जीवात्मा के विषय में भी कहा है कि इसका भी ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता।

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥ ९४ ॥

पदच्छेद—उभयथा, अपि, असत्करत्वम्।

अर्थात्—दोनों (अवस्थाओं) का भी असत्करत्व तो रहता है।

यहाँ दोनों अवस्थाओं से उन्हीं अवस्थाओं की ओर संकेत है जिनका कथन पूर्वोक्त सूत्रों में आया है। सूत्र १-९३ में 'मुक्त-बद्धयोः' का पद आया है। हमने अर्थ किया है प्रकृति की दो अवस्थाएँ। अन्य भाष्यकारों ने उस सूत्र में और इस सूत्र में भी दोनों अवस्थाएँ परमात्मा की बतायी हैं। हम इसे अशुद्ध अर्थ मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि प्रकृति दोनों अवस्थाओं में असत्करत्व रखती है। असत्करत्व के अर्थ भी अयुक्त किए गए हैं।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री ने असत्करत्व के अर्थ इस प्रकार किए हैं—

'(उभयथापि) बद्ध-मुक्त दोनों अवस्थाओं में भी (चेतन ईश्वर से) (असत्करत्व) अचेतन परिणाम होना (कैसे ?)।'

शास्त्री जी ने सत्-असत् का अर्थ चेतन-अचेतन किया है। यह अशुद्ध है। सत् के अर्थ सदा रहनेवाला है और असत् का अर्थ है जो सदा न रहे। इसी कारण प्रकृति को सत् माना जाता है। जीवात्मा को सत् और चित् तथा परमात्मा को सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप माना जाता है। सत् तो तीनों हैं।—सदा रहनेवाले। सत् का अर्थ चेतन नहीं। यह स्पष्ट ही है कि सत् प्रकृति अचेतन है।

सूत्रकार यहाँ प्रकृति की विशेष अवस्था का वर्णन कर रहा है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। सूत्रकार कह रहा है कि प्रकृति सत् होते हुए भी इसकी दोनों अवस्थाएँ सत् नहीं हैं। दोनों अवस्थाओं में असत्करत्व तो है ही। बद्ध अर्थात् प्रकृति साम्यावस्था में भी सदा रहनेवाली नहीं और मुक्त अवस्था में भी (अर्थात् कार्य-जगत् की अवस्था में भी) यह सदा नहीं रहती। इसी कारण ये दोनों अवस्थाएँ असत्करत्व रखती हैं अर्थात् अवस्थाएँ स्थायी नहीं। असत्करत्व का अर्थ हुआ सत् अवस्था का न होना। यह अवस्थाओं के विषय में है। वैसे प्रकृति सामूहिक रूप से सत् है।

जीवात्मा अधिकरण

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥ ९५ ॥

पदच्छेद—मुक्तात्मनः, प्रशंसा, उपासा, सिद्धस्य, वा।

अर्थात—अथवा उपासा (प्राप्त ज्ञान) से सिद्धिवाले मुक्तात्मा की प्रशंसा है।

अभिप्राय यह है कि उपासना से सिद्ध अर्थात् ईश्वर के सान्निध्य में बैठकर ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा महिमायुक्त हो जाता है। समीप बैठा जाता है योगाभ्यास में और तब ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा बन्ध से मुक्ति प्राप्त करता है। इस ज्ञान के कारण ही मुक्तात्मा की महिमा का गान है।

इससे यह परिणाम निकलता है कि योगियों को सान्निध्य से ही ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी कारण उपासना और ज्ञान प्राप्त करना पर्यायवाचक हैं। हमने यह बताया है कि सान्निध्य योगाभ्यास में प्राप्त होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि सान्निध्य से ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? सूत्रकार कहता है—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ९६ ॥

पदच्छेद—तत्-सन्निधानात्, अधिष्ठातृत्वम्, मणिवत्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—उसकी समीपता से मणि की भाँति उसका अधिष्ठाता होना है।

मणि का अभिप्राय बिल्लौर, स्फटिक अथवा कोई मूल्यवान् पत्थर है।

अन्य भाष्यकारों ने मणि का अर्थ चुम्बक किया है। हम समझते हैं कि यह ठीक नहीं। सूत्र का अभिप्राय यह है कि बिल्लौर के टुकड़े के पास कोई कुसुम अथवा कोई अन्य सुन्दर वस्तु आ जाए तो वह बिल्लौर के टुकड़े में अधिष्ठित प्रतीत होने लगती है। वैसे ही जीवात्मा परमात्मा के समीप पहुँचता है तो परमात्मा के गुण जीवात्मा में अधिष्ठित प्रतीत होने लगते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है। इस कारण जीवात्मा भी परमात्मा का सामीप्य प्राप्त कर ज्ञानवान् हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान उसमें प्रतिबिम्बित होने लगता है।

'अधिष्ठातृत्वम्' का अर्थ है अधिष्ठातापन स्थापित हो जाता है अथवा परमात्मा जीवात्मा में अधिष्ठित हो जाता है। ऐसे ज्ञान को ही अन्तर्ज्ञान (realization) कहते हैं।

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७ ॥

पदच्छेद—विशेषकार्येषु, अपि, जीवानाम्।

अर्थात्—विशेष कार्यों में भी जीवों को वैसे ही (ज्ञान प्राप्त) हो जाता है। विशेष का अभिप्राय है सामान्य से अतिरिक्त। सामान्य कार्य हैं प्राणी का उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना इत्यादि।

विशेष कार्य होगा जिसमें सामान्य कार्यों के अतिरिक्त अथवा सामान्य कार्यों में भी जब देश, काल, दिशा, स्थान, प्रकार इत्यादि का निश्चय करना पड़े। तब कार्य विशेष होता है।

जब विशेष कार्य करते हैं तब उनमें इन विशेष कार्यों को देखकर ही यह ज्ञान होता है कि प्राणियों में पृथक्-पृथक् जीवात्मा हैं।

अतः सूत्रार्थ यह बनता है कि विशेष कार्यों में जीवात्माओं की भिन्नता का ज्ञान होता है।

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

पदच्छेद—सिद्धरूपबोद्धृत्वात्, वाक्यार्थोपदेशः।

अर्थात्—(जीवात्मा का) सिद्ध किए गए चेतन होने से वाक्यों के अर्थ का कथन है।

पूर्व-सूत्र (१-९७) में यह बताया है कि जीवात्मा के विशेष कर्मों को देखकर उसके अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है। वर्तमान सूत्र (१-९८) में कहा है कि प्राणी में यह सिद्ध किया गया जीवात्मा का बोद्धृत्व (चेतन होने) से ही इसे अर्थयुक्त वाक्यों का उपदेश दिया जाता है।

वेदशास्त्र अथवा अनुभवी व्यक्ति मनुष्य के करने अथवा न करने योग्य बातों का उपदेश देते हैं। यह इसी कारण कि मनुष्य में एक चेतन तत्त्व (पुरुष) रहता है जो उन उपदेशों को सुनकर उससे लाभ उठाता है। लाभ उठाने का अभिप्राय है कि उपदेश की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस पर प्रतिक्रिया होती है। इसी कारण से यह कहा गया है कि जो जीवात्मा प्राणी में सिद्ध किया गया है उसके चेतन होने से ही है; क्योंकि उसको अर्थयुक्त वाक्यों का उपदेश दिया जाता है।

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

पदच्छेद—अन्तःकरणस्य, तत्-उज्ज्वलितत्वात्, लोहवत्, अधिष्ठातृत्वम्।

अर्थात्—अन्तःकरण का उससे (जीवात्मा से) प्रकाशित होने से लोहे की भाँति (जीवात्मा का) अधिष्ठातापन (सिद्ध होता है)।

पूर्व के सूत्र (१-९७) में कहा गया है कि मुक्तात्मा परमात्मा के समीप होने से परमात्मा के ज्ञान से अधिष्ठित हो जाता है, जैसे बिल्लौर के टुकड़े के समीप रक्त कुसुम के आ जाने से बिल्लौर में रक्ताभा आ जाती है।

यहाँ इस सूत्र (१-९९) में कहा है कि अन्तःकरण के समीप जीवात्मा होने से जीवात्मा का अधिष्ठातापन अन्तःकरण पर स्थापित हो जाता है, जैसे चुम्बक के समीप लोह-कण चुम्बक के अधिष्ठातृत्व में हो जाता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि सूत्र १-९६ में 'मणिवत्' शब्द है और यहाँ लोहवत् कहा है। यह भेद की बात इस कारण है कि परमात्मा और जीवात्मा का सामीप्य और जीवात्मा और अन्तःकरण का सामीप्य एक-समान नहीं है। परमात्मा जीवात्मा के समीप होने पर भी जीवात्मा से उस प्रकार सम्बन्ध नहीं रखता जैसे चुम्बक और लोहा सम्बद्ध होते हैं। लोह और चुम्बक में संयोग हो जाता है। ये शक्ति से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। वैसा सम्बन्ध परमात्मा और जीवात्मा में नहीं होता। जीवात्मा तो अपने प्रयत्न से परमात्मा के समीप आता है और तब तक सामीप्य बना रहता है जब तक विवेक रहता है। लोह और चुम्बक में चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। खींचने में शक्ति का प्रयोग होता है। शक्ति चुम्बक की होती है। जीवात्मा में शक्ति परमात्मा की दी हुई है और जीवात्मा अन्तःकरण से सम्बन्ध बनाए रखता है।

इसी कारण हमने सूत्र १-९६ में मणि का अर्थ चुम्बक नहीं किया। वहाँ बिल्लौर अर्थ किया है। यहाँ १-९९ में शब्द ही लोह है।

दोनों अवस्थाओं में (परमात्मा और जीवात्मा की तथा जीवात्मा और अन्तःकरण की अवस्थाओं में) यह अन्तर भी है कि जहाँ चुम्बक और लोह में चुम्बक लोह को पकड़े रखता है, वहाँ परमात्मा जीवात्मा की मुक्तावस्था में भी उसे पकड़े नहीं होता। उस अवस्था में भी जीवात्मा स्वतंत्र होता है। ज्ञान की दृष्टि से परमात्मा के ज्ञान का अधिष्ठातृत्व जीवात्मा पर हो जाता है, परन्तु जीवात्मा का अन्तःकरण पर अधिष्ठातृत्व तो उस पर पूर्ण रूप से होता है। इसकी चुम्बक के लोह-कण के साथ तुलना की जा सकती है। यहाँ अन्तःकरण से अभिप्राय मन और बुद्धि है।

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०० ॥

पदच्छेद—प्रतिबन्धदृशः, प्रतिबद्धज्ञानम्, अनुमानम्।

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—प्रत्येक सम्बन्ध का देखनेवाले का प्रत्येक बद्ध वस्तु का ज्ञान अनुमान है।

अव्यक्त तत्त्वों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के रूप में मनुष्य को ले सकते हैं। उसमें सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान लक्षण देखे जाते हैं। मनुष्य के शव (मृत शरीर) में ये लक्षण नहीं दिखाई देते। इससे अनुमान लगाया जाता है कि मनुष्य में ये लक्षण किसी कारण से हैं। वह कारण जीवात्मा है। मनुष्य के मरने के समय वह शरीर को छोड़ जाता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

अनुमान के लक्षण पहले किए जा चुके हैं। वहाँ कहा गया है कि दो परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं का ज्ञान होने से एक को देखने से दूसरे का ज्ञान हो जाता है। यहाँ कहे उदाहरण में लक्षण और मनुष्य का सम्बन्ध देख उन लक्षणोंवाले पदार्थ का ज्ञान होता है। जिस पदार्थ में वे लक्षण पाए जाते हैं, वह जीवात्मा कहा जाता है। इसी प्रकार परमात्मा (पुरुषोत्तम) का भी ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् जीवात्मा के लक्षण पाए जाते हैं। उदाहरण के रूप में जीवात्मा का एक लक्षण है इच्छा करना। किसी मनुष्य की इच्छा मिठाई खाने को करती है तो किसी की नमकीन खाने को। इसी प्रकार सुख-दुःख की बात है। किसी को प्रातः-भ्रमण में दोष प्रतीत होता है और किसी को सायं-भ्रमण में। इस प्रकार यह कहा है कि प्रत्येक विषय में सम्बन्ध देखनेवाले का ज्ञान यह प्रकट करता है कि अनुमान से प्रत्येक में पृथक्-पृथक् जीवात्मा है। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १०१ ॥

पदच्छेद—आप्त, उपदेशः, शब्दः।

अर्थात्—आप्त जनों का कथन शब्द प्रमाण है।

आप्त के अर्थ शब्दकोष में ये हैं—reached, met, fit person, creditable or authoritative person, etc. अर्थात् पहुँचा हुआ, ठीक व्यक्ति; विश्वसनीय अथवा अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति।

सामान्य भाषा में इसे किसी विषय का विशेषज्ञ कह सकते हैं। सूत्रकार कहता है कि एक विशेषज्ञ का अपने विषय में कथन वेद में कहे समान ही है। आप्त-कथन वेदवाक्य ही है।

कुछ-एक का कहना है कि आप्त के अर्थ शब्दज्ञान हैं। इसमें हमारा उनसे मतभेद है। शब्दकोष में भी ऐसा नहीं कहा गया। इस कारण हम इस सूत्र का अर्थ यही करते हैं कि आप्तजनों का कथन इतना ही मान्य है जितना वेद-प्रमाण।

श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

'किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान का नाम 'आप्त' है। जिन व्यक्तियों ने एक वस्तु का साक्षात्कार करके यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया होता है, वे उस विषय में आप्त कहे जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का कथन शब्दप्रमाण होता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे व्यक्ति ही वेद हैं, अथवा वेद के कहनेवाले ही आप्त कहे जाते हैं। दोनों भिन्न-भिन्न हैं, भले ही उनके कथन समान हों।

चेतन-अचेतन-सम्बन्ध अधिकरण

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तद्-उपदेशः ॥ १०२ ॥

पदच्छेद—उभयसिद्धिः, प्रमाणात्, तद्-उपदेशः।

अर्थात्—दोनों की सिद्धि प्रमाण से उनका उपदेश (कथन) है।

यहाँ 'दोनों' का अभिप्राय है जगत् में चेतन तत्त्व और अचेतन तत्त्व। यह देखा जाता है कि जगत् में दोनों प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि दोनों का ज्ञान प्रमाणों से प्राप्त किया जाता है। प्रमाण का अभिप्राय है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण। दोनों प्रकार के पदार्थों, चेतन और अचेतन के ज्ञान के लिए तीनों प्रकार के प्रमाण प्रयोग में लाए जाते हैं।

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०३ ॥

पदच्छेद—सामान्यतो-दृष्टात्, उभयसिद्धिः।

अर्थात्—इस प्रकार के प्रमाण से जड़ और चेतन दोनों का ज्ञान होता है।

सामान्यतोदृष्ट एक प्रकार का अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण तीन प्रकार के माने गए हैं। न्याय दर्शन इसे इस प्रकार कहता है—

अथ तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च।

(न्या० १-१-५)

अर्थात्—वह ऊपर जो कहा गया है उसके अनुमान (अनुमान प्रमाण के) तीन प्रकार हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत् उसको कहते हैं जो पहले देखकर निश्चय हो चुका हो। उसमें एक को देखकर दूसरे का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण के रूप में जो प्राणी उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा भी। यह हम इस कारण कहते हैं कि हमने ऐसा पूर्व में होता देखा है। दूसरी प्रकार का अनुमान शेषवत् है। इसमें कारण-कार्य के सम्बन्ध से अनुमान लगाया जाता है, जैसे अग्नि से ऊष्मा होती है। जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि का अनुमान लगाया जाता है। तीसरा अनुमान का प्रकार है सामान्यतोदृष्टः। लिंग के प्रत्यक्ष होने पर भी, लिंगी के प्रत्यक्ष न होने से, लिंग लिंगी की सामान्य व्याप्ति द्वारा जिससे परोक्ष लिंगी का ज्ञान होता है, उसी को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। उदाहरण के रूप में गाय के बछड़े जब बड़े होते हैं तो उनके सींग निकलते हैं। अतः गाय के बछड़े को देखकर यह कहना कि उसके भी सींग होंगे, इस प्रकार के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं।

सूत्रकार का कहना है कि इस प्रकार के प्रमाण से जड़ और चेतन दोनों का ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। इसमें उदाहरण लें तो इस प्रकार है। यशद् को हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के जल के घोल में डालने से हाइड्रोजन वायु निकलती देखी जाती है। अतः हमारे पास दोनों पदार्थ (यशद् और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड) हैं तो हम हाइड्रोजन गैस का निर्माण कर सकते हैं। यह सामान्यतोदृष्टः अनुमान का उदाहरण है।

अथवा, हमने भोजन करते हुए किसी प्राणी को देखा है। अतः जब किसी स्थान पर भोजन खाया जाता देखें तो प्राणी का अनुमान सामान्यतोदृष्टः अनुमान होगा। प्राणी चेतन है। हाइड्रोजन वायु अचेतन है। अतएव चेतन-अचेतन दोनों की सिद्धि इस अनुमान प्रमाण से सम्भव है।

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥

पदच्छेद—चित्-अवसानः, भोगः ।

अर्थात्—चेतन-पर्यन्त (जीवात्मा तक) भोग है।

प्रत्यक्ष में भोग इन्द्रियाँ करती हैं। इन्द्रियों द्वारा भोग की अनुभूति मन तक जाती है। सूत्रकार का कहना है कि मन भोग की अनुभूति चेतना के स्थान (जीवात्मा) तक पहुँचा देता है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति मोदक खाता है। मोदक की मिठास रसना-इन्द्रिय को अनुभव होती है। इन्द्रिय यह अनुभव मन तक पहुँचा देती है। मन इससे सुख अथवा दुःख जीवात्मा को पहुँचाता है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा किया गया भोग जीवात्मा तक पहुँचता है।

इसका क्या प्रमाण है? यह प्रश्न उठता है। यह हम इस प्रकार जानते हैं कि यदि तो मीठा स्वाद जो इन्द्रियों को होता है, वह सुख-कारक है तो इसके खाने की पुनः इच्छा होती है। इच्छा करना न मन का गुण है और न इन्द्रिय का। यह जीवात्मा का लिंग है। अतः किसी मधुर रसयुक्त अथवा कटु रसवाले पदार्थ लेने अथवा न लेने की इच्छा जीवात्मा ही कर सकता है। अतः स्वाद का अनुभव जीवात्मा तक पहुँचता है।

सूत्रकार कहता है कि भोग (की अनुभूति) चेतन-पर्यन्त होता है। चेतन का अर्थ जीवात्मा है।

अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥ १०५ ॥

पदच्छेद—अकर्त्तुः, अपि, फल-उपभोगः, अन्नाद्य, वत् ।

अर्थात्—(जीवात्मा) न करनेवाला होने पर भी फल (परिणामों) का उपभोग करता है, खाए हुए अन्न की भाँति।

खाया जानेवाला अन्न पैदा हाथ करते हैं; काटते-पीसते-पकाते हाथ हैं; चबाता मुख है, पचाता पेट है। इसका रस (वीर्य) शरीर को मिलता है और पेट भर जाता है तो यह खाना बन्द कर देता है। अथवा नहीं खाया होता तो भूख की अनुभूति जीवात्मा को होती है, क्योंकि खाने की इच्छा अथवा अनिच्छा जीवात्मा को होती है। चेतन होने के कारण इच्छा अथवा अनिच्छा वही करता है। तृप्ति-अतृप्ति जीवात्मा को ही होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष रूप में भोजन तैय्यार करने के लिए शरीर के सब अवयव कार्य करते हैं, परन्तु तृप्ति-अतृप्ति की अनुभूति जीवात्मा को होती है। वह स्वयं कार्य करता देखा नहीं जाता। इस पर भी फल उसी को प्राप्त होता है।

शरीर के अवयव (हाथ, मुख और आमाशय इत्यादि) स्वतः कार्य करते हैं अथवा जीवात्मा के आदेश पर कार्य करते हैं? यह पृथक् विषय है। यहाँ इस सूत्र में तो इतना ही कहा है कि खाए हुए अन्न को खाते-पचाते शरीर के भिन्न अंग हैं, परन्तु इसका फल जीवात्मा को मिलता है। जीवात्मा ही चेतना का स्थान है।

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥ १०६ ॥

पदच्छेद—वा, अविवेकात्, तत्सिद्धेः, कर्त्तुः, फलावगमः।

अर्थात्—अथवा अविवेक से उसकी सिद्धि होने से कर्त्ता को फल की प्राप्ति होती है।

शब्द 'वा' पूर्व-सूत्र और वर्तमान सूत्र का सम्बन्ध वर्णन करता है। सूत्रकार कहता है कि यह भी समझा जा सकता है कि कार्य सिद्ध होने पर अविवेक से कर्त्ता (करनेवाले) को फल की प्राप्ति होती है।

सूत्र १-१०५ में बताया गया है कि कर्म तो शरीर करता है, परन्तु फल जीवात्मा को प्राप्त होता है। वर्तमान सूत्र (१-१०६) में यह कहा है कि यह भी कहा जा सकता है कि अविवेक के कारण फल की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा कर्त्ता है और उसे फल की प्राप्ति होती है, ये दोनों अविवेक के कारण हैं। वह अपने को कर्त्ता भी अविवेक के कारण मानता है और फल की प्राप्ति भी अविवेक के कारण होती है।

कर्म को जीवात्मा करता है। यह इस कारण कि यह एक क्षण भी अकर्मण्य नहीं रह सकता। अतः कर्म तो यह करेगा। परन्तु फल, जो शरीर को प्राप्त होता है वह अविवेक के कारण जीवात्मा तक पहुँचता है।

शरीर तो कष्ट होता है अथवा शरीर को सुविधा प्राप्त होती है और इन दोनों की अनुभूति जीवात्मा को दुःख तथा सुख के रूप में प्राप्त होती है। सूत्रकार का कहना है कि यह अविवेक के कारण होता है।

अविवेक क्या है? विवेक के अभाव को अविवेक कहते हैं। विवेक है जगत् का वास्तविक ज्ञान। वास्तविक ज्ञान चेतन और प्रकृति के सम्बन्ध के ज्ञान को कहते हैं। अतः प्रकृति-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान का अभाव अविवेक है।

सूत्रकार कहता है कि जब जीवात्मा अपने शरीर के साथ सम्बन्ध को नहीं जानता तो वह दुःख अथवा सुख अनुभव करता है—कष्टकारक स्थिति से दुःख और सुविधाजनक स्थिति से सुख। ज्यों ही मनुष्य (जीवात्मा) को यह ज्ञान होता है कि वह शरीर का स्वामी है तो यह कष्टकारक कार्य करने छोड़ देता है और जीवात्मा को दुःख प्राप्त नहीं होता। अथवा जब कोई कष्टकारक फल जीवात्मा के अतिरिक्त कारण से होता है तो जीवात्मा शरीर का अधिष्ठाता होने के कारण दुःख अनुभव नहीं करता। यही विवेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। शरीर को कष्ट तो होता है, परन्तु विवेक के कारण जीवात्मा इस कष्ट का दुःख अनुभव नहीं करता।

जब जीवात्मा यह भली-भाँति समझ लेता है कि वह शरीर नहीं, वह शरीर से पृथक् अस्तित्व रखता है तो कष्ट की अनुभूति जीवात्मा तक नहीं पहुँचती।

कष्ट शरीर को होता है और उससे होनेवाला दुःख जीवात्मा को मिलता है। जब जीवात्मा को विवेक हो जाता है तो कष्ट होते हुए भी दुःख जीवात्मा तक नहीं पहुँचता। यह अविवेक ही है जो कष्ट से दुःख उत्पन्न होता है।

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ १०७ ॥

पदच्छेद—न, च, उभयम्, तत्त्वाख्याने।

अर्थात्—और नहीं हैं दोनों, तत्त्वज्ञान हो जाने पर।

क्या दोनों नहीं हैं? शरीर का कष्ट और जीवात्मा का दुःख। सूत्रकार कहता है कि कर्म का उपभोग और सुख-दुःख की अनुभूति ही दो हैं। इन दोनों का अस्तित्व नहीं रहता जब तत्त्वज्ञान हो जाता है। वास्तव में कार्य तो जीवात्मा करता है। शरीर कार्य करने में साधन है। यह जड़ है। इसका फल भी जीवात्मा को अनुभव होता है। जब जीवात्मा यह तत्त्व समझ जाता है कि जीवात्मा शरीर नहीं है, वह कुछ भी (कष्ट और दुःख) अनुभव नहीं करता; यह अनुभव अविवेक के कारण होता है। जब विवेक हो जाता है और जीवात्मा अपने को शरीर न समझ अपनी स्वतंत्र सत्ता समझने लगता है, तब इसे न कष्ट का अनुभव होता है और न दुःख का।

कहने से शरीर को कष्ट अर्थात् असुविधा होती है। वास्तव में यह जीवात्मा को नहीं होती। जीवात्मा को दुःख होता है परन्तु अविवेक के कारण होता है।

कार्य-जगत् अधिकरण

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥ १०८ ॥

पदच्छेद—विषयः, अविषयः, अपि, अतिदूरादेः, हानोपादानाभ्याम्, इन्द्रियस्य।

अर्थात्—(इन्द्रियों के) विषय भी अविषय हो जाते हैं, अति दूरादि से। (स्थान से दूर, अथवा किसी अन्य कारण से इन्द्रियों से परोक्ष होने पर) अथवा इन्द्रियों के हान होने के द्वारा अथवा इन्द्रियों के लिए किसी उपादान (उपस्थित) होने से।

'इन्द्रियों के हान के द्वारा' का अभिप्राय है इन्द्रियों में किसी प्रकार का विकार आ जाने के कारण, और 'इन्द्रियों के उपादान' का अभिप्राय है इन्द्रियों के सम्मुख किसी व्यवधान के कारण।

सूत्रकार यह कहना चाहता है कि किसी वस्तु का इन्द्रियों का विषय न होना यह सिद्ध नहीं करता कि वस्तु है ही नहीं, क्योंकि कुछ कारणों से भी विषय का अविषय हो जाता है। वे कारण सूत्रकार ने बताए हैं जिनसे कोई वस्तु अविषय हो जाती है। अति दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण, काल के अथवा अन्तर के विचार से अति दूर हो जाने के कारण, इन्द्रियों के अशक्त हो जाने के कारण अथवा बीच में किसी बाधा के आ जाने के कारण— इन कारणों से इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सकनेवाली वस्तु भी अप्रत्यक्ष हो जाती है।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ १०९ ॥

पदच्छेद—सौक्ष्म्यात्, तत्, अनुपलब्धिः ।

अर्थात्—सूक्ष्म होने से उसकी उपलब्धि नहीं है।

प्रकृति से महत् और अहंकार बनते हैं। ये भी प्रकृति की भाँति अव्यक्त पदार्थ हैं। सूक्ष्म होने के कारण ये भी इन्द्रियगोचर नहीं हैं। यहाँ उनसे ही अभिप्राय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे सूक्ष्म पदार्थ कैसे जाने जा सकते हैं? सूत्रकार कहता है कि—

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥ ११० ॥

पदच्छेद—कार्यदर्शनात्, तत्, उपलब्धेः ।

अर्थात्—कार्य के देखे जाने से उसकी प्राप्ति होती है।

जब पदार्थ अति सूक्ष्म हो अथवा अव्यक्त हो तो उसकी उपस्थिति का ज्ञान उसके कार्य को देखकर होता है। उदाहरण के रूप में वायु है। यह इतनी सूक्ष्म है कि यह चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं देखी जाती। परन्तु जब यह चलती है तो स्पर्श-इन्द्रियों को प्रत्यक्ष हो जाती है।

अन्य भाष्यकारों ने जीवात्मा, परमात्मा तथा मूल प्रकृति का उदाहरण दिया है। वे उदाहरण तो ठीक हैं, परन्तु प्रकरण-अनुसार उन पदार्थों का वर्णन हो रहा है जिनका इन्द्रियों को ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु सूक्ष्मता के कारण हो नहीं रहा। इस कारण हमने उदाहरण में वायु को लिया है, जीवात्मा इत्यादि को नहीं।

वायु-स्पर्श इन्द्रियों का विषय है, परन्तु अतिसूक्ष्म होने से अविषय हो रही है। यह भी जब गतिशील होती है तो स्पर्श-इन्द्रियाँ इसका अनुभव करने लगती हैं।

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥ १११ ॥

पदच्छेद—वादि-विप्रतिपत्तेः, तत्-असिद्धिः, इति, चेत् ।

अर्थात्—यदि यह कहा जाए कि वादि (पूर्व पक्षवाले) की आपत्ति से (हमारा पक्ष) सिद्ध नहीं होता तो—आगे के सूत्रों में कहा है—

विरोधी पक्षवाला क्या कहता है? यह वर्तमान सूत्र में नहीं बताया, परन्तु अगले सूत्रों को देखकर जो विरोधियों के उत्तर में कहे गए हैं विरोधियों की युक्तियों का ज्ञान हो सकता है।

हम भी अगले सूत्रों के साथ ही विरोधी पक्ष का वर्णन करते जाएँगे। सूत्रकार कह रहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥ ११२ ॥

पदच्छेद—तथापि, एकतरदृष्ट्या, एकतरसिद्धेः, अपलापः, न।

अर्थात्—इस पर भी एक की दृष्टि (ज्ञान) से एक (दूसरे) की सिद्धि होने से अपलाप अर्थात् मिथ्या नहीं हो सकता।

अनुमान प्रमाण की बात ही यहाँ दोहरा दी है, अर्थात् जब हम एक का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उससे सम्बन्धित दूसरे का ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता। सूत्रकार का कहना है कि प्रकृति के परिणामों की पूर्ण प्रक्रिया इसी प्रकार से जानी गई है। क्योंकि, एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान हो रहा है। इस कारण जो कुछ युक्ति से जाना गया है, वह सब सत्य ही है।

ऊपर सूत्र (१-१११) में, जो पूर्व-पक्षवालों के संशय का संकेत किया गया है, उसी का उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि प्रकृति के परिणामों की शृंखला का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही पता चलता है। इस कारण यह मिथ्या नहीं, सत्य ही है।

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥

पदच्छेद—त्रिविध, विरोधापत्तेः, च।

अर्थात्—और तीन प्रकार के विरोधों की प्राप्ति होने से।

सूत्रकार कह रहा है कि ऊपर जो अनुमान प्रमाण से सिद्धि की बात कही है, यदि उसे नहीं मानेंगे तो तीन प्रकार के विरोधों की प्राप्ति हो जाएगी।

ये विरोध होंगे उन अव्यक्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने में, जो इस जगत् का मूल कारण हैं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति अव्यक्त होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं, परन्तु इन सबकी इस जगत् में उपस्थिति अन्य प्रकार से सिद्ध की जा चुकी है। इस कारण उनकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से माननी पड़ेगी। उदाहरण के रूप में प्रकृति का अस्तित्व है, क्योंकि कार्य-जगत् का अस्तित्व है। युक्ति यह कहती है कि शून्य से कुछ बने, ऐसा नहीं हो सकता। इस कारण प्रकृति का मानना और वह भी अनुमान प्रमाण से, आवश्यक है। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के विषय में कहा जा सकता है।

अतएव सूत्रार्थ है कि यदि हम अनुमान प्रमाण को प्रमाणित नहीं मानेंगे तो इन तीन पदार्थों की सिद्धि में विरोध आ जाएगा।

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ॥११४॥

पदच्छेद—न, असत्-उत्पादः, नृ-शृङ्गवत्।

अर्थात्—जैसे मनुष्य के सींग नहीं हो सकते और फिर उन सींगों से कुछ उत्पन्न हो, यह असम्भव है, वैसे ही असत् से उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जो वस्तु है ही नहीं और जो होनेवाली ही नहीं, उससे किसी प्रकार की उत्पत्ति मानना ऐसे ही है जैसे कि मनुष्य के सिर पर सींगों से किसी वस्तु की उत्पत्ति की कल्पना करना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत् का अर्थ है अस्तित्वहीन (शून्य)। जो है ही नहीं, उससे आगे कुछ उत्पन्न होगा, अयुक्त है।

उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥

पदच्छेद—उपादान, नियमात्।

अर्थात्—उपादान का नियम होने से।

बिना किसी उपादान अर्थात् कारण के कुछ बन नहीं सकता। किसी कार्य-वस्तु के लिए किसी कारण-वस्तु का होना आवश्यक है। शून्य से कुछ बन नहीं सकता। इस कारण जगत् का मूल किसी पदार्थ को मानना पड़ेगा। उपादान का अर्थ है कारण—वह पदार्थ जिससे निर्मित पदार्थ बना है, जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है।

यह नियम है कि निर्मित पदार्थ का कुछ उपादान (मूल पदार्थ) हो।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥ ११६ ॥

पदच्छेद—सर्वत्र, सर्वदा, सर्वासम्भवात्।

अर्थात्—सब स्थान पर, सब काल में, सब-कुछ होना असम्भव है।

सृष्टि-रचना में सब स्थान पर सब पदार्थ नहीं बने। साथ ही सब-कुछ एक ही काल में नहीं बनता। ऐसा हम देखते हैं।

इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सृष्टि का मूल कारण है और वह परमाणुवत् है। यदि मूल कारण कुछ न होता तो या तो कुछ होता ही नहीं अथवा होता तो सर्वत्र और सदा एक-समान होता—एकरस विभु होता। तब यदि उसमें परिवर्तन होता तो सर्वत्र एक-समान होता, एक ही काल में एक-जैसा होता। ऐसा नहीं हुआ। ऐसा हुआ दिखाई नहीं देता। इस कारण जगत् का मूल कारण है और परमाणुवत् है। वह सर्वत्र एक-समान विभु नहीं है।

सूत्र १-११३ के तीन प्रकार के विरोध को ही सूत्र १-११४, ११५, ११६ में बताया है।

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥ ११७ ॥

पदच्छेद—शक्तस्य, शक्यकरणात्।

अर्थात्—शक्तिमान् का (कार्य) ही शक्य (सम्भव) कार्य करणों से (अस्तित्व का ज्ञान है)। शक्तिवान् ही बलयुक्त कार्य कर सकता है।

शक्ति का अभिप्राय है वह महान् जो भारी शक्ति का स्वामी है।

जगत्-रचना का कार्य अति महान् है। इस कारण इसके करनेवाला अवश्य ही कोई अद्वितीय शक्ति का स्वामी होगा।

कार्य-जगत् को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इसका निमित्त एवं उपादान कारण, दोनों अवश्य महान् शक्तिशाली हैं।

शक्तिशाली का अर्थ कर्त्ता नहीं। निमित्त कारण तो कर्त्ता है, परन्तु उपादान कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्त्ता नहीं। इस पर भी सत्त्व, रजस् और तमस् इन महान् शक्तियों को प्रकृति रखती है। वह शक्ति परमात्मा की इच्छा और तेज के प्रयोग से विमुक्त होती है।

कारणभावाच्च ॥ ११८ ॥

पदच्छेद—च, कारणभावात्।

अर्थात्—और कारण में होने से—कार्य कारण में रहने से।

यह बताया जा चुका है कि सबसे सब-कुछ नहीं बन सकता। उससे ही कुछ बनता है, जिसमें बननेवाले के कारणरूप बीज उपस्थित हों। यहाँ यह कहा है कि ऐसा इस कारण है कि कारण में कार्य के अंश उपस्थित रहते हैं। जिस कारण में जिस कार्य का अंश रहे, उससे ही वह बन सकता है।

न भावे भावयोगश्चेत् ॥ ११९ ॥

पदच्छेद—न, भावे, भावयोगः, चेत्।

अर्थात्—किसी वस्तु के होने में होने का योग नहीं, यदि ऐसा मानें तो····।

अगले सूत्र में उत्तर दिया गया है। जो वस्तु बनी है वह अपने कारण में हो, यह सम्भव नहीं; यदि ऐसा मानें तो बनना क्या हुआ?

भावार्थ यह है कि बीज में पेड़ दिखाई नहीं देता तो बीज पेड़ का कारण नहीं हो सकता। कुछ और है जो कारण है। यह आपत्ति की गई है। यह पूर्व-पक्ष है।

सूत्रकार का कहना है—

न अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ॥ १२० ॥

पदच्छेद—न, अभिव्यक्ति, निबन्धनौ, व्यवहार-अव्यवहारौ।

अर्थात्—यह ऐसा नहीं। अभिव्यक्ति का अर्थ है प्रकट होना, किसी पदार्थ का व्यवहार में आना। निबन्धनौ बाँधना (संगठित करना) होता है। व्यवहार-अव्यवहारौ (रचना और विघटन में)।

पूर्व-सूत्र के उत्तर में कहा गया है कि यदि ऐसा मानो कि बनी वस्तु के बनने का मूल इसके कारण में नहीं तो इसमें निम्न व्यवस्था है। वह व्यवस्था इस सूत्र में कही है।

कहा है कि व्यवहार और अव्यवहार में किसी वस्तु का बन जाना अथवा बिगड़ जाना होता ही नहीं। व्यवहार में उसकी अभिव्यक्ति होती है, उसका प्रकट होना होता है; और अव्यवहार में कोई वस्तु विनष्ट नहीं होती। यह तो उसका मात्र लय हो जाना है।

यदि बीज और पेड़ का ही उदाहरण लें तो यह देखा जाएगा कि पेड़ का बीज-कोषाणु मूल बीज में रहता है। उससे वैसे ही कोषाणु बनते चले जाते हैं और पेड़ बन जाता है। कोषाणु बनते नहीं। परमाणुओं का निबन्धन (संगठन) हुआ है। उनकी अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) पेड़ में हुई है।

परमाणु और उनसे बने अणु रचना में एकत्रित होते हैं और विघटन में पुनः पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। वे बनते नहीं; न ही परमाणु टूटते हैं। इस कारण रचना निबन्धन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और विघटन पर परमाणु-रूप हो जाता है।

इस कारण पूर्व-सूत्र में भाव-अभाव का अर्थ बनना-बिगड़ना नहीं। यह तो प्रकट होना और लय हो जाना मात्र है।

नाशः कारणलयः ॥ १२१ ॥

पदच्छेद—नाशः, कारण, लयः।

अर्थात्—कारण में लीन हो जाना ही नाश है।

सूत्र (१-१२०) में बताया है कि अभिव्यक्ति निबन्धन है। इसका अभिप्राय हमने पूर्व के सूत्र में बताया है। यहाँ कहा है कि कार्य-जगत् का परमाणु-रूप हो जाना ही नाश है, अर्थात् नाश हो जाने से यह अभिप्राय नहीं कि मूल वस्तु का लोप ही हो जाता है।

सूत्र १-१२१ पूरक है सूत्र १-१२० का। सूत्र १-१२० में अभिव्यक्ति को ही निर्माण कहा है और सूत्र १-१२१ में विघटन को मूल रूप में लीन हो जाना कहा है। आशय एक ही है—परमाणुओं का संगठित होना अभिव्यक्ति अर्थात् रचना है और परमाणुओं का पृथक्-पृथक् हो जाना नाश (विघटन) है। वास्तव में नाश कुछ नहीं होता।

अतः पूर्व-पक्ष का यह कहना कि कारण में कार्य का भाव नहीं होता, अर्थात् होना सम्भव नहीं, अयुक्त है, युक्ति-संगत नहीं।

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत् ॥ १२२ ॥

पदच्छेद—पारम्पर्यतः, अन्वेषणा, बीजांकुरवत्।

अर्थात्—(प्रकट होने की) परम्परा की खोज (की जा सकती है), जैसे बीज और अंकुर की परम्परा है।

बीज से अंकुर प्रकट होता है। अंकुर वृक्ष बन जाता है। उसमें पुष्प आते हैं और पुष्पों में पुनः बीज बन जाता है। उन बीजों से पुनः अंकुर और वृक्ष बनता है। यह परम्परा है। इसमें बनता-बिगड़ता कुछ भी नहीं। कोषाणुओं का संगठन होता है और विघटन होता है। पुनः वही प्रक्रिया (क्रम) चलती है।

बीज-अंकुर की बात कार्य-जगत् के पदार्थों की कही है। वास्तव में यही बात सृष्टि-रचना और लय में होती है। परमाणु संगठित होते हैं तो रचना होने लगती है; और जब परमाणु विघटित होने लगते हैं तो वह कार्य-जगत् की प्रलय कहलाती है। यही परम्परा है।

सूत्रकार अपनी बात को और स्पष्ट करता है—

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥ १२३ ॥

पदच्छेद—वा, उत्पत्तिवत्, अदोषः।

अर्थात्—अथवा उत्पत्ति की भाँति (वस्तुओं का बनना-बिगड़ना भी) अदोष अर्थात् सिद्ध ही है।

हमने ऊपर के सूत्र में ही यह बताया है कि लीन और अंकुर की भाँति ही सृष्टि की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना और प्रलय कही जा सकती है। सूत्रकार भी यही बात कह रहा है कि जैसे बीज से अंकुर और पेड़ बना, उसी प्रकार रचना (अभिव्यक्ति) है, वैसे ही मूल प्रकृति से कार्य-जगत् की बात है। रचना और लय ऐसे ही चलता है जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुनः बीज।

नैयायिकों ने सत्कार्य और असत्कार्य की बहुत ऊहा-पोह की है। न्यायदर्शन में तो वही बात कही है जो सांख्य कहता है। वहाँ (न्याय दर्शन में) कहा है—

नासन्नसन्न सदसत्; सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥

(न्याय ४-१-४८)

पदच्छेद—न, असत्, न, सत्, न, सदसत्, सत्-असतोः, वैधर्म्यात्।

अर्थात्—(कार्य जगत्) असत् अर्थात् न होना नहीं। न ही यह सत् है, क्योंकि इसका स्वरूप विनष्ट होनेवाला है। ये दोनों सत् और असत् भी नहीं। (कारण यह कि) सत् और असत् विपरीत धर्मवाले हैं। एक ही वस्तु विपरीत धर्मवाली नहीं हो सकती।

यही बात सांख्य में कही है। सांख्य ने इतना और कह दिया है कि असत् में सत् की अभिव्यक्ति है और सत् में असत् (कारण रूप) का लय होना है।

हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥ १२४ ॥

पदच्छेद—हेतुमत्, अनित्यम्, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्।

अर्थात्—(कार्य-जगत्) हेतुवाला अनित्य सक्रिय अनेक (रूपवाला) आश्रित और लिंगोंवाला है।

यहाँ कार्य-जगत् के लिंग बताए हैं। कहा है कि वह हेतु (कारण) वाला है, अर्थात् इसका मूल है। यह सूत्रकार ऊपर कई प्रकार से सिद्ध कर आया है। यह अनित्य है। इसका यह रूप स्थायी नहीं। यह स्वरूप टूट-फूटजाने वाला है। यह सक्रिय है। इसमें गति है। क्रियावान है। किसी कार्य को सम्पन्न कर रहा है। यह अनेक रूपवाला भी है और यह आश्रित है, अर्थात् इसका प्रत्येक रूप अपने कारण के आश्रय है। ये सब कार्य-जगत् के लिंग हैं। जब भी हम किसी पदार्थ में ये चिह्न देखते हैं तो हमें समझ लेना चाहिए कि वह पदार्थ जगत् का अंग है।

इस स्थान पर यह बताना भी ठीक होगा कि सांख्य दर्शन के एक प्राचीन भाष्यकार ने कार्य-जगत् के लिंगों में 'अव्यापि' शब्द लिखा है। कुछ अर्वाचीन भाष्यकार भी इस शब्द को पाठ में लेते हैं। यह अनावश्यक प्रतीत होता है। जब अनेक रूपवाला कहा गया तो वह व्यापक हो ही नहीं सकता।

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥ १२५ ॥

पदच्छेद—आञ्जस्यात्, अभेदतः, वा, गुणसामान्यादेः, तत्-सिद्धिः, प्रधानव्यपदेशात्, वा।

अर्थात्—जो कुछ वह ऊपर प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर आया है, उसके आधार पर वह कहता है, अथवा गुण सामान्य (गुणों में समानता) होने से यह कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है कि अभेद से प्रधान के विशेष उपदेश (वर्णन) से उसकी सिद्धि है।

किसकी सिद्धि है ? यही कि प्रधान (प्रकृति) कारण है और कार्य-जगत् उससे बना है।

आञ्जस्य का अर्थ है दावे से। अन्य भाष्यकारों ने इसका अर्थ किया है प्रत्यक्ष प्रमाण से। हम समझते हैं कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान में भेद नहीं किया गया।

वर्तमान अधिकरण का नाम हमने दिया है 'कार्य-जगत् अधिकरण'। इस प्रकरण में सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि मूल प्रकृति कार्य-जगत् का कारण है। साथ ही यह भी कहा है कि कार्य-जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। इसी को सूत्रकार ने कहा है कि ऊपर दिए प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से उसने दावे से यह सिद्ध कर दिया है कि जगत् का मूल कारण प्रधान है। प्रधान से अभिप्राय है मूल प्रकृति।

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥ १२६ ॥

पदच्छेद—त्रिगुणाचेतनत्वादि, द्वयोः।

अर्थात्—त्रिगुणत्व और अचेतनत्व इत्यादि गुण दोनों में (पाए जाते) हैं।

सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का आवेश और अचेतनता जो कार्य-जगत् में दिखाई देती है। और ये दोनों में दिखाई देते हैं।

अचेतनादि का अभिप्राय है प्रकृति के अन्य गुण। यह जड़ है। यह परमाणु-रूप है, इस कारण परिणामी है। इस प्रकार के गुण मूल प्रकृति और कार्य-जगत् दोनों में पाए जाते हैं। कार्य-जगत् में भी चेतनता नहीं देखी जाती।

अचेतन कार्य-जगत् तो प्रत्यक्ष ही है। कोई भी कार्य-जगत् का पदार्थ (प्राणियों के अतिरिक्त) चेतना के लक्षण रखता नहीं देखा जाता। चेतना उसमें मानी जाती है जिसमें ईक्षण (देश, काल, दिशा ग्रहण करने) की शक्ति पाई जाती है। इस सामर्थ्य के तीन गुण हैं—कार्य के आरम्भ और अन्त करने का निर्णय करने की सामर्थ्य, कार्य को दिशा देने की सामर्थ्य, और तीसरे, कार्य की अवस्था का निर्णय करना। संस्कृत भाषा में इसे एक शब्द में ईक्षण करना कहा जाता है। ये चेतन के लक्षण जगत् में नहीं पाए जाते।

जहाँ तक सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का सम्बन्ध है, वे तो कार्य-जगत् के प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न अवस्था में मिलते हैं। कार्य-जगत् में सब रासायनिक क्रियाओं में होनेवाले परिवर्तन, इन गुणों के कारण ही होते हैं।

अतः सूत्रार्थ यह है कि त्रिगुणात्मकत्व और अचेतनत्व विद्यमान है प्रकृति के दोनों रूपों में।

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामान्योऽन्यं वैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥

पदच्छेद—प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः (प्रीति, अप्रीति, विषाद आदि) गुणानाम्, अन्योऽन्यम्, वैधर्म्यम्।

अर्थात्—आकर्षण, निकर्षण और विषादादि द्वारा गुणों की परस्पर धर्मों में भिन्नता होती है। परस्पर शब्द सत्त्व, रजस्, तमस् के परस्पर के सम्बन्ध में आया है। भावार्थ इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार है—सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में परस्पर आकर्षण-विकर्षण और विषाद का भाव है। इसी से पदार्थ के धर्मों में भिन्नता देखने में आती है।

हम यह बता चुके हैं कि सत्त्व गुण वर्तमान विज्ञान में धन (+) आवेश है। तेजस् विज्ञान में ऋण (−) आवेश है और तमस् को विज्ञान में तटस्थ (०) आवेश कहते हैं। धन और ऋण में, धन और तटस्थ में तथा ऋण एवं तटस्थ में आकर्षण होता है। धन-धन में तथा ऋण-ऋण में विकर्षण होता है। यही सूत्र का अर्थ है। अन्योऽन्य से यही अभिप्राय है।

मूल प्रकृति के परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है तो जो कुछ होता है वह हम सूत्र १-६२ के भाष्य में बता आए हैं कि किस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् गुण अहंकारों में प्रकट होते हैं, अहंकारों से वे पंच महाभूतों में आ जाते हैं।

अहंकारों के सत्त्व, रजस् और तमस् गुण ही के कारण पंच तन्मात्रा शक्ति के रूप में प्रकट होती है और फिर सब प्रकार की रासायनिक क्रियाएँ होती हैं।

पंच-भौतिक पदार्थों में जो पदार्थ विषाद गुणवाले दिखाई देते हैं, वास्तव में वे ऐसे हैं जिनमें सत्त्व गुण रजस् (गुण) से निष्क्रिय हो चुका होता है। दोनों परस्पर एक-दूसरे को प्रभावहीन कर रहे होते हैं।

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥ १२८ ॥

पदच्छेद—लघ्वादि-धर्मैः, साधर्म्यम्, वैधर्म्यम्, च, गुणानाम्।

अर्थात्—लघु आदि धर्मों से असमानता रखते हुए भी गुणों के विचार से साधर्म्यम् और वैधर्म्यम् (समान) हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ छोटे-बड़े हैं, तदपि गुणों में समानता भी है और असमानता भी। 'च' का अर्थ हमने 'भी' किया है।

गुणों के धर्म हैं : आकर्षण—जहाँ विपरीत गुण हों; विकर्षण—जहाँ समान गुण हों। यही साधर्म्यम् से अभिप्राय है।

सूत्रकार का कहना है कि पदार्थ छोटे-बड़े हो सकते हैं। इनके छोटे-बड़े होने का सम्बन्ध गुणों के आकर्षण-विकर्षण के धर्मों से नहीं है। वे पृथक् हैं। यह बात अहंकारों में स्पष्ट दिखाई देती है। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पंच महाभूतों के अणुओं में अहंकार छोटे-बड़े हैं। (इलेक्ट्रोन) तेजस् अहंकार बहुत ही छोटा है। वैकारी अहंकार (प्रोटोन) उनसे बहुत बड़े-बड़े होते हैं। इस पर भी उनमें आकर्षण-विकर्षण समान स्तर पर होता है। प्रोटोन-प्रोटोन में इलैक्ट्रोन-इलैक्ट्रोन में विकर्षण समान मात्रा में विद्यमान है।

वैसे यह सिद्धान्त सामान्य रूप में सब पदार्थों में विद्यमान है। पदार्थ का छोटा-बड़ा होना अपने सात्विक अथवा राजसी आवेशों से सम्बन्ध नहीं रखता।

अतः सूत्रार्थ यह है कि पदार्थों के छोटा-बड़ा होने पर भी उन पर गुणों के साधर्म्यम्-वैधर्म्यम् पृथक् रहते हैं। उनमें आकर्षण-विकर्षण उनके छोटा-बड़ा होने से सम्बन्ध नहीं रखता। यह गुणों के आवेश के न्यूनाधिक होने से सम्बन्ध रखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥ १२९ ॥

पदच्छेद—उभयान्यत्वात्, कार्यत्वम्, महदादेः, घटादिवत्।

अर्थात्—गुणों के साधर्म्यम् और वैधर्म्यम् दोनों से महद् आदि पदार्थ ऐसे ही बनते हैं जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है।

उभय से अभिप्राय है आकर्षण-विकर्षण करनेवाला गुण। सत्त्व, रजस् और तमस् गुण तो समत्व-प्राप्त (Neutral) हैं। इनका ही उल्लेख पूर्व के सूत्र में है।

कुछ भाष्यकारों ने उभय के अर्थ चेतन-अचेतन तत्त्वों से किया है। हमारा मत है कि चेतन-अचेतन का पूर्व के सूत्र में वर्णन नहीं है। यहाँ प्रसंग भी चेतन-अचेतन का नहीं है।

महदादि से अभिप्राय है महत्, अहंकार, पंच महाभूत और अन्य कार्य-जगत् के पदार्थ। ये पदार्थ मिट्टी से घड़ा बनने के समान बनते हैं। महत् से अहंकार और अहंकारों से पंच महाभूत और इंद्रियाँ ऐसे बनती हैं जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है।

परमाणुओं के तथा अहंकारों के अदला-बदली तथा न्यूनाधिक होने से ही अनेकानेक कार्य-जगत् के पदार्थ बनते हैं।

एक सरल-सा उदाहरण लिया जा सकता है। दो पदार्थ हैं—हाइड्रोजन और ऑक्सीजन। हाइड्रोजन के 'आयन' रजस्-गुण-प्रधान होते हैं और ऑक्सीजन के 'आयन' सत्त्वगुण-प्रधान। इनको वैज्ञानिक भाषा में लिखा जाता है (−) तथा (+)। इन दो गुणों वाले पदार्थों से जल बन जाता है। जल के अणु की घड़े से उपमा दी गई है और (+) तथा (−) 'आयनों' की मिट्टी से।

यह कहा गया है कि सब पदार्थ इन दो गुणों के सार्धम्यम् और वैधर्म्यम् से ही बने हैं।

परिमाणात् ॥ १३० ॥

अर्थात्—परिमाण से (यह होता है)।

अभिप्राय यह है कि मिट्टी से घड़ेवाले सूत्र में जो हमने दो पदार्थों के मिलने की बात कही है, और इसी प्रकार से दो धर्मवाले पदार्थों के मिलने अथवा न मिलने की बात होती है तो वह एक निश्चित परिमाण में होती है; यह नहीं कि कभी एक परिमाण में और कभी दूसरे परिमाण में।

पूर्व-सूत्रवाला उदाहरण ही लें तो वह इस प्रकार कहा जाएगा—हाइड्रोजन जब ऑक्सीजन से मिलती है तो सदा एक निश्चित परिमाण में ही मिलती है। यह निश्चित है कि जल में सदा आठ भाग ऑक्सीजन में एक भाग हाइड्रोजन का मिला होता है। इस परिमाण से न्यूनाधिक नहीं।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण ले सकते हैं। कार्बन डाइऑक्साइड एक प्रकार की वायु होती है जो मनुष्य श्वास छोड़ते समय बाहर निकालता है। यही वायु पेड़-पौधे अपने भीतर खीचते हैं। यह वायु तब बनती है जब कोयला जलता है। यह वायु दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थों से बनती है—एक कार्बन और दूसरे ऑक्सीजन से। इसमें सदा कार्बन के १२ भाग होते हैं और ३२ भाग ऑक्सीजन के। यह परिमाण स्थिर है। इस प्रकार पूर्व-सूत्र में जो पदार्थों से पदार्थ बनने की बात कही गई है वह एक स्थिर परिमाण (मात्रा) में होती है।

समन्वयात् ॥ १३१ ॥

अर्थात्—समन्वय से।

कार्य-जगत् के कार्यों में समन्वय है। सब अपने-अपने स्थान पर अपने निश्चित कार्य को करते हैं। सब पदार्थ बिना एक-दूसरे के धर्म में बाधा डाले अपना कार्य करते हैं। यह निश्चित गुणों और निश्चित परिमाण में होता है। एक निश्चित क्रम से पदार्थ बनते हैं; क्रम को छोड़ते नहीं। यही समन्वय है।

शक्तितश्चेति ॥ १३२ ॥

पदच्छेद—शक्तितः, च, इति।

अर्थात्—और शक्ति से यह है।

यह (समन्वय) शक्ति से होता है।

गुणों के प्रभाव को ही शक्ति कहते हैं। जैसे हमने सूत्र १-१२९, १३० में बताया है कि हाइड्रोजन ऑक्सीजन से मिलती है तो इसके मिलने में कारण शक्ति है। हमने यह बताया है कि यह सत्त्व और रजस् के संयोग (आकर्षण) से है, अर्थात् रजस् और सत्त्व के प्रभाव से ही है। शक्ति का प्रभाव हम संसार में देखते हैं। शक्ति का प्राकट्य सत्त्व और रजस् से ही होता है। इनके प्रभाव को ही शक्ति कहते हैं।

हमने पाँच तन्मात्राओं को शक्ति के पाँच रूप बताया है। तन्मात्राएँ भी इन गुणों से ही उत्पन्न होती हैं। इस सूत्र से यही सिद्ध होता है। शक्ति का प्राकट्य सत्त्व और रजस् से ही होता है।

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥ १३३ ॥

पदच्छेद—तत्-हाने, प्रकृतिः, पुरुषः, वा।

अर्थात्—इनके हीन (मानने) में प्रकृति अथवा पुरुष है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वे पदार्थ जिनका उल्लेख ऊपर के सूत्रों में मिलता है, अर्थात् महदादि तथा शक्ति, उन्हें हीन मानने से पुरुष और प्रकृति (बलवान्) मानने पड़ेंगे। सूत्रकार का अभिप्राय है कि महदादि पदार्थ और शक्ति (जो तन्मात्राओं में प्राप्त है) वे प्रकृति और पुरुष से हीन अर्थात् दुर्बल हैं।

ऊपर हम बता चुके हैं कि गुणों से ही संसार में शक्ति उत्पन्न होती है, परन्तु वह शक्ति पुरुष (परमात्मा) की शक्ति से कम है और पुरुष उसको विमुक्त करता है अथवा उसका हान करता है। रचना और लय परमात्मा से ही होता है। इस कारण प्रकृति में शक्ति पुरुष से कम है।

प्रकृति तो जड़ है और पुरुष चेतन है। चेतन में स्वतः ईक्षण की शक्ति होती है;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रकृति में गुणों की शक्ति होती है, परन्तु ईक्षण नहीं है। इस कारण कहा है कि जगत् के पदार्थ पुरुष के करने से होते हैं। यहाँ पुरुष से अभिप्राय परमात्मा है।

पुरुष दो प्रकार के माने गए हैं—जीवात्मा और परमात्मा। ये एक नहीं। इस विषय का वर्णन सूत्रकार आगे चलकर करेगा।

यहाँ इतना मान लेना चाहिए कि परमात्मा तो सर्वव्यापक है। इस कारण वह मेज़, कुर्सी तथा अन्य सब कार्य-जगत् के पदार्थों में भी रहता है और प्राणी में भी रहता है। इस पर भी प्राणी एक मेज़, कुर्सी से भिन्न है। यह भिन्नता प्राणी में एक अन्य आत्म-तत्त्व जीवात्मा के कारण है।

ब्रह्मसूत्रों में भी प्रकृति-पुरुष का विवेचन इसी प्रकार किया है। वहाँ कहा है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्॥ *(ब्र० सू० १-२-१)*

अभिप्राय है—सर्वत्र प्रसिद्ध के कथन से, अर्थात् प्रसिद्ध का वर्णन करने से पता चलता है कि—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः॥ *(ब्र० सू० १-२-२, ३)*

अभिप्राय यह कि जो पहले सूत्र में प्रसिद्ध अर्थात् सर्वविदित माना गया है, उसमें स्पष्ट गुणों की उपस्थिति से पता चलता है कि जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थ हैं। सर्वत्र प्रसिद्ध है कार्य-जगत्। इससे अधिक प्रसिद्ध वस्तु मनुष्य के लिए अन्य कोई नहीं। इस कार्य-जगत् के गुणों को देखने से दो प्रकार के पदार्थ प्रतीत होते हैं—प्रकृति और सर्वव्यापक पुरुष (परमात्मा)।

तीसरे सूत्र में कहा है कि कार्य-जगत् के कुछ पदार्थों में कुछ अनुपस्थित है। इससे उसमें वह नहीं जो प्राणी के शरीर में है, अर्थात् जीवात्मा प्राणी से बाहर नहीं है। परमात्मा तो सर्वत्र है।

यही बात प्रकारान्तर से सांख्य में ऊपर वर्णन की गई है।

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम्॥१३४॥

पदच्छेद—तयोः, अन्यत्वे, तुच्छत्वम्।

अर्थात्—उन दोनों से अन्य होने पर तुच्छत्व (हीन होना) है।

(महदादि कार्य) उन दोनों से अन्य होने के कारण तुच्छ है।

तुच्छ का अभिप्राय है छोटा, कम आवश्यक अर्थात् गौण। कार्य-जगत् पुरुष और प्रकृति के संयोग से रचा गया है। इस कारण यह (कार्य-जगत्) उन दोनों से छोटा (कम महत्त्व का) है। साथ ही वे (महदादि कार्य) अपने रूप में, अनादि न होने के कारण अनादि पदार्थों की तुलना से छोटे होते हैं।

इस कार्य-जगत् का मूल है प्रकृति और निमित्त कारण है परमात्मा। कारण से कार्य छोटा होता है। कार्य-जगत् (महदादि) उससे उत्पन्न होने के कारण उनसे छोटा है। छोटे से अभिप्राय है कम शक्तिशाली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ।। १३५ ।।

पदच्छेद—कार्यात्, कारण-अनुमानम्, तत्-साहित्यात् ।

अर्थात्—कार्य से कारण का अनुमान होता है, उसके साथ योग होने से । साथ ही कारण कार्य में उपस्थित होता है । इसी उपस्थिति के कारण कार्य से कारण का अनुमान होता है ।

यह कहा जाता है कि कारण बीज है और कार्य वृक्ष है । बीज में वृक्ष दिखाई नहीं देता । अतएव कारण का कार्य में साहित्य दिखाई नहीं देता ।

वास्तव में यह आपत्ति ठीक नहीं । कारण यह कि मूल पदार्थ वृक्ष और बीज में समान है । यह मूल पदार्थ है जीवित कोषाणु का होना । बीज के कोषाणुओं और वृक्ष के कोषाणुओं में समानता होती है ।

इसी प्रकार प्रकृति के गुणों में सत्त्व, रजस् तमस्, कार्य-जगत् में भी होते हैं । इस कारण यह बात यथार्थ ही है कि कारण कार्य में उपस्थित होता है और कार्य से कारण का अनुमान लगाया जाता है ।

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिगात् ।।१३६ ।।

पदच्छेद—अव्यक्तम्, त्रिगुणात्, लिंगात् ।

अर्थात्—अव्यक्त से अभिप्राय प्रकृति का है । सूत्रार्थ है अव्यक्त प्रकृति त्रिगुण लिंगों से सिद्ध होती है ।

प्रकृति अव्यक्त है; इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती । यह अव्यक्त प्रकृति की उपस्थिति सिद्ध होती है कार्य-जगत् में त्रिगुणों को देखने से । यह सिद्धि अनुमान से ही होती है ।

अव्यक्त प्रकृति में ये लिंग (सत्त्व, रजस्, तमस्) प्रकट नहीं होते । परन्तु ये कार्य-जगत् में प्रकट होने लगते हैं । कार्य-जगत् के पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं । अतः ऐसे ही गुणोंवाली प्रकृति होनी चाहिए । ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रकृति जगत् का कारण है ।

जब यह सिद्ध कर दिया कि जगत् (अस्थिर) भी विद्यमान है तो उसमें तीन गुणों की विद्यमानता प्रकृति के कार्य के त्रिगुणात्मक होने से सिद्ध है ।

इस पर वे तीन गुण अव्यक्त में प्रकट क्यों नहीं होते ? क्योंकि वे परस्पर-विरोधी होने के कारण अव्यक्त अवस्था में साम्यावस्था में होते हैं ।

यही उनके अव्यक्त होने का कारण है । इस विषय में नवीनतम वैज्ञानिक खोज का ज्ञान प्रकाश डालेगा । इसका वर्णन इस प्रकार है—

सामान्य द्रव्य के एक ऐटम के केन्द्र में प्रोटोन-कण, जिन पर धन (+) विद्युत् होती है और न्यूट्रोन-कण जिन पर शून्य (०) विद्युत् होती है और इनके चारों ओर घूमते हुए ऋण (--) विद्युत्वाले इलैक्ट्रोन-कणों का बादल-सा होता है । सन् १९२८ में पी० ए० एम० डिरक द्वारा एक प्रारम्भिक कण की सम्भावना अनुभव की गई, जिसका द्रव्यमान इलैक्ट्रोन के बराबर है और जिस पर धन (+) विद्युत् है । यह कण जिसे प्रोटोन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है, सी० डी० एण्डर्सन ने सन् १९३२ में खोजा। सन् १९५५ में इमीलियो सेग्रे, ओवन चेम्बरलेन और उनके साथियों ने कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में एक प्रारम्भिक कण एण्टि-प्रोटोन खोजा, जिसका द्रव्यमान प्रोटोन के समान है, परन्तु जो ऋण (–) विद्युत् वाला है। सन् १९५६ में कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के इन्हीं वैज्ञानिकों ने इस बात का समर्थन किया कि एक प्रारम्भिक कण है जो एण्टि-न्यूट्रोन है, जिसका द्रव्यमान वही है, परन्तु चुम्बकीय चिह्न उलटा है।

यह देखा गया है कि जब 'एण्टि-मैटर' (उलटा द्रव्य) ऐटम द्रव्य के ऐटम से टकरा जाए तो दोनों एक-दूसरे को तुरन्त विनष्ट कर देते हैं। उनसे 'मीसोन' और अन्य अस्थिर कण बन जाते हैं और एक सैकण्ड के एक अंश में ही सब अस्थिर कण स्वयमेव प्रकाशमान् शक्ति में, जिसे गामा किरणें कहते हैं, बदल जाते हैं और स्थिर द्रव्यमान-हीन कण जिनको 'न्यूट्रिनस' का नाम दिया है, उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

इस वक्तव्य में ध्यान देने योग्य बात है दो विपरीत प्रकार के कणों का परस्पार टकराकर विनष्ट होना और 'मीसोन' तथा अन्य न टिकाऊ कणों का बनना और फिर 'न्यूट्रिन्ज़' का बनना जो द्रव्यमान-हीन और टिकाऊ कण है। इस बात की तुलना करनी चाहिए साम्यावस्था में प्रकृति के परमाणुओं से और अस्थिर मीसोन की तुलना करिए महद् से। इस तुलना से पता चलेगा कि कपिल मुनि अपने अनुमान द्वारा कितने ठीक परिणामों पर पहुँचे थे।

यह हम ऊपर बता आए हैं कि कार्य-जगत् में सब पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं।

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥

पदच्छेद—तत्, कार्यतः, तत्सिद्धेः न, अपलापः।

अर्थात्—उसके कार्य से, उसकी सिद्धि से (हमारा अनुमान) मिथ्यावाद नहीं है।

यही बात आज वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों से सिद्ध की है। यह हमने पूर्व-सूत्र के भाष्य में प्रकट की है। कपिल मुनि की बात मिथ्या नहीं है। उन्होंने कार्य-जगत् में गुणों को देखकर अनुमान लगाया है कि मूल प्रकृति की सिद्धि स्पष्ट है। जो कुछ आज विज्ञान ने अपने यन्त्रों से प्रतीत किया है, वही आज से बहुत पूर्व कपिल मुनि ने अनुमान-प्रमाण से सिद्ध कर दिया था।

पुरुष अधिकरण

सामान्येन, विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥ १३८ ॥

पदच्छेद—सामान्येन, विवादाभावात्, धर्मवत्, न, साधनम्।

अर्थात्—सामान्य रूप से विवाद के अभाव से धर्म की भाँति साधन (की आवश्यकता) नहीं।

---

1. Qtd. from Encyclopaedia Britannica (1967), Vol. 3, Pg. 696.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'धर्म की भाँति साधन की आवश्यकता नहीं' का अभिप्राय यह है कि धर्म देखकर धर्मों को जानने के लिए साधनों (प्रमाणों) की आवश्यकता नहीं।

धर्म पदार्थ के उस गुण को कहते हैं, जिससे कार्य होता है। कर्म करनेवाले धर्मों को जानने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। कार्य से ही कारण का ज्ञान हो जाता है। धर्म (कार्य को देखकर धर्मी अर्थात् कार्य करनेवाले) का ज्ञान हो जाता है। यह स्वतः ही सिद्ध है।

इसी भाँति विवादरहित बात जब देखी जाए तो सामान्य रूप में उसका कारण पता लग जाता है।

इस सूत्र में तो केवल एक ही सिद्धान्त की बात प्रकट की गई है। वह यह कि जैसे धर्म का ज्ञान होने से धर्मी का ज्ञान होता है, वैसे ही प्राणी के शरीर में कुछ धर्म देखे जाते हैं, जिनसे उन धर्मों के करनेवाले धर्मी का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रकार प्राणी में चलना, उठना-बैठना, सुख-दुःख अनुभव करना इत्यादि धर्म देखने से अपना अनुमान बताता है कि प्राणी में जड़ प्रकृति से बने शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है। यह अनुमान विवादरहित है। ऐसे ही विवादरहित है, जैसे धर्म को देखकर धर्मी का ज्ञान।

यह विशेष पदार्थ जीवात्मा कहलाता है।

अभी तक प्रकृति और कार्य-जगत् के विषय में कहा जा रहा था। अब कार्य-जगत् के तथा प्राणी के विशेष धर्मों को देखकर सामान्य परिणाम यह निकाला गया है कि प्रकृति के अतिरिक्त एक चेतन तत्त्व है।

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्॥ १३९ ॥

पदच्छेद—शरीरादि, व्यतिरिक्तः, पुमान्।

अर्थात्—शरीरादि (में) विशेष रूप से एक भिन्न पुरुष है।

शरीरादि का अभिप्राय है कि शरीर, इन्द्रियाँ और मन अथवा प्राणी के अतिरिक्त पदार्थ। पुरुष से अभिप्राय है जीवात्मा।

शास्त्रों में जीवात्मा को भी पुरुष के नाम से कहा गया है। उदाहरण के रूप में भगवद्गीता में कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ (१३-१९)

अर्थात्—प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं।

यहाँ सांख्य के इस सूत्र (१-१३९) में केवल जीवात्मा का ही वर्णन है। इससे पूर्व के सूत्र १-१३८ में तो सिद्धान्तात्मक बात कही थी कि धर्म को देखकर धर्मी का ज्ञान होता है। अब वर्तमान सूत्र में बताया है कि प्राणी के शरीर में प्रकृति से विशेष अतिरिक्त धर्मों को देखकर इसमें पुरुष का ज्ञान होता है।

यहाँ शरीर के किन धर्मों की ओर संकेत है? इसमें सुख-दुःख की अनुभूति में इच्छा का होना, इसी प्रकार शरीर में दुःखों से द्वेष अर्थात् दुःखकारक पदार्थों अथवा परिस्थितियों से द्वेष और शरीर में प्रयत्न अर्थात् चलना-फिरना इत्यादि धर्म देखे जाते हैं। शरीर में चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का धर्म भी है। ये सब धर्म न तो मृत शव में देखे जाते हैं और न ही कमरे में रखी मेज़-कुर्सी में। इस कारण यह कहा है कि शरीर के धर्म में प्रकृति के धर्मों से विशेषता देखी जाती है। इस कारण शरीर में प्रकृति के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ दिखाई देता है तो वह पुमान् अर्थात् पुरुष कहा जाता है। सामान्य भाषा में उसे जीवात्मा कहते हैं।

संहतपरार्थत्वात् ॥ १४० ॥

पदच्छेद—संहत, परार्थत्वात्।

अर्थात्—संयोग किसी दूसरे के लिए होता है।

इसी आशय का सूत्र (१-६६) पहले भी कहा गया है। वहाँ पुरुषस्य शब्द लिखकर बात स्पष्ट की गई है। यहाँ पुरुष का प्रकरण होने से पुरुष शब्द के लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

भावार्थ दोनों स्थान पर एक ही है। वह यह कि प्रकृति के परमाणुओं में जो संयोग होता है, वह किसी अन्य के लिए है; प्रकृति के अपने लिए नहीं है। वह अन्य है पुरुष।

यहाँ पहली बात को दोहराने की आवश्यकता इस कारण हुई है कि यहाँ शरीर के अवयवों के संघात की बात कही थी। हाथ-पाँव, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि का संयोग शरीर के इन अंगों के अपने लिए नहीं। ये सब किसी अन्य के लिए कार्य करते हैं। वह अन्य वही है जो मृत्यु के समय शरीर को छोड़ देता है। जब वह शरीर से निकल जाता है तो शरीर की संधियाँ ढीली पड़ जाती हैं और यह विघटित होने लगता है, अर्थात् शरीर के अवयव इकट्ठे रहकर कार्य तब तक ही करते हैं जब तक जीवात्मा इनमें रहता है। जब वह नहीं रहता तो शरीर के अवयव छिन्न-भिन्न होने लगते हैं।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥ १४१ ॥

पदच्छेद—त्रिगुणादि, विपर्ययात्।

अर्थात्—त्रिगुणादि गुणों के विपरीत होने से (पुरुष शरीर से भिन्न है)।

महदादि पदार्थ जिनसे शरीर बना हुआ है त्रिगुणात्मक है। परन्तु ये गुण उस धर्मी में नहीं पाए जाते, जिसका वर्णन सूत्रों (१-१३८, १३९) में किया है। जीवात्मा त्रिगुणात्मक नहीं है। इस कारण वह शरीर से भिन्न है।

त्रिगुणात्मक वस्तुएँ विनाशवाली हैं। कारण यह कि तीनों गुणों का पृथक्-पृथक् रहना अस्थायी अवस्था है। इनकी स्थायी अवस्था साम्यावस्था है। यह परमात्मा के तेज से ही पृथक्-पृथक् अर्थात् साम्यावस्था-भंग की अवस्था में होते हैं। इस तेज के विषय में भी उस उद्धरण में जो हमने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' से (सूत्र १३६ के भाष्य में) दिया है, कहा है कि जब कण अपने विपरीत कणों से मिलते हैं तो एक प्रकार का शक्ति-प्रसारण होता है। यही शक्ति (तेज) इनकी साम्यावस्था को भंग करने के लिए प्रयुक्त होती है। इसे हम परमात्मा का तेज कहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब तीनों गुणों को पृथक्-पृथक् होना होता है तब जगत् की रचना होती है। अतः सब त्रिगुणात्मक पदार्थ विघटित होते हैं; पुरुष नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अनादि तत्त्व है, इस कारण यह त्रिगुणात्मक नहीं है। इसी कारण यह शरीर का अंग नहीं है।

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥

पदच्छेद—च, अधिष्ठानात्, इति।

अर्थात्—और यह अधिष्ठाता होने से।

वह पुरुष (जीवात्मा) शरीर का स्वामी (उस पर नियंत्रण रखनेवाला) है। इस बात को जानने के लिए जीवित प्राणी और मृत शव में तुलना करने की आवश्यकता है।

दोनों में तुलना करने के लिए शरीर के कार्य को देखना पड़ेगा। जीवित शरीर में इच्छा होती है। सुख से प्रीति और दुःख से द्वेष देखा जाता है। प्रयत्न और चेतना अर्थात् ईक्षण की शक्ति भी जीवित शरीर में देखी जाती है। इनमें से कुछ भी तो मृत शव में नहीं देखा जाता। अतः यह सिद्ध होता है कि शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा है। जब तक यह शरीर में रहता है, शरीर उपरिलिखित गुणों से युक्त रहता है।

भोक्तृभावात् ॥ १४३ ॥

अर्थात्—भोक्ता होने से।

जीवित शरीर में भोग की (जगत् के पदार्थों के रस-स्वादन की) इच्छा रहती है। यह मृत शरीर में नहीं होती। इस कारण यह जीवात्मा का धर्म है। इसके होने से जीवात्मा की उपस्थिति जीवित शरीर में सिद्ध होती है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥

पदच्छेद—कैवल्यार्थम्, प्रवृत्तेः, च।

अर्थात्—कैवल्य के लिए और प्रवृत्ति के लिए।

कैवल्य का अभिप्राय है प्रकृति से पृथक् अवस्था। सामान्य रूप में जीवात्मा प्रकृति से संयुक्त रहता है। जब यह प्रकृति से पृथक् हो अकेला (केवल) हो जाता है तो इसकी अवस्था को कैवल्य की अवस्था कहते हैं। यह दो अवसरों पर प्रकृति से सर्वथा पृथक् होता है—एक प्रलय-काल में, जब प्रकृति अपने मूल रूप में अर्थात् परमाणुवत् हो जाती है, तब जीवात्मा प्रकृति से पृथक् हो जाता है; एक अन्य समय भी यह प्रकृति से पृथक् हो सकता है, जब इसे विवेक हो जाता है और प्रकृति के त्रिगुणात्मक रसों में इसकी रुचि नहीं रहती। यह मोक्षावस्था कहलाती है। विवेक का अर्थ ज्ञान है—वास्तविक ज्ञान, कि जीवात्मा शरीर से एक भिन्न इकाई है। तब इसको ज्ञान प्राप्त होता है कि शरीर के भोग व्यर्थ हैं। तब वह प्रकृति से पृथक् हो जाता है।

प्रलय-अवस्था में जीवात्मा के प्रकृति से पृथक् होने को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। उसे कैवल्य अवस्था नहीं कहते। कारण यह कि उस समय जीवात्मा को अपनी अवस्था की अनुभूति नहीं हो रही होती। कैवल्यावस्था उस समय ही इसकी कही जाती है, जब यह जाग्रतावस्था में होता हुआ भी प्रकृति के संयोग से पृथक् होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा इस अवस्था की इच्छा करता रहता है। कारण यह कि दुःखों की अनुभूति की निवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक प्रकृति से संयोग बना रहता है। जो जीवात्मा दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति चाहते हैं वे कैवल्यावस्था की इच्छा रखते हैं। मनुष्य सशरीर भी ऐसी इच्छा करता है। हम पहले बता चुके हैं कि पृथिवी के साथ भू-आकर्षण से मनुष्य का बँध जाना भी तो एक प्रकार से मनुष्य का बन्धन ही है और इससे छुटकारा पा जाने की इच्छा मनुष्य हवाई जहाज़ों और चाँद इत्यादि पर जाने के प्रयत्न से सिद्ध करता है। अतः हमारा मत है कि कैवल्य की प्रवृत्ति मनुष्य अर्थात् जीवात्मा में रहती है।

सूत्र १-१३९ से सूत्र १-१४४ तक शरीर से भिन्न, शरीर में विद्यमान चेतन तत्त्व और उसकी प्रवृत्ति (स्वभाव) का वर्णन किया गया है।

नास्तिक कहते हैं कि प्राणी के शरीर में चेतना प्रकृति की विशेषावस्था से ही उत्पन्न होती है। सूत्रकार कपिल ऐसा नहीं मानता। वह कहता है—

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४५ ॥

पदच्छेद—जड, प्रकाश, अयोगात्, प्रकाशः।

अर्थात्—जड़ पदार्थ का प्रकाश से योग न होने से प्रकाश (की सिद्धि होती) है।

प्रकाश शब्द चेतना के लिए प्रयोग किया गया है। नास्तिक भी इस शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि विशेष स्थिति में जड़ सक्रिय हो जाता है। इसी सक्रिय अवस्था में आने को सूत्रकार प्रकाश में आना कहता है।

परन्तु जड़ पदार्थ इस सक्रिय अवस्था में स्वतः आता देखा नहीं जाता। इस कारण जो प्रकृति को प्रकाशित (सक्रिय) कर देता है, वह कोई पृथक् तत्त्व है। वही चेतन है। इसे ही प्रकाश कहा है।

वर्तमान युग के दार्शनिकों की भाँति विचार करनेवाले लोग कपिल मुनि के काल में भी रहे होंगे। तभी तो यहाँ उनके विचार का खण्डन किया गया है।

यह सम्भव प्रतीत होता है कि उस काल में भी किसी वैज्ञानिक ने यह कहा होगा कि वह जीवन-तत्त्व का निर्माण करने में सफल हो गया है और वह किसी जड़ पदार्थ से चेतन का निर्माण कर लेगा। कपिल ने उसका खण्डन किया है कि बिना किसी चेतन की सहायता लिये वह ऐसा नहीं कर सकता। कपिल की भविष्यवाणी अब तक सिद्ध ही है। अभी तक किसी नास्तिक ने चेतन तत्त्व की सहायता के बिना जड़ को प्रकाशित नहीं किया।

कुछ लोग आज के साधनों को पूर्वापेक्षा अधिक उत्कृष्ट और सबल मानते हैं। इस कारण उनकी दृष्टि में आज के युग में इस बात में सफलता सम्भव है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणी का शरीर-निर्माण किया जा सकेगा। कारण यह कि शरीर तो जड़ है। जड़ में परिवर्तन मानव-प्रयत्न से सम्भव है। परन्तु उस शरीर में जीवात्मा आएगा अथवा नहीं,—यह नहीं कहा जा सकता। कदाचित् वह नहीं आएगा और वैज्ञानिकों का स्वप्न साकार नहीं हो सकेगा।

फिर भी यह देखा जा सकेगा कि मनुष्य रोबोट से कुछ अधिक बना सकता है अथवा नहीं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूत्रार्थ है—जड़ में प्रकाश (चेतना) स्वतः आता देखा नहीं जाता। इस कारण पृथक् चेतन-तत्त्व की सिद्धि होती है। अभी तक यह निष्कर्ष सत्य ही सिद्ध हुआ है।

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६ ॥

पदच्छेद—निर्गुणत्वात्, न, चित्-धर्मा।

अर्थात्—निर्गुण होने से नहीं है चित् धर्मवाला।

गुणों से अभिप्राय प्रकृति के तीन गुणों (सत्व, रजस् और तमस्) से है। चेतन तत्त्व, जिसका कथन पूर्व-सूत्र (१-१४५) में प्रकाश नाम से किया गया है, चित् से उसका अभिप्राय नहीं है, अतः वह चित् धर्म वाला नहीं है।

चित् का अर्थ बुद्धि और मन है। यह त्रिगुणात्मक है। परन्तु चेतन तत्त्व इन गुणों को नहीं रखता।

सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों को रखना चेतना का लक्षण नहीं। इन गुणों से तो कार्य होता है। मन और बुद्धि कार्य करते हैं। परन्तु किसी कार्य की दिशा, उसका काल और स्थान निश्चय करना (ईक्षण करना) चित् का लक्षण नहीं। यह चेतन तत्त्व का लक्षण है। इसी कारण सूत्रकार ने चित्-धर्मा को जीवात्मा (चेतन तत्त्व) नहीं माना।

चित् का अभिप्राय सजगता तो है। यह चित् में उपस्थित है, परन्तु चित् को सजग पदार्थ मानने पर भी उस सजगता में ईक्षण करने की सामर्थ्य नहीं होती। वह जीवात्मा की उपस्थिति से आती है। अतः यह कहा जा सकता है कि चित् का काम करनेवाली मशीनें बनाई जा सकती हैं। कम्प्यूटर उसी श्रेणी की मशीन है। परन्तु ये जीवात्मा के बिना कार्य नहीं कर सकतीं। इनमें जीवात्मा का अभाव है, जिसकी पूर्ति कार्य करनेवाले मनुष्य प्रस्तुत करते हैं। कम्प्यूटर गणित-विद्या में बहुत सहायक होता है। जिस गणना को करने में मनुष्य कई-कई दिन लगा सकते हैं, उसे कुछ ही सैकण्डों में कम्प्यूटर सम्पन्न कर देता है। परन्तु जैसे कम्प्यूटर का संचालन करनेवाला संचालक रहता है, वैसे ही शरीर में मन, बुद्धि के काम को दिशा इत्यादि देने के लिए जीवात्मा उपस्थित रहता है। कम्प्यूटर ने गणना करने की गति को तीव्र कर दिया है, परन्तु यह गति को आरम्भ करनेवाला, अन्त करनेवाला, दिशा और स्थान निश्चय करनेवाला, नहीं होता। गति उत्पन्न करनेवाला कोई तत्त्व होता है।

अतः सूत्रकार का कहना है कि चेतन तत्त्व (जीवात्मा) चित् धर्मवाला नहीं है। यह उससे पृथक् है।

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ॥ १४७ ॥

पदच्छेद—श्रुत्या, सिद्धस्य, अपलापः, न, तत्प्रत्यक्ष-बाधात्।

अर्थात्—वेद से सिद्ध नहीं मिथ्यावाद (क्योंकि) प्रत्यक्ष की बाधा होने से।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सूत्रों में कही बात कि चेतन तत्त्व प्रकृति से पृथक् है—श्रुति में भी कही है और यह मिथ्यावाद नहीं है। इसे मिथ्यावाद मानने में प्रत्यक्ष की बाधा है। प्रत्यक्ष की बाधा यह है कि प्रत्यक्ष इस सिद्धान्त को मिथ्या नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताता।

वेद में इस प्रकार कहा है—

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥
पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवद्दगर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥

(ऋ० १०-१७७-१, २)

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

ज्ञानवान् हृदय और मन से ऐश्वर्य से युक्त (जीवात्मा) को देखते हैं। व्यापक क्रान्तदर्शी प्राणदाता ईश्वर से निर्माण-शक्ति द्वारा उस संसार के भीतर सूर्य की किरणों की भाँति परम प्राप्तव्य पद को पाते हैं।

इस मन्त्र में जीवात्मा के विषय में दो बातें कही हैं। यह एक कि वह विशेष रूप से संसार में स्थित है। उसका कारण यह है कि यह भोक्ता है। दूसरा यह कि परमात्मा अपनी माया से उसे प्राणरूपी शक्ति देता है, जिससे वह कार्य करता है।

जीवात्मा वाणी अर्थात् वेदवाणी मन से धारण करता है। इस वाणी को धारण करनेवाला विद्वान् भीतर-ही-भीतर अर्थ का प्रकाश करनेवाली अपने शब्दात्मक अर्थात् शब्द के अर्थ-सहित धारण कर मन पर अधिकार रखनेवाली वाणी को पद-पद पर प्राप्त करते हैं।

इन मन्त्रों से जीवात्मा के अस्तित्व और उसके स्वेच्छा से कार्य करने की बात कही गई है।

सांख्याचार्य ने भी यही कहा है। उसने सूत्र १-१४६ में कहा है कि जीवात्मा प्रकृति के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण कहलाता है और वह चित् नहीं है।

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्॥ १४८॥

पदच्छेद—सुषुप्त्याद्य-साक्षित्वम्।

अर्थात्—सुषुप्ति आदि (अवस्थाओं का) साक्षी होना (आत्मा का)।

सुषुप्ति आदि का अभिप्राय समझने की आवश्यकता है। सुषुप्ति का अभिप्राय है नींद की अवस्था। परन्तु आदि का शब्द साथ होने से सुषुप्ति आदि का अर्थ यह बनता है—नींद अथवा किसी भी प्रकार की अचेतनता। इन अवस्थाओं में चित्त सुषुप्ति-अवस्था में होता है, जीवात्मा नहीं। उस समय बाहर की वस्तुओं और घटनाओं का ध्यान नहीं रहता। यह ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा और मन तथा बुद्धि के माध्यम से जीवात्मा तक पहुँचता है। सुषुप्ति-अवस्था में बाहर का ज्ञान नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त और उसके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ भी सो जाती हैं।

इस पर भी जीवात्मा जागता रहता है। कारण यह कि शरीर के वे अवयव जो चित्त के अतिरिक्त जीवात्मा से सीधे सम्बन्धित होते हैं, चलते रहते हैं।

इस कारण सूत्रकार कहता है कि सुषुप्ति आदि अवस्था में शरीर जीवात्मा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधीन होने से जीवात्मा का साक्षी प्रस्तुत करता है। यह चित्-धर्मा नहीं है। उस समय वह चित्त का कार्य नहीं कर रहा होता।

जो अवस्था सुषुप्ति में होती है, वही अचेतन अवस्था में होती है। चित्त मद्यादि के सेवन अथवा किसी प्रकार के आघात के कारण जब अचेत हो जाता है, तो भी महाप्राण कार्य करते रहते हैं। वे शरीर में रहनेवाले जीवात्मा का कार्य करते हैं।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ १४९ ॥

पदच्छेद—जन्मादि, व्यवस्थातः, पुरुष-बहुत्वम्।

अर्थात्—जन्मादि की व्यवस्था से अनेक जीवात्मा का (ज्ञान होता है)।

जन्मादि से अभिप्राय है जन्म, पालन और मृत्यु। सूत्रकार कहता है कि प्राणियों का मरना, जन्म लेना और जीवन में व्यवहार, इन सबको देखकर यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा बहुत हैं।

कोई पैदा हो रहा है, कोई मर रहा है, कोई पेट-भर खाता है और दूसरा व्रती होता है। कोई सुखी है तो दूसरा दुःखी है। इस प्रकार की व्यवस्था से यह अनुमान लगता है कि जीवात्मा अनेक हैं और पृथक्-पृथक् शरीर में रहते हैं।

भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न व्यवहारों को भिन्न-भिन्न समयों पर आरम्भ, चालू और समाप्त किया जाता देख यही परिणाम निकलता है कि भिन्न-भिन्न शरीरों में आत्मा भिन्न-भिन्न हैं।

पूर्व-पक्षवाले कहते हैं कि इस भिन्नता का कारण है—

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५० ॥

पदच्छेद—उपाधिभेदे, अपि, एकस्य, नानायोगः, आकाशस्य-इव, घटादिभि।

अर्थात्—उपाधि-भेद होने पर भी एक का नाना पदार्थों से योग (हो सकता है) जैसे आकाश का घटादि के साथ होता है।

पूर्व के सूत्र में यह कहा है कि मरना, जन्म लेना तथा अन्य व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हुए यह अनुमान होता है कि भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न जीवात्मा हैं। सबमें एक ही जीवात्मा नहीं।

अभिप्राय यह है कि शरीर अनेक हैं। अतः एक आत्मा के ही भिन्न-भिन्न शरीरों से योग होने पर भिन्न-भिन्न शरीरों का भेद उपाधि का भेद माना जाता है। जैसे आकाश एक है, परन्तु भिन्न-भिन्न पात्रों में उसका भिन्न-भिन्न रूप होता है।

एक ही आकाश भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों में होता है। वह भिन्न-भिन्न रूप और पात्रों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करता दिखाई देता है।

यह अद्वैतवादियों का कथन है कि मनुष्यों में विभिन्नता अनेक शरीरों के कारण है। आत्मा सबमें एक ही है।

सांख्याचार्य इस बात को नहीं मानता। वह इस बात का खण्डन करते हुए कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥ १५१ ॥

पदच्छेद—उपाधिः, भिद्यते, न, तु, तत्-वान्।

अर्थात्—उपाधि नष्ट हो जाती है, किन्तु नहीं, उस (उपाधि) वाला।

दर्शनाचार्य की युक्ति यह है कि शरीर नष्ट होता है, परन्तु आत्मा तो शरीर का स्वामी है, वह नष्ट नहीं होता।

शरीर की चेतना तो नष्ट हो जाती है, परन्तु जीव नष्ट नहीं होता। यह जन्म-जन्मान्तरों तक जाता है। यह इस कारण कहा गया है कि जीवन के कर्म-फल जीवन के साथ ही नष्ट नहीं हो जाते। कर्म-फल तो जन्म-जन्मान्तरों तक चलते रहते हैं। एक जन्म के कर्म-फल एक जन्म में समाप्त नहीं होते। कर्म-फल जन्म-जन्मान्तरों तक रहते हैं। न ही किसी जन्म के कर्म-फल उसी जन्म के प्रतीत होते हैं। इससे मानना पड़ता है कि कर्ता कर्म भोगने के लिए मरने के उपरान्त भी रहता है। यह वही हो सकता है जो कर्मों को दिशा प्रदान करता है। अनेक भोग वर्तमान जन्म के कर्मों का फल नहीं होते।

मनुष्य में कोई ऐसा तत्त्व कार्य करता है जो जन्म-जन्मान्तरों तक चलनेवाला हो। नहीं तो ऐसा मानना पड़ेगा कि इस संसार में अन्याय, अधर्म, असत्य इत्यादि कार्य भी चल सकते हैं। सामर्थ्यवान् अनर्थकारी कार्य करके छूट जाते हैं और साथ ही कई लोग अकारण दुःख और कष्ट भोगते दिखाई देते हैं। अतः ऐसा नहीं है कि मन और बुद्धि जो शरीर के साथ विनष्ट हो जाते हैं, ये ही शरीर को दिशा देने वाले हैं। कर्म को दिशा देने वाला कोई अन्य है जो जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। यह शरीर के साथ विनष्ट नहीं हो जाता।

मनुष्य-जीवन में मन ज्ञान-संचय करने का यन्त्र है, बुद्धि कार्य को कुशलतापूर्वक करने का। मनुष्य का यह ज्ञान कि तलवार से वार करने पर विपक्षी मारा जाएगा, मन बताता है। बुद्धि तलवार चलाने की तरकीब और उसमें कुशलता का स्रोत है। परन्तु तलवार कब उठाई जाए, किस पर उठाई जाए—इसका निश्चय जो करेगा वह फल भोगने के लिए अगले जन्म में रहना चाहिए। ऐसे ही तत्त्व का नाम जीवात्मा है। इसके कार्य का नाम 'ईक्षण' रखा है।

सूत्रकार कहता है कि उपाधि अर्थात् शरीर तो नष्ट हो जाता है, परन्तु उसमें बैठा चेतन तत्त्व नष्ट नहीं होता। यदि शरीर, चित्त और आत्मा एक ही मान लिया जाए तो फिर भिन्न-भिन्न कर्म-फल न होंगे।

इसी युक्ति को सूत्रकार और आगे ले-जाते हुए कहता है—

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥ १५२ ॥

पदच्छेद—एवम्, एकत्वेन, परिवर्त्तमानस्य, न विरुद्ध-धर्माध्यासः।

अर्थात्—इस प्रकार एक होने से बदलनेवाले (व्यवहार) के विरुद्ध धर्म का आभास (भ्रम) नहीं हो सकता।

अभिप्राय यह है कि यदि सब शरीरों में एक ही आत्मा मान लिया जाए तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न-भिन्न प्राणियों में समान परिस्थिति में भिन्न-भिन्न व्यवहार होता जो देखा जाता है वह तो (भ्रम नहीं) सत्य है। यह न हो पाता।

बुद्धि मनुष्य के व्यवहार में सहायता करती है, परन्तु बुद्धियों में भेद भी तो कर्म-फल ही प्रकट करता है। एक माता-पिता की दो सन्तान हैं। एक एम० ए० तक पढ़ जाती है और दूसरी स्कूल फ़ाइनल भी उत्तीर्ण नहीं कर सकती। यहाँ दोनों के मन और बुद्धि का अन्तर कर्म-फल का अन्तर है—ऐसा कर्म जो इस जन्म में नहीं किया गया।

अतः सूत्रकार कहता है कि यदि एक ही आत्मा सब शरीरों में माना जाए तो उनमें जो भिन्न-भिन्न व्यवहार देखे जाते हैं, उसका कारण नहीं बताया जा सकेगा। इससे तो फिर यही मानना होगा कि यह सृष्टि न किसी नियम के अनुसार बनी है और न किसी नियम से कार्य कर रही है। सब-कुछ अव्यवस्थित ही दिखाई देने लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। इस कारण जब पृथिवी पर भिन्न-भिन्न प्राणियों के पास छोटी-बड़ी, दुर्बल-तीक्ष्ण, कुशल-अकुशल बुद्धि, मन तथा अन्य करण देखते हैं तो इस बात को मानने पर विवश हो जाते हैं कि इनका भी कारण है। वह कारण इस बात को माने बिना समझ में नहीं आता कि एक अनादि आत्म-तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न है। वह प्राणी के शरीर के व्यवहार का उत्तरदायी है।

पूर्व-पक्षवाला अभी भी कहता है कि यह भेद अन्तःकरण के कारण है। परन्तु सूत्रकार इसका समाधान करता है—

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥ १५३ ॥

पदच्छेद—अन्यधर्मत्वे, अपि, न, आरोपात्, तत्-सिद्धिः, एकत्वात्।

अर्थात्—दूसरे (चित्त) के धर्म होने पर भी (सबमें आत्मा के) एक होने से (दूसरे चित्त के धर्म का) आरोप होने से (आपत्ति का) निराकरण नहीं होता।

आपत्ति करनेवाला कहता है कि चित्त के भिन्न-भिन्न होने के कारण आत्मा पर भिन्न-भिन्न आरोप होते हैं। इसे मानने पर भिन्न-भिन्न आत्मा की सिद्धि आवश्यक नहीं रह जाती।

पूर्व-पक्ष में कहा गया है कि आत्मा तो एक ही है, परन्तु चित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके कार्य भिन्न होते हैं।

सूत्रकार इसका भी समाधान करते हुए कहता है—

मान लें कि मनुष्य के कर्म अन्तःकरण की प्रेरणा से होते हैं और अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी अन्तःकरण के आरोप होने पर भी करनेवाला तो एक ही है। इस कारण अन्तःकरण (भिन्नता का) कारण है, यह सिद्ध नहीं होता।

सूत्रकार ने इसका समाधान ऊपर के सूत्र में पहले ही कर रखा है। कर्त्ता जीवात्मा है, चित्त नहीं। चित्त त्रिगुणात्मक है, जीवात्मा नहीं। यह ईक्षण करता है। चित्त जड़ है। फल जीवात्मा भोगता है, चित्त नहीं। उसका कारण यह है कि मरने पर वह भी विनष्ट हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।। १५४ ।।

पदच्छेद—न, अद्वैत, श्रुतिविरोधः, जातिपरत्वात् ।

अर्थात्—नहीं है विरोध अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का वहाँ (आत्मा) जातिपरक होने से ।

'जातिपरक होने से' का अभिप्राय है कि श्रुति में आत्मा शब्द जातिपरक होने से अपनी जाति के परमात्मा का अर्थ लिया जाता है । आत्मा-परमात्मा के कुछ गुण परस्पर मिलते हैं । दोनों अव्यक्त और चेतन होने से एक ही जाति के हैं । इस कारण जहाँ आत्मा को अद्वैत लिखा है वहाँ परमात्मा से अभिप्राय है । परमात्मा अपने में अद्वितीय है । इसी प्रकार जीवात्मा भी अपनी जाति में अद्वितीय है । परन्तु कुछ गुणों में यह भिन्न-भिन्न भी है । एक सर्वव्यापक है । दूसरा अणु-मात्र है । इस कारण दोनों में भेद भी है ।

सांख्याचार्य कहता है कि उसका कथन उन श्रुतियों का विरोध नहीं करता जो परमात्मा को अद्वैत अर्थात् अद्वितीय (अनुपम) मानते हैं । कारण यह कि यहाँ इस प्रकरण में वह परमात्मा के विषय में नहीं कह रहा । वह जीवात्माओं के विषय में कह रहा है । इसका विषय दूसरा होने से उन शास्त्रों का विरोध नहीं जिनमें परमात्मा के अद्वैत होने का वर्णन किया गया है । जीवात्मा कई होने से अद्वितीय नहीं कहा जा सकता ।

विदितबन्धनकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ।। १५५ ।।

पदच्छेद—विदितबन्धनकारणस्य, दृष्ट्या, तद्रूपम् ।

अर्थात्—बन्धन के कारण को जाननेवाले की दृष्टि से यह उसी (अपने) रूप को (जान जाता है) ।

जो जीवात्मा यह जान जाता है कि वह क्यों बन्धन में आ गया है, वह यह जान जाता है कि वह चेतन है; वह जड़ नहीं है । साथ ही परमात्मा नहीं है ।

इस सूत्र में सूत्रकार यही बता रहा है कि ज्ञानवान् जीवात्मा अपने को अन्तःकरण से पृथक् जान जाता है तो उसे चेतन के गुणों और चित्त के गुणों में अन्तर दिखाई देने लगता है ।

इस सूत्र का यह भी अभिप्राय है कि वह अपने इस रूप को जानकर समझ जाता है कि वह परमात्मा नहीं है ।

यह माना जाता है कि मोक्षावस्था में भी जीवात्मा परमात्मा नहीं हो जाता । यह अभिप्राय है इस सूत्र का ।

ऐसा ब्रह्मसूत्रों में भी वर्णन है ।

वहाँ कहा है—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणात् असन्निहितत्वाच्च ।
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेत् न आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।।

(ब्र० सू० ४-४-१७, १८)

इसका अभिप्राय है कि जगत् रचना कार्य (मुक्तात्माओं) के साथ सन्निहित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रत्यक्ष कथन से यह प्रकट होता है कि मुक्त जीवों की सीमा है।

इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) भी यह मानता है कि परमात्मा और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं और जीवात्मा मोक्षावस्था में भी परमात्मा नहीं हो जाता।

नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥ १५६ ॥

पदच्छेद—न, अन्धादृष्ट्या (अन्ध-अदृष्ट्या), चक्षुष्मताम्, अनुपलम्भः।

अर्थात्—अन्धे (ज्ञान-विहीन) द्वारा न देखे जाने से आँखोंवालों (ज्ञानवान्) को दिखाई नहीं देता, ऐसा नहीं है।

सूत्र के आरम्भ में आया 'न' अन्त में अर्थ देता है। यहाँ अन्धे से अभिप्राय है ज्ञानहीन और चक्षुष्मताम् से अभिप्राय है ज्ञानवान्।

इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानहीन पुरुष ज्ञानवानों को ग़लत कहें तो यह ठीक नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन ज्ञानवान् है और कौन अज्ञानी है? जो लोग आत्मा-परमात्मा को नहीं मानते, अथवा जो सबको परमात्मा के रूप-समान ही मानते हैं, अथवा जो जगत् को भ्रममात्र ही मानते हैं, वे उनको जो परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को एक-समान मूल पदार्थ मानते हैं, को अज्ञानी कहते हैं; और जो त्रैतवादी हैं, वे अन्य सबको अज्ञानी मानते हैं।

वेद-शास्त्र तो उनके लिए प्रमाण हैं, जो उनको तथा उनके रचयिता को ज्ञानवान् समझते हैं। इस प्रकार दोनों में निर्णय का आधार क्या हो?

सांख्याचार्य कह चुका है कि जो वस्तु अथवा घटना स्थान के अन्तर के कारण अथवा काल के अन्तर के कारण प्रत्यक्ष नहीं, उसके जानने का उपाय अनुमान-प्रमाण है। सांख्य और न्याय ने अनुमान-प्रमाण को माना है। वेदान्त दर्शन भी इसे मानता है, अर्थात् दर्शनशास्त्र अनुमान को, जिसे आधारयुक्त युक्ति कहते हैं, स्वीकार करता है। तर्कशास्त्र का तो यह एकमात्र आधार है। दर्शनशास्त्र इस बात को मानकर चलते हैं कि बुद्धिगम्य बात को ही वे स्वीकार करेंगे। सांख्य भी इसी प्रकार का शास्त्र है और आरम्भ से ही सांख्यदर्शन-प्रणेता युक्ति के आधार पर अपनी बात कहता चला आ रहा है।

अतः युक्तियुक्त बात ज्ञान है और अयुक्त बात अज्ञान है।

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥ १५७ ॥

पदच्छेद—वामदेवादिः, मुक्तः, न, अद्वैतम्।

अर्थात्—वामदेवादि मुक्त हो गए (अतः) अद्वैत नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यदि एक आत्मा ही सबमें होता तो वामदेवादि गण के मुक्त हो जाने पर कोई भी बन्ध में न रह जाता। आत्मा का एक अंग मुक्त हो तो सारा भी मुक्त हो जाना चाहिए। क्योंकि वामदेवादि के मुक्त हो जाने पर भी संसार में जीव हैं, इस कारण आत्मा एक नहीं हो सकता। ये अनेक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ॥ १५८ ॥

पदच्छेद—अनादौ, अद्य-यावत्, अभावात्, भविष्यदपि, एवम् ।

अर्थात्—अनादि काल से आज तक न होने से भविष्य में भी ऐसा ही होगा ।

अभावात् का अभिप्राय है कि जीवों की उत्पत्ति का होना निःशेष हो जाना, अर्थात् 'भाव' का समाप्त हो जाना । सूत्रकार कहता है कि आदि-काल से आज तक जीवों की उत्पत्ति बन्द नहीं हुई । यह होती ही जाती है । इस कारण भविष्य में भी समाप्त नहीं होगी ।

सृष्टि कभी समाप्त नहीं होगी । इस कारण कि जीवात्माएँ अनेक हैं । वे अपने कर्म-फल के अधीन बार-बार जन्म लेती हैं और जो पुण्य-कर्मों से ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाती हैं तो वे पुनः मोक्ष भोगकर इस मर्त्य लोक में आती हैं ।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) भी ऐसा ही मानता है । वहाँ कहा है—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ।
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ *(ब्र० सू० ४-४-१९,२०)*

इनका अभिप्राय यह है कि मुक्त आत्मा चारों ओर से विकार में बरतनेवाला निश्चय से कहा है ।

दिखाता है कि ऐसा ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी ।

अतः सांख्यशास्त्र का यहाँ भी अनुमोदन किया गया है । सांख्य कहता है कि अनादि काल से आज तक जीवों का इस मर्त्य लोक में होना कभी नहीं रुका और भविष्य में भी नहीं रुकेगा, अर्थात् जीव अनेक हैं और मुक्तावस्था से लौट भी आते हैं ।

अतः सूत्रार्थ है कि अनादि काल से आज तक मर्त्य लोक में जीवात्माओं का अभाव नहीं रहा और न ही कभी होगा ।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ १५९ ॥

पदच्छेद—इदानीम्, इव, सर्वत्र, न, अत्यन्तोच्छेदः ।

अर्थात्—इस काल के समान सब काल में और सब स्थान पर अत्यन्त विनाश नहीं होता ।

यहाँ जीवात्माओं के विषय में ही कहा जा रहा है, सृष्टि-रचना के विषय में नहीं । सृष्टि-रचना में शरीरों का बनना भी आ जाता है । अतः शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं, परन्तु जीवात्माएँ जैसे आजकल हैं वैसे ही सदा और सर्वत्र (सब स्थान पर) रहेंगी । इनका अत्यन्त विनाश नहीं होगा ।

जीवों के अन्त के विषय में यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा अक्षर हैं; वे विनष्ट नहीं होते । ये मुक्त होते हैं तो लौट आते हैं । पुनः जन्म-मरण के बन्धन में आ जाते हैं । इसी प्रकार प्रलय-काल में ये सुषुप्ति अवस्था में जाते हैं । पुनः जब भी सृष्टि-रचना होने लगती है तब ये भी चेतनावस्था में आ जाते हैं । यह अभिप्राय है इनके उच्छेद न होने का ।

सूत्र में एक शब्द 'सर्वत्र' है । श्री उदयवीर शास्त्री इसका अर्थ करते हैं— (सर्वत्र)—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब काल में।

इसका अर्थ 'सब स्थान में' अधिक उपयुक्त है। अभिप्राय यह है कि कहीं-न-कहीं जीवों की सृष्टि होती रहती है। यदि एक स्थान पर रचना का लय हो जाए तो किसी अन्य स्थान में रचना होने लगती है और जीवों की सृष्टि वहाँ होने लगती है।

आजकल के वैज्ञानिक इस बात की खोज में लगे हैं कि किसी अन्य नक्षत्र पर भी पृथिवी जैसे प्राणियों की सृष्टि है अथवा नहीं। अभी तक उनको सूर्य लोक के किसी अन्य नक्षत्र में मनुष्य जैसे प्राणियों की उपस्थिति के लक्षण नहीं मिले। फिर भी यह तो देखा गया है कि इस पृथिवी जैसी अवस्थाओं का निर्माण कई अन्य नक्षत्रों पर हो रहा है।

इसके अनुरूप ही इस सूत्र के अर्थ बनते हैं। कहीं-न-कहीं जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सूर्य-लोक के अतिरिक्त भी तो कई लोक हैं।

व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६० ॥

पदच्छेद—वि-आवृतः, उभय-रूपः।

अर्थात्—विशेष रूप से लौट-लौट आनेवाला होने से दो रूपवाला (वह जीवात्मा) है।

आवृत्त का अर्थ है लौट-लौटकर चक्राकार घूमना। 'वि' से अभिप्राय है विशेष प्रकार से। अतः जीवात्माओं के विषय में कहा है कि वे विशेष परिस्थितियों में दोनों रूपों में बार-बार लौटता है। दो रूप हैं मुक्तावस्था और बन्धावस्था। जीवात्माएँ मुक्त होती हैं और बन्ध में आती हैं। इन दोनों अवस्थाओं में ये आती-जाती रहती हैं।

ईश्वर अधिकरण

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् ॥ १६१ ॥

पदच्छेद—साक्षात्, सम्बन्धात्, साक्षित्वम्।

अर्थात्—साक्षात् सम्बन्ध होने से (परमात्मा का) साक्षी होना है।

परमात्मा सर्वव्यापक है। इस कारण इसका जगत् के तथा व्योम (पूर्ण स्थान) में सबके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। साक्षात् का एक अर्थ सीधा व्यक्ततः और वस्तुतः भी है। इन सब अर्थों में परमात्मा का सम्बन्ध सब जीवात्माओं तथा प्रकृति के परमाणुओं से है। इसी सम्बन्ध के कारण परमात्मा, जो कुछ भी इस संसार में हो रहा है, उसका साक्षी है।

नित्यमुक्तत्वम् ॥ १६२ ॥

पदच्छेद—नित्य, मुक्तत्वम्।

अर्थात्—(परमात्मा का) नित्य, मुक्त होना मान्य है।

(परमात्मा) ईश्वर के विषय में योगदर्शन में लिखा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(यो० द० १-२४)

अर्थात्—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—जो इन चारों से (असम्बद्ध) अर्थात् मुक्त है (अछूता है), वह परम ईश्वर है।

यहाँ कहा है कि वह परमात्मा नित्य (अनादि), सदा रहनेवाला है और मुक्त है। मुक्त से अभिप्राय है प्रकृति से लिप्त नहीं है। उसके गुणों का रस-स्वादन नहीं करता।

वेद में इस भाव को बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। वहाँ कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति।

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थात्—दो चेतन तत्त्व प्रकृति के आश्रय स्थित हैं। एक प्रकृति के पके फलों का भोग करता है और दूसरा केवल साक्षी है।

औदासीन्यं चेति ॥ १६३ ॥

पदच्छेद—औदासीन्यम्, च, इति।

अर्थात्—और वह उदासीन है।

उदासीन का अर्थ है निर्लिप्त।

वह प्रकृति का भोग नहीं करता। यही ऊपर उद्धृत वेद-मन्त्र में कहा है।

उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ॥ १६४ ॥

पदच्छेद—उपरागात्, कर्तृत्वम्, चित्सान्निध्यात्, चित्सान्निध्यात्।

अर्थात्—उपराग (प्रभाव) से चेतन के सान्निध्य होने से। सान्निध्य का अर्थ है सम्पर्क होने से।

सूत्र का अभिप्राय है कि चेतन (परमात्मा) के समीप सम्बन्ध से परमाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। हमने चित् का अर्थ परमात्मा किया है। यह इस कारण कि ऊपर के सूत्रों में परमात्मा का वर्णन है। सूत्र १-१६० में कहा है कि परमात्मा बन्ध और मुक्त जीवात्मा के दोनों रूपों से निवृत्त है, अर्थात् पृथक् है। सूत्र १-१६१ में कहा है कि परमात्मा के व्यापक होने से सब (परमाणुओं और जीवों) के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इस कारण वह साक्षी-रूप है। तदनन्तर सूत्र १-१६२ में कहा है कि परमात्मा नित्य-मुक्त है। सूत्र १-१६३ में कहा है कि यह उदासीन (निर्लिप्त) है।

अब इस सूत्र १-१६४ में कहा है कि निर्लिप्त होने पर भी इसका प्रत्येक परमाणु से सान्निध्य है। इस सान्निध्य के प्रभाव से कार्य (सृष्टि-रचना) होता है।

परमात्मा का तेज प्रत्येक परमाणु में गुणों को बहिर्मुख कर देता है।

॥ इति प्रथमो अध्यायः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय का सारांश

१. प्रधान-कार्यप्रयोजन अधिकरण (२-१ से २-८ तक)

जीवात्मा ही मुक्त होनेवाला एक तत्त्व है। विश्व में तीन ही मूल तत्त्व हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। प्रकृति तो बन्धन का कारण है। इस कारण प्रकृति मुक्त होने के लिए नहीं। परमात्मा सदा ही मुक्त है। सर्वज्ञ होने से यह प्रकृति के बन्धन में नहीं आता। जीवात्मा ही अल्पज्ञ होने के कारण प्रकृति के बन्धन में आता है। अतः जीवात्मा ही मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक है। प्रकृति, जिसे यहाँ प्रधान कहा है, उसका कार्य जीवात्मा को मोक्ष दिलाने के लिए है अथवा इसके सुख-भोग के लिए है।

जो विरक्त जीव हैं, वे प्रधान प्रकृति के कार्य के सहयोग से मोक्ष प्राप्त करते हैं; और जो विरक्त नहीं, वे प्रधान से सुख-भोग प्राप्त करते हैं।

बन्धन से मुक्त होने अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए कठोर यत्न की आवश्यकता रहती है। केवल उपदेश सुनने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। उस कठोर यत्न में अथवा प्राणी के सुख-प्राप्ति के लिए प्रकृति का सहयोग रहता है।

इस जगत् में ऐसे बहुत हैं जिनके पालन की आवश्यकता है, अर्थात् जीवात्मा अनेक हैं और प्रकृति उन सबकी सेवा करती है। प्रकृति दो प्रकार से सेवा करती है—एक तो सुख-स्वाद प्राप्त कराती है और दूसरे मोक्ष भी प्राप्त कराती है। प्रकृति दोनों प्रकार से सेवा करने के लिए तैयार है।

प्रकृति का अस्तित्व है। इस अस्तित्व से जीवात्मा को भ्रम होता है कि इसके स्वाद सुखकर और सदा रहनेवाले हैं। यदि प्रकृति का अस्तित्व होता ही नहीं तो इसके सुखों का भ्रम नहीं होता। सुखों के होने से ही प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञान होता है और उनसे भ्रम होने लगता है कि सुख सदा बने रहेंगे। जब से सृष्टि-रचना आरम्भ हुई है और परमाणुओं के गुण बहिर्मुख हुए हैं, तब से ही इनसे उत्पन्न रस उपस्थित हैं। इन रसों के भोग की इच्छा को वासना कहते हैं। ये वासनाएँ भी तब से ही उपस्थित हैं। ये अति प्रबल होती हैं। तभी तो ये मनुष्य को बन्धन में बाँधे रखती हैं। इनका विरोध कठिन कार्य है। इन रसों का, चिरकाल से होने के कारण, यह भ्रम होता है कि इनका स्वाद भी चिरस्थायी होगा।

प्रकृति के कार्य हैं महत्, अहंकार, पंचमहाभूत, इन्द्रियाँ इत्यादि। इनमें प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) की उपस्थिति होने से ये सब रसयुक्त हैं। रसों के कारण उन रसों की प्राप्ति की कामनाओं को वासना कहते हैं और रसों के कारण ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है।

प्रकृति के इस कार्य को देखकर प्रकृति का होना सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन का अर्थ है सम्वेदनात्मक होना। किसी को काँटा चुभ जाए तो वह उसको निकालना चाहता है। यह चेतना के कारण है। मृत्यु हो जाने पर शरीर में यह गुण नहीं रहता, यद्यपि प्रकृति तो रहती है। मृत शरीर को काँटा चुभाएँ तो वह उसको निकाल देने की न तो इच्छा करता है और न ही निकाल सकता है। अतः यह मानना पड़ता है कि मृत्यु के समय वह चेतन-तत्त्व प्राणी में से चला जाता है।

फिर भी प्रकृति के गुणों से उसमें रस उत्पन्न होते हैं और रसों को प्राप्त करने की इच्छा (कामना) होती है। यह इस प्रकार है कि जैसे गरम लोहे से शरीर जल जाता है। परन्तु जलानेवाली तो गरमी ही होती है; लोहा नहीं। इसी प्रकार कामनाओं की प्राप्ति की इच्छा गुणों से है, उस वस्तु से नहीं जिसके रस को प्राप्त करने की कामना होती है।

यह युक्ति इस कारण दी गयी है कि लोग मोदक को स्वादु कहते हैं अथवा नीम को कड़वी कहते हैं। यह नीम और मोदक कड़वे अथवा स्वादु नहीं, वरन् उनमें प्रकृति के गुणों की उपस्थिति ही है जो यह स्वाद उत्पन्न करती है।

इन गुणों में राग (आकर्षण) और विराग (विकर्षण) ही कार्य-जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति में कारण हैं। इन्हीं गुणों के आकर्षण-विकर्षण का परिणाम है जिससे महत्, अहंकार और पंच महाभूत बनते हैं।

परमात्मा के तेज से प्रकृति में साम्यावस्था भंग हुई। परमात्मा ने यह क्यों किया? सूत्रकार कहता है कि परमात्मा का अपना कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। वह पूर्ण ज्ञान का स्वामी होने के कारण इन गुणों के स्वाद की कामना नहीं कर सकता।

प्रकृति सम्वेदना-रहित होने के कारण, प्रकृति के इन (महदादि में) परिवर्तनों की आवश्यकता प्रकृति को प्रतीत नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि-रचना परमात्मा के अपने किसी अभाव के कारण नहीं है। क्योंकि वह प्रभाव-रहित है और न ही प्रकृति के कारण है। क्योंकि प्रकृति को अभाव की अनुभूति ही नहीं होती। वह चेतना-रहित है। अतः इसका प्रयोजन किसी ऐसे चेतन-तत्त्व के लिए है जो जीवित शरीर में उपस्थित प्रतीत होता है।

दिशा और काल सृष्टि-रचना के उपरान्त ही अनुभव होते हैं। रचना में काल तथा दिशा आरम्भिक बिन्दु बन जाते हैं। तब उन बिन्दुओं से दिशा का ज्ञान होता है और काल की गणना का आरम्भ होता है। दिशा का अर्थ पूर्व-पश्चिम इत्यादि है ही। साथ ही उस दिशा में कितनी दूर तक से भी अभिप्राय है।

दिशा, काल और अन्तर का निश्चय करनेवाली वृत्ति बुद्धि है। वृत्ति अर्थात् व्यापार कर्म को कहते हैं। वह पदार्थ जिससे इस प्रकार का निश्चय होता है, उसे बुद्धि कहते हैं। यह भी 'महत्' का ही अंश है।

हमने यहाँ अपने मत से सांख्य के प्रवक्ता के भाव को प्रकट किया है। वह यह कि बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियाँ तो वैकारिक अहंकार और तैजस अहंकार के संयोग का परिणाम हैं। ये मन और बुद्धि नहीं हैं। क्योंकि, सांख्याचार्य के मत से ये महत् का अपर नाम हैं। मन और बुद्धि सांख्य की दृष्टि में इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों) के दो-दो भाग किए हैं। एक वह भाग जो बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और दूसरा वह भाग जो भीतर मन और बुद्धि के सम्पर्क में आता है। दोनों में कारण एक ही है,(वैकारिक और तैजस अहंकार का संयोग)।

अन्तःकरण, मन और बुद्धि इन्द्रियों से पृथक् हैं। उसका कारण यह है कि इनको बनानेवाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। इन्द्रियाँ अहंकारों की उपज हैं और मन-बुद्धि महत् की उपज हैं। करण का अभिप्राय इन्द्रियाँ नहीं हैं। करण कार्य करने की सामर्थ्य रखनेवाले पदार्थ हैं। ये बाह्य-आभ्यन्तरिक इन्द्रियों में भी हैं और अन्तःकरण (मन और बुद्धि) में भी हैं। परन्तु दोनों की उपज भिन्न-भिन्न पदार्थों से होने के कारण अन्तःकरण को इन्द्रियों से भिन्न मानना चाहिए।

बुद्धि का कार्य धर्म-अधर्म में भेद करना है। धर्म करणीय कर्म को कहते हैं और अधर्म न करने योग्य कर्म को। इनमें भेद और निर्वाचन का कार्य बुद्धि करती है।

बुद्धि महत् का अंश है। यह इन्द्रिय नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ अहंकारों से उत्पन्न होती हैं। इस पर भी बुद्धि पर अहंकारों का प्रभाव होता है। उस प्रभाव से बुद्धि में अभिमान पैदा होता है। परन्तु यह नहीं कहा कि अहंकार अन्तःकरण का भाग है। अहंकारों का प्रभाव अर्थात् परछाई बुद्धि पर पड़ती है तो अभिमान की उत्पत्ति होती है। बुद्धि पर किसी एक अथवा दूसरे अहंकार का रंग चढ़ जाता है।

अहंकारों का कार्य है ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ। ग्यारह इन्द्रियों से हमारा अभिप्राय है दस इन्द्रियाँ बाहर की और ग्यारहवाँ वह अंश जो शरीर के भीतर जाकर मन, बुद्धि से संयुक्त होता है।

वैकारिक अहंकार से सात्त्विक गुणवाली ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य-आचार्य अहंकार और अहंकार में भी परस्पर भेद करता है। हमने सुश्रुताचार्य के कथन का प्रमाण दिया है कि अहंकार तीन प्रकार के हैं। वैकारिक अहंकार एक प्रकार का है। दूसरे दो अहंकार हैं तैजस और भूतादि अहंकार। इन्द्रियाँ वैकारिक अहंकार और तैजस अहंकार के संयोग से उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियाँ पंचमहाभूतों की उपज नहीं। इन्द्रियाँ प्राण का रूप हैं।

इन्द्रियाँ देवता में लय होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों का मन, बुद्धि द्वारा जीवात्मा से सम्बन्ध बनता है, परन्तु इन्द्रियों की शक्ति जीवात्मा से उत्पन्न नहीं होती। यह तो परमात्मा का तेज है जो प्राण कहलाता है। इन्द्रियाँ वे अधिष्ठान (गोलक) नहीं जिनके भीतर रहकर ये कार्य करती हैं, जैसे विद्युत् ले-जाने के लिए तार होती है, परन्तु तार विद्युत् नहीं। वह तो शक्ति है जो तार में से गुजरती है। यही बात इन्द्रियों के गोलक की है। वे इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ प्राणरूपी शक्ति हैं।

इन्द्रियों (प्राण) की उत्पत्ति का वर्णन वेद में किया गया है। प्राण अन्न से शरीर में आता है। इसका विनाश भी देखा जाता है। विनाश का अभिप्राय यह है कि जब यह कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। यह ऐसे ही है जैसे विद्युत् एक तार में आती है। इसे गरम (+) तार कहते हैं। जब विद्युत् कार्य कर लेती है जैसे रोशनी अथवा पंखा इत्यादि को चला लेती है तो यह दूसरी ठण्डी तार में चली जाती है। परन्तु वहाँ भी वह होती तो है, किन्तु दिखाई नहीं देती। यह इसके 'पोटेंशल' के पृथिवी के पोटेंशल बराबर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाने के कारण कहा जाता है। तभी इस तार को 'अर्थ' भी कहते हैं। यथार्थ बात यह है कि यह 'पोटेंशल' सागर-जल के स्तर की भाँति है। जल पर्वत की ऊँचाई से गिरता है तो कार्य (विनाश-कार्य अथवा निर्माण-कार्य) करता है। परन्तु जब यह समुद्र-स्तर पर पहुँच जाता है तो कार्य नहीं कर सकता। यह स्तर ही विद्युत्—'पोटेंशल' है और इसे ही प्राण अर्थात् इन्द्रिय-शक्ति में उद्भव और विनाश कहा है।

इन्द्रियों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इनमें शक्ति एक ही प्रकार की है। जैसे विद्युत्-तरंग उत्पादन-यन्त्र से तो एक ही प्रकार की उत्पन्न होती है, परन्तु कार्य अनेक प्रकार के करती है। प्रकाश और शब्द, गति, (चक्राकार अथवा सीधी रेखा में) उत्पन्न कर सकती है। यही बात इन्द्रियों के कार्य की है।

मन का कार्य दो प्रकार का है—संकल्प-विकल्प तथा स्मृति-ज्ञान-संचय करने का। और धर्माधर्म में निश्चय करने का कार्य बुद्धि का है। इसी कारण कार्य के विचार से इसे दो कार्यवाला कहा है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी दो प्रकार का कार्य करती हैं—ज्ञान प्राप्त करना और शरीर के कार्य करना। इन्हें करण (कार्य करने में साधन) कहा है। परन्तु कार्य करनेवाला जीवात्मा एक पृथक् तत्त्व है।

२. मन-तत्त्व अधिकरण (२-२९ से २-४३ तक)

कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और जीवात्मा, इन तीनों के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ जीवात्मा के अधीन कार्य करती हैं। पाँच प्रकार के प्राण भी जीवात्मा के आदेश पर कार्य करते हैं।

जीवात्मा पाँच प्राणों द्वारा इन्द्रियों से कार्य कराता है। इन्द्रियाँ क्रम से अथवा बिना क्रम के कार्य करती हैं। क्रम का अभिप्राय है ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर का ज्ञान भीतर ले-जाती हैं। वहाँ बुद्धि विचार करके जीवात्मा को बताती है कि क्या करना चाहिए। जीवात्मा कर्मेन्द्रियों को आदेश देता है। कार्य करने का क्रम यह है।

कभी इससे उलट भी होता है। बिना बाहर का ज्ञान प्राप्त किए जीवात्मा स्वभाव से कर्म करने लगता है। उसमें ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि के कार्य का उल्लंघन हो जाता है। यह बिना क्रम का कार्य है।

वृत्ति व्यापार को कहते हैं। व्यापार पाँच प्रकार के कहे हैं—पाँच क्लिष्ट और पाँच अक्लिष्ट। क्लिष्ट से अभिप्राय है सुखकारक। इनकी गणना इस प्रकार है—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति।

इन वृत्तियों से जब जीवात्मा उदासीन हो जाता है, तब वह इनसे निवृत्त हुआ मानना चाहिए। इनसे निवृत्त होने के उपाय का नाम योग है। इन्द्रियों की वृत्तियों पर नियन्त्रण को योग कहते हैं।

इन्द्रियों के व्यापार का जीवात्मा पर कैसे प्रभाव होता है? सांख्यकार इसकी व्याख्या करता है। वह कहता है कि जैसे मणि के समीप कुसुम ले-आने से उसका रंग मणि में भी दिखाई देने लगता है, यही जीवात्मा की बात है।

इन्द्रियाँ जीवात्मा के आदेश पर कार्य करती हैं और जीवात्मा ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान के आश्रय कार्य करने को कहता है। सांख्यकार कहता है कि कभी यह देखा जाता है कि इन्द्रियाँ स्वतः ऐसे कार्य करने लगती हैं कि वे ज्ञानेन्द्रियों से देखे परिणाम नहीं कहे जा सकते। ऐसे अवसरों पर यह मानना होता है कि पूर्व-जन्म के कर्म का फल प्रकट होने लगा है। जैसे बछड़े को देख गाय के स्तनों से दूध टपकने लगता है, यही बात इन्द्रियों की है। पूर्व-जन्म के अदृष्ट के फलीभूत होने पर इन्द्रियाँ स्वतः कार्य करने लगती हैं।

करण तेरह हैं। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं। इसका अर्थ है कि इन्द्रियों के अतिरिक्त भी दो करण हैं। अन्य भाष्यकारों से इस विषय में यह मतभेद हैं कि मन और बुद्धि इन्द्रियाँ नहीं, वह इसी सूत्र के आधार पर है। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवीं आभ्यन्तरिक इन्द्रिय। हम पहले बता चुके हैं कि आभ्यन्तरिक इन्द्रिय अहंकारों की उपज है। परन्तु मन और बुद्धि अहंकारों की उपज न होने से इन्द्रियाँ नहीं। अतः अन्तःकरण इन्द्रियों की भाँति कोई कला है जो सब इन्द्रियों का संगम-स्थान है। मन और बुद्धि दोनों पृथक् हैं, परन्तु करण तो वे भी हैं। करण से अभिप्राय है जीवात्मा के हथियार, अर्थात् जीवात्मा के पास अपना कार्य करने के लिए तेरह हथियार हैं—दस इन्द्रियाँ, ग्यारहवीं आभ्यन्तरिक इन्द्रिय और बारहवाँ मन तथा तेरहवीं बुद्धि। करण कुल्हाड़े की भाँति हथियार हैं। एक अन्य उदाहरण भी दिया है—जैसे मजदूरों से काम लेनेवाला चौधरी होता है, इसी प्रकार ग्यारह इन्द्रियों से काम लेनेवाला मन है। करणों में मन चौधरी है और ग्यारह इन्द्रियाँ भृत्यों की भाँति हैं। ये सब-के-सब जीवात्मा के स्वामित्व में हैं।

जैसे भृत्यों से नियमपूर्वक काम कराने के लिए चौधरी नियुक्त होता है, वैसे ही इन्द्रियों को नियम से रखने के लिए मन होता है। मन अव्यभिचारी (नियत सम्बन्ध रखने वाला) है।

यह सम्पूर्ण संस्कारों का आधार है। आधार से अभिप्राय है जो रहने अथवा रखने का स्थान हो। जो कुछ भी मनुष्य देखता, सुनता तथा समझता है, वह मन पर अंकित रहता है। मन पर अंकित बातें ही संस्कार होते हैं। यह मन का दूसरा कार्य है। प्रथम था इन्द्रियों का मुख्य (मुखिया) चौधरी होने का। मन का दूसरा कार्य है संस्कार संचय करने का। इस कारण भी यह मुख्य है। स्मृति और अनुमान करने से भी यह मुख्य पद का अधिकारी है।

३. आत्म तत्त्व अधिकरण (२-४४ से २-४७ तक)

मन जो कुछ भी करता है, स्वयं नहीं करता। यह प्रकृति का एक रूपान्तर (परिणाम) होने के कारण जड़ है। यह सब कारणों में प्रधान अपने गुणविशेषों के कारण है। परन्तु ये गुणविशेष भी स्वतः पालन नहीं कर सकता। सम्पूर्ण करण जीवात्मा के अर्जित कर्मों के फल-स्वरूप ही कार्य करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को उसके अंग-प्रत्यंग उसके पूर्व-जन्म के कर्मों से मिलते हैं। अतः इस जन्म के कर्म भी पूर्व-जन्म के कर्मों से ही प्रेरणा पाते हैं। संसार में भी यही देखा जाता है कि हथियार (करण) कार्य करते हैं। काम करनेवाला स्वतः बिना हथियारों के कार्य नहीं करता, यद्यपि हथियारों में कार्य कर सकने का सामर्थ्य रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धि कर्मों को दिशा देती है। ये दैनिक जीवन-यापन के कर्मों में होता है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे हैं जो बुद्धि का विषय नहीं होते। कभी बुद्धि का प्रयोग उनमें किया भी जाता है तो उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। वे कर्म पूर्व-जन्म के कर्म-फल होते हैं।

ये सब युक्तियाँ और उनसे निकाले गए निष्कर्ष संसार का व्यवहार देखकर ही निष्पन्न हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १ ॥

पदच्छेद—विमुक्त-मोक्षार्थम्, स्वार्थम्, वा, प्रधानस्य ।

अर्थात्—विमुक्त के मोक्ष-प्राप्ति के लिए अथवा स्वार्थ (स्व-सुख) के लिए प्रधान (प्रकृति की प्रवृत्ति है)।

विमुक्त का अभिप्राय है, वह जो प्रकृति से मुक्त होने की इच्छा रखता है, अथवा जो मुक्त हो सकता है। मुक्त वही होता है जो बन्ध की अवस्था में है। वही मुक्त होने की इच्छा करेगा।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा जो प्रकृति नहीं है, प्रकृति के अतिरिक्त होता है। परमात्मा के अतिरिक्त दो पदार्थ हैं—प्रकृति और जीवात्मा। सूत्रकार का विमुक्त शब्द से अभिप्राय है जीवात्मा जो मुक्त होना चाहता है।

प्रकृति मुक्त नहीं होती। वह किंससे मुक्त होगी? किसी से भी नहीं। जीवात्मा ही, जब यह बन्ध अनुभव करता है, तब मुक्त नहीं होता। उस बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता है। इन दोनों के अतिरिक्त परमात्मा है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त माना जाता है, अर्थात् वह सदा ही मुक्त (अलिप्त) रहता है।

इस प्रकार केवल जीवात्मा ही है जो मुक्त होने की अभिलाषा कर सकता है। इसी कारण उसे विमुक्त कहा है अर्थात् मुक्ति की इच्छा करनेवाला है।

स्वार्थ का अर्थ है अपने प्रयोग के लिए। यहाँ अभिप्राय है प्राणी (मनुष्य) के सुख-लाभ के लिए।

'प्रधानस्य' से अभिप्राय है—प्रकृति की। प्रकृति की क्या? प्रकृति के कार्य का प्रयोजन है। प्रकृति का कार्य है कार्य-जगत्।

अतः सूत्रार्थ बनता है—प्रकृति के कार्य का प्रयोजन पुरुष अर्थात् जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त कराना है अथवा इसको सुख प्राप्त कराना है।

कुछ-एक का कहना है कि जीवात्मा अज्ञान से अथवा किसी भी अन्य कारण से, प्रकृति से मुक्त होने की इच्छा नहीं रखता, इसीलिए विमुक्त का अर्थ जीवात्मा नहीं हो सकता। इसका अर्थ परमात्मा लेना चाहिए। यह युक्ति ठीक नहीं है। परमात्मा तो प्रकृति के सहयोग के बिना भी मुक्त है। इस कारण 'प्रधानस्य' पद होने के कारण सूत्रकार का अभिप्राय परमात्मा नहीं हो सकता।

साथ ही जीवात्मा कितना भी प्रकृति में लिप्त हो, तब भी उसमें बन्धनों से मुक्त होने की अभिलाषा देखी जाती है। कार्य-जगत् का मनुष्य के लिए सबसे बड़ा बन्ध पृथिवी के साथ इसका बँधा रहना है। शरीर में बँधा होने से जीवात्मा भी पृथिवी को छोड़ नहीं सकता। यह बन्धन भू-आकर्षण का है। मनुष्य इस बन्ध को भी तोड़ने का आदि-काल से यत्न करता रहा है। वह ऊँचे-ऊँचे मीनार बनाकर, हवाई जहाज़ बनाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अब तो चाँद तथा अन्तरिक्ष में उड़ान भरकर इस भू-आकर्षण के बन्ध का विरोध करने का यत्न कर रहा है।

इसी प्रकार बिना वायु के इसका जीवन असम्भव है और वह इसको भी प्रकृति के अतिरिक्त उपलब्ध करने का उपाय करता रहता है।

जीवात्मा मनुष्य-शरीर में रहता हुआ भी प्रकृति द्वारा निर्मित सीमाओं को तोड़ने का यत्न करता रहता है। तनिक विचार करें तो पता चलेगा कि जीवात्मा की प्रकृति से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा सदा बनी रहती है। अतः वह प्रकृति का भोग करता हुआ भी, इसकी सीमाओं को पार करने का यत्न करता रहता है।

जीवात्मा भी मुक्त (प्रकृति के बन्धन से मुक्त) होने की अभिलाषा सिद्ध करने के लिए अथवा उसके सुख-भोग के लिए प्रकृति का कार्य है।

प्रकृति का कार्य आगे चलकर विस्तार से वर्णन किया जाएगा। सांख्याचार्य ने इसी प्रयोजन से सांख्य दर्शन का दूसरा अध्याय कहा है। इस अध्याय के आरम्भ में ही वह अपनी प्रतिज्ञा वर्णन करता है और कहता है कि प्रकृति जीवात्मा के लिए दो प्रकार के कार्य करती है। वह इसे अपने ही बन्ध से मुक्त होने में सहायक होती है और जीवात्मा जब तक प्रकृति से युक्त रहता है उसको सुख-भोग की प्राप्ति कराती रहती है।

प्रकृति किस प्रकार मोक्ष-साधन में सहायक होती है? यह बताना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है।

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

पदच्छेद—विरक्तस्य, तत्सिद्धेः।

अर्थात्—विरक्त का अर्थ है जिसको वैराग्य हो गया है, अर्थात् जिसे प्रकृति के गुणों की तृष्णा न रही हो। प्रकृति के गुण हैं सत्त्व, रजस् और तमस्। इन गुणों से ही प्रकृति के पदार्थों से रस प्राप्त होता है। जिसे इन गुणों के रसास्वादन की इच्छा न रही हो, वह विरक्त कहलाता है।

तत्सिद्धि से अभिप्राय है मोक्ष की सिद्धि अर्थात् प्राप्ति।

अतः सूत्रकार कहता है कि विरक्त के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि मोक्ष-प्राप्ति में प्रकृति का सहयोग है। यह कैसे होता है? प्रकृति का सहयोग प्रकृति से लिप्तता त्यागने में कैसे होगा? इसको तनिक समझने की आवश्यकता है।

एक उदाहरण लें। अन्न का प्रयोग शरीर के पालन के लिए होता है। इस प्रयोग का सम्बन्ध अन्न के स्वाद खट्टा, मीठा, नमकीन, चटपटा इत्यादि से नहीं है। फिर भी मनुष्य दो प्रयोजनों से भोजन करता है—इसके स्वाद के लिए और इससे जीवन-शक्ति ग्रहण करने के लिए। जब अन्न का प्रयोग इसके रसों के स्वाद का विचार छोड़कर किया जाएगा तो भोजन करनेवाला मनुष्य विरक्त माना जाएगा। उसको प्रकृति के गुणों की तृष्णा नहीं रही—ऐसा माना जाएगा।

शरीर में शक्ति की प्राप्ति भी तो दो प्रयोजनों के लिए की जाती है। बल का प्रयोग भोगों को अधिक योग्यता से तथा अधिक काल तक प्राप्त करने के लिए भी किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। बल एक दूसरे प्रयोजन से भी प्राप्त किया जाता है। यह प्रयोजन है इसका उन उपायों में प्रयोग करना जिनसे श्रेय की आशा की जा सके। योगाभ्यास, यज्ञ इत्यादि, भक्ति-पूजा के लिए। ये सब प्रयोग मुक्ति-प्राप्ति की ओर ले-जाते हैं। इसी प्रकार अन्य जो भी प्रकृति की मनुष्य को देन है, वह भी दो प्रकार के प्रयोजनों के लिए हो सकती है—स्वार्थ के लिए और प्रकृति से मुक्ति प्राप्त करने के लिए।

जो अन्न के रस का विचार छोड़कर इसे शक्ति-अर्जन के लिए ग्रहण करता है और फिर शक्ति-अर्जन कर इसे यज्ञरूप में प्रयोग करता है, वह विरक्त कहलाता है।

अतः, सूत्रकार का कहना है कि विरक्त के लिए प्रकृति का प्रयोजन मोक्ष प्राप्त कराना है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति मोक्ष भी प्राप्त कराती है।

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—न, श्रवण-मात्रात्, तत्सिद्धिः, अनादि-वासनायाः, बलवत्त्वात्।

अर्थात्—सुनने मात्र से उसकी सिद्धि नहीं, अनादि वासना के बलवान् होने के कारण।

सुनने मात्र से अभिप्राय है वैराग्य का घोष और गुण सुन लेने से, परन्तु रसों की तृष्णा मिटाने के लिए प्रयत्न न करने से। किन प्रयत्नों से रसास्वादन की तृष्णा मिट सकती है? यह सांख्यदर्शनाचार्य ने नहीं बताया। क्योंकि यह इसका विषय नहीं है। यह योग- दर्शन का विषय है। योग दर्शन में वैराग्य के विषय में बताया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

(यो० द० १-१५)

दृष्ट-अनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य = दृष्ट और अनुश्रविक विषयों में जिसकी कोई तृष्णा नहीं है—उसका वशीकार नामवाला वैराग्य है।

अभिप्राय यह है कि देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त को वश में करनेवाली स्थिति का नाम वैराग्य है। सरल भाषा में यह भी कहा जा सकता है कि मन पर अंकित स्मृतियों के विषय में जब तृष्णा न रहे, चित्त उन स्मृतियों से मुक्त हो जाए तो वैराग्य हो गया कहा जाता है।

वासनाओं को अनादि लिखा है। यह प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के भोग की इच्छा का नाम है। प्रकृति के गुण प्रकृति के साथ रहते हैं और प्रकृति गुणों-सहित अनादि है, अतः गुणों के भोग भी अनादि हैं।

भोगों की इच्छा ही वासना है। इच्छा जीवात्मा का एक लिंग है। यह जीवात्मा के साथ रहती है। अतः यह भी अनादि है। इसी कारण भोगों की इच्छा अर्थात् वासना भी अनादि मानी गई है। इच्छा का लक्ष्य बदला जा सकता है। अतएव वासनाएँ अनादि होते हुए भी, इनकी इच्छा नहीं भी की जा सकती। इच्छा की दिशा भोगों की ओर से हटाकर मोक्ष की ओर ले-जाना ही वैराग्य है।

वासना अर्थात् प्रकृति के गुणों का रस अति बलवान् होता है। बिना इससे चित्त को हटाए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूत्रार्थ यह है कि वैराग्य के विषय में सुन लेना अथवा समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है। वैराग्य के लिए इच्छा की दिशा बदलना आवश्यक है। इसके लिए भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है। वासनाएँ बलवती होती हैं। इस कारण इनसे छुटकारा पाने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—बहुभृत्यवत्, वा, प्रत्येकम्।

अर्थात्—भृत्य का अर्थ है भरणीय व्यक्ति, अर्थात् जो पालन-पोषण किए जाने योग्य है, जिसका पालन-पोषण किया जाता है। ऐसे बहुत हैं। प्रत्येक का (पालन-पोषण होता है)।

कौन पालन-पोषण करता है? प्रकृति। इसी का वर्णन हो रहा है। प्रथम सूत्र (२-१) में ही यह बताया गया है कि प्रकृति के दो कार्य हैं—मोक्ष के लिए जीवात्मा को सुविधाएँ देना तथा उसके सुख-भोग के लिए सुविधाएँ उपस्थित करना। अतः इस सूत्र में भी प्रकृति का ही उल्लेख है। कहा है कि प्रकृति बहुत बड़ी संख्या में जीवात्माओं को भोग उपलब्ध कराती है जैसे भृत्यों को कराया जाता है।

इस सूत्र का एक अन्य अर्थ भी किया जा सकता है। भृत्य का अर्थ जीवात्मा नहीं, वरन् वासनाएँ हैं। वासनाएँ प्रकृति की भृत्य हैं और प्रकृति अपने गुणों से कामनाओं को उत्तेजित करने में संलग्न रहती है। वत् का अर्थ भाँति भी है और 'वाला' भी है। वासना वाले प्रत्येक को प्रकृति भोग-सामग्री देती है।

'वा' का अर्थ अथवा है। इसका प्रयोग वर्तमान सूत्र का पूर्व-सूत्र से सम्बन्ध बताने के लिए है। अतः दोनों सूत्रों को इकट्ठा पढ़ें तो वर्तमान सूत्र का दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा। तब दोनों सूत्रों के अर्थ इस प्रकार बनेंगे—

अनादि वासनाएँ प्रबल होने के कारण श्रवण-मात्र से वैराग्य नहीं हो सकता, अथवा प्रकृति प्रत्येक वासना का पालन-पोषण भृत्यवत् करती रहती है। इस कारण वैराग्य अति दुस्तर है।

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥

पदच्छेद—प्रकृति-वास्तवे, च, पुरुषस्य, अध्यास-सिद्धिः।

अर्थात्—और प्रकृति के वास्तविक होने पर पुरुष को अध्यास अर्थात् भ्रम होता है।

क्या भ्रम उत्पन्न होता है? यही कि वासनाएँ कल्याणकारी हैं, वे स्थायी हैं, वे चित्त हैं, यह भ्रम हो जाता है। जब हम यह समझ लेते हैं कि प्रकृति वास्तव में है और इसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण भी हैं, तब भ्रम होता है कि रसों का स्वाद हितकर है एवं निरस्थायी है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होनेवाले रसों की प्राप्ति की इच्छा को वासना कहते हैं। वासनाओं से इच्छा को बदलकर मोक्ष-प्राप्ति की ओर ले-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना वैराग्य है। ये वासनाएँ बहुत हैं और प्रत्येक से वैराग्य की प्राप्ति चाहिए।

यहाँ यह कहा गया है कि प्रकृति (अभिप्राय यह कि उसके गुण और वासनाएँ) वास्तविक है, अतः उसके रसों में मनुष्य फँस जाता है। यही भ्रम है।

वासनाएँ तो भ्रम नहीं हैं। ये वास्तविक हैं। भ्रम यह हो जाता है कि उनमें जो सुख प्राप्त होता है, वह सत्य और कल्याणकारी है। यह भ्रम प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को समझने से निवारित हो जाता है।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि प्रकृति के वास्तविक होने से उसके गुणों का रसास्वादन भी वास्तविक है और कुछ स्थायी भी है। इस पर भी ये बहुत देर तक रहने वाले नहीं और न ही उनसे कल्याण होता है।

अध्यास का अर्थ भ्रम है। परन्तु कुछ भाष्यकार यह समझते हैं कि प्रकृति की अवास्तविकता के कारण अचेतन-चेतन का भ्रम हो रहा है। हम समझते हैं कि सूत्रकार का अभिप्राय यही है कि वासनाओं को कल्याणकारी समझने का भ्रम होता है। यह भ्रम प्रकृति के वास्तविक होने के कारण है।

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—कार्यतः, तत्-सिद्धेः।

अर्थात्—(प्रकृति के) कार्य से उसकी सिद्धि हो जाने से प्रकृति के कार्य (महदादि) के कारण उस (भ्रम) का होना (सिद्ध होता है)।

यह हम बता चुके हैं कि महदादि में त्रिगुणों का कार्य बहिर्मुख हो जाता है। इससे उनका प्रभाव पुरुष पर भी होता है। इसी कारण कार्य-जगत् में रस अनुभव होता है, जिससे पुरुष को भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि यह संसार सत्य है, सुखों का भण्डार है, फिर भी यह भययुक्त है। उसका कारण यह है कि कार्य-जगत् के रस स्थायी सुख नहीं हो सकते। इनका सुख समाप्त होनेवाला है और फिर दुःखों की सृष्टि होने लगती है।

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—चेतनोद्देशात्, नियमः, कण्टक-मोक्षवत्।

अर्थात्—चेतन के कथन से यह नियम है, काँटों से बचने के समान।

यहाँ चेतन से अभिप्राय है सम्वेदनायुक्त तत्त्व, अर्थात् सुख-दुःख को अनुभव करनेवाला, सुख को पसन्द करनेवाला और दुःख से द्वेष करनेवाला। यह तत्त्व जीवात्मा है।

सूत्रकार कहता है कि पुरुष (जिसका वर्णन सूत्र २-५ में आया है) को प्रकृति के वास्तविक होने पर भ्रम हो जाता है। भ्रमवश वह उसके गुणों के स्वाद को स्थायी समझ उनसे मोह करने लगता है। फिर सूत्र २-६ में कहा है कि प्रकृति का जब कार्य-निर्माण होता है तो भ्रम होता है।

अब इस सूत्र में कहा है कि पुरुष चेतन है। जब वह भ्रम दुःखदायी होता है तो सम्वेदना, उसके नियम होने से, वह उस दुःख का निवारण ऐसे करना चाहता है जैसे काँटों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दूर कर उनसे मुक्ति प्राप्त की जाती है।

जिस जीवात्मा को ज्ञान हो जाए कि कार्य-जगत् के गुण सुखदायी एवं दुःखदायी भी होते हैं, जैसे वन में पुष्प भी होते हैं और काँटे भी, वह पुष्पों को चुनने के लिए काँटों को दूर करना चाहता है। यह चेतन का नियम है। वह जब भी और जहाँ भी दुःख अनुभव करता है, काँटों की भाँति उसे दूर करने का यत्न करता है।

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अन्योयोगे, अपि, तत्सिद्धिः, न, आञ्जस्येन, अयोदाहवत्।

अर्थात्—दूसरे (गुणों) के योग होने पर ही सीधे कथन से (अर्थात् निस्सन्देह भाव से कहने पर) गर्म लोहे से जलने के समान उन (वासनाओं और भ्रम) की सिद्धि नहीं होती।

दूसरे से अभिप्राय है सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के संयोग से।

ऊपर सूत्रों में यह कहा है कि वासनाएँ अति बलवती होती हैं और वासनाएँ प्रकृति के गुणों से सिद्ध होती हैं। इन्हीं से अध्यास (भ्रम) उत्पन्न होता है। इनको चेतन पुरुष (चेतना के नियम से) दुःख होने पर उसे हटाने का यत्न करता है जैसे काँटों को दूर करने का यत्न करता है।

इस सूत्र में सूत्रकार यह बता रहा है कि गुणों के योग से ही वासनाएँ बनती हैं। यह ऐसे ही स्पष्ट है जैसे अग्नि से लोहा गर्म होकर शरीर को जलाता है। शरीर को जलानेवाला लोहा नहीं है, वरन् वह अग्नि है जो लोहे को गर्म करने में प्रयुक्त हुई है।

इसी प्रकार वासनाएँ स्वतः कष्ट देनेवाली नहीं। वासनाएँ गुणों के योग से कष्ट अथवा सुख-दुःख प्राप्त कराती हैं। लोहे में अग्नि के समान, वासनाओं में गुणों की अनुभूति ही सुख-दुःख देनेवाली होती है। गुणों से वासनाएँ और वासनाओं से सुख-दुःख होता है। वास्तव में प्रकृति के गुण हैं जो सुख-दुःख देनेवाले हैं। 'आञ्जस्य' का अभिप्राय है निस्सन्देह।

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—राग-विरागयोः, योगः, सृष्टिः।

अर्थात्—राग और विराग का संयोग सृष्टि है।

राग आकर्षण का नाम है, विराग विकर्षण को कहते हैं। इन दोनों के इकट्ठे काम करने को इनका संयोग कहते हैं। इससे ही प्रकृति के सब रचना-कार्य चलते हैं।

रसायनशास्त्र का एक साधारण उदाहरण लिया जा सकता है।

जैसे हाइड्रोजन को हवा में जलाते हैं तो जल बनता है, इसमें जो कुछ होता है वह रासायनिक चिह्नों में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—

$$O_2 + H_2$$
$$= O'' + O'' + 2(H^+ + H^\circ)$$
$$= 2[O'' + 2H^\circ]$$
$$= 2[H_2O]$$

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन चिह्नों में O^{--} का अभिप्राय है ऑक्सीजन। धन-आवेश (++) के साथ O तथा H° का अभिप्राय है हाइड्रोजन ऋण-आवेश के साथ। धन-ऑक्सीजन के ऐटम तथा ऋण-हाइड्रोजन के ऐटम के मेल से जल की सृष्टि होती है।

इस क्रिया में पहले विकर्षण हुआ है, फिर आकर्षण। जब हाइड्रोजन गैस को दियासलाई दिखाई जाती है तो जलती हुई दियासलाई हाइड्रोजन का तापक्रम ऊँचा कर देती है जिससे अणु में दो-दो ऐटम विकर्षण से एक-दूसरे से अलग-अलग हो जाते हैं। तदनन्तर हाइड्रोजन के ऐटम और ऑक्सीजन के ऐटम में आकर्षण होता है और जल की सृष्टि होती है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की सृष्टि में पहले विकर्षण से विराग (वियोग) होता है, फिर परस्पर भिन्न आवेशवाले ऐटम में राग (संयोग) होता है।

यही सूत्रकार ने कहा है कि सृष्टि-रचना में राग-विराग का संयोग कार्य करता है।

यह हम बता चुके हैं कि आकर्षण तथा विकर्षण प्रकृति के गुणों के कारण है। इस आकर्षण-विकर्षण से ही प्रकृति में परिवर्त्तन होते हैं और उनसे प्रकृति के कार्य होते हैं।

अतः यहाँ इस सूत्र में राग-विराग का अर्थ आकर्षण-विकर्षण ही है। इन्हीं आकर्षण-विकर्षण से महत् से अहंकार बनते हैं और इन्हीं से एक प्रकार के अहंकार दूसरे प्रकार के अहंकारों के चारों ओर भ्रमण करने लगते हैं और परिमण्डल बन जाते हैं।

इससे अगल-सूत्र इसी प्रसंग में है—

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥ १० ॥

पदच्छेद—महदादिक्रमेण, पञ्चभूतानाम्।

अर्थात्—महदादि के क्रम में ही पंच महाभूतों की (सृष्टि होती है)।

हमने पूर्व के सूत्र में राग-विराग का अर्थ आकर्षण-विकर्षण किया है। इस सूत्र में बताया है कि उस आकर्षण-विकर्षण से ही महद् आदि क्रम से पंच महाभूत तथा संसार के समस्त पदार्थ बनते हैं।

इस प्रक्रिया का वर्णन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) परमात्मा के तेज से परमाणुओं के गुण बहिर्मुख हो जाते हैं। यह सूत्र १-६४ में बताया है। ये बहिर्मुख हुए गुण आकर्षण-विकर्षण करने लगते हैं। यह हमने सूत्र १-६३ के भाष्य में चित्र-सहित दिखाया है। अहंकारों के बनने तक वहाँ वर्णन है।

(२) अहंकारों के उपरान्त इन गुणों के आकर्षण-विकर्षण से तैजस अहंकार भूतादि और वैकारी अहंकारों के चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं।

(३) इन परिमण्डलों से पंच महाभूतों की सृष्टि होती है। पंच महाभूतों के विषय में हमने व्याख्या से सूत्र १-६२ के भाष्य में लिखा है।

आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

पदच्छेद—आत्मार्थत्वात्, सृष्टेः, न, एषाम्, आत्मार्थः, आरम्भः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—आत्मा (जीवात्मा) के प्रयोजन के लिए सृष्टि का होने से इसका आरम्भ अपने महदादि के लिए नहीं है।

'आत्मार्थत्वात्' का अर्थ जीवात्मा के प्रयोजन के लिए किया है। पूर्व-सूत्र में महदादि क्रम से सृष्टि-रचना का उल्लेख है। वह क्रम क्यों रचा गया? स्वाभाविक प्रश्न था।

अब तक हम स्वीकार कर चुके हैं कि सृष्टि की रचना करनेवाला कोई चेतन है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उपस्थित होता है कि उसने सृष्टि की रचना क्यों की? परमात्मा ने अपने लिए नहीं की। जो पूर्ण-काम अर्थात् जिसकी कामनाएँ पूर्ण हैं, उसे सृष्टि-रचना से कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। ऐसा ही अनुमान हो सकता है।

ये परिवर्तन प्रकृति के प्रयोग के लिए भी नहीं हो सकते। प्रकृति जड़ है, सम्वेदना-रहित है।

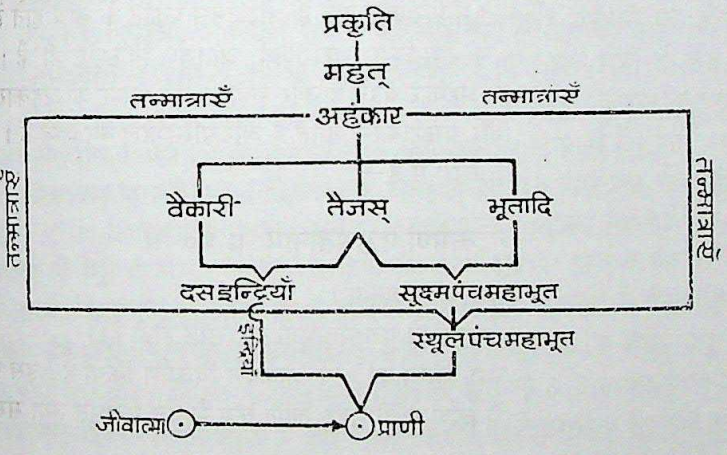

परमात्मा और प्रकृति के अतिरिक्त भी यहाँ एक अन्य तत्त्व है। वह चेतन (सम्वेदनामय) भी है। अतः सूत्रकार का कहना है कि इस चेतन-तत्त्व (जीवात्मा) के लिए रचना हुई है। वह चेतन-तत्त्व सांख्य के अनुसार बहुत हैं और प्रत्येक प्राणी में एक-एक घटक उस तत्त्व का रहता है। वह आम-तत्त्व कहलाता है और प्रकृति का भोग करता है।

अतः, सूत्रार्थ इस प्रकार बनता है—महदादि क्रम में बननेवाले पदार्थ जीवात्मा के प्रयोग के लिए हैं। इसके बनने में महदादि पदार्थों का अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—दिक्कालौ, आकाशादिभ्यः।

अर्थात्—दिक् और काल आकाशादि से उत्पन्न हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिक् और काल काल्पनिक पदार्थ हैं। कल्पना तब तक नहीं हो सकती जब तक कल्पना करने के लिए कोई आरम्भिक बिन्दु न माना जाए।

कोई-कहे पूर्व अथवा पश्चिम की दिशा और अनन्त व्योम में वह खड़ा हो, तब उसकी पूर्व-पश्चिम की कल्पना अर्थ-हीन हो जाएगी, जब तक वह यह न बताए कि किसके पूर्व में अथवा किसके पश्चिम में। अर्थात दिशा की कल्पना करने के लिए कोई स्थिर बिन्दु होना चाहिए, जिसके ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण अथवा दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर कहा जा सके।

यही बात काल की है। काल की गणना आरम्भ करने के समय भी कोई आरम्भिक बिन्दु होना चाहिए, तब ही यह कहा जा सकता है कि आज कितना काल व्यतीत हो चुका है।

व्योम में, जो अनन्त है और काल, जिसका आदि-अन्त नहीं है, दोनों की गणना करने के लिए कोई आरम्भ करनेवाला बिन्दु होना चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि काल और दिशा, दोनों की कल्पना तब से आरम्भ हुई, जब से आकाशादि का निर्माण हुआ। आकाशादि का अभिप्राय पंच महाभूत हैं। जब पंच महाभूत बने तो जिस स्थान पर पंच महाभूत बने, वहाँ से दिशा और जिस समय बने, उससे काल की गणना आरम्भ हुई।

पंच महाभूतों के बनने को ब्रह्म-दिन का आरम्भ कहते हैं। पंच महाभूतों के प्रकृति में लय होने को ब्रह्म-रात्रि का आरम्भ कहते हैं। ब्रह्म-दिन तथा ब्रह्म-रात्रि की सन्धि को मन्वन्तर और देव-वर्ष इत्यादि की गणना का आरम्भिक बिन्दु माना जाता है।

दिशा की कल्पना भी इस प्रकार की जाती है। पृथ्वी पर दिशा सूर्य को देखकर निश्चय की जाती है, काल भी सूर्योदय से निश्चय किया जाता है। अन्तरिक्ष में दिशा का निश्चय ध्रुव नक्षत्र के अनुसार किया जाता है और जगत्-रचना में काल की गणना, आकाशादि पंच महाभूतों के बनने से की जाती है।

पंच महाभूत परिमण्डलों के भिन्न-भिन्न घनत्व के समूह होते हैं। ये ही स्वरूपवान् हैं और इन्हीं को देखकर दिशा तथा काल का ज्ञान होता है।

पंच महाभूतों के बनने से पहले ही गति तो बन चुकी थी। गुणों के बहिर्मुख होने पर आकर्षण-विकर्षण से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, और जब नियमित गति उत्पन्न होती है तो स्वरूप बनता है।

वैशेषिक दर्शन में इस विषय पर एक सूत्र में कहा है—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ।

—वै० द० ४-१-७

महत् से सात्त्विक (अहंकार) आदि द्रव्य बनने पर रूप का होना नहीं, क्योंकि वायु (गति) का अभाव रहता है।

वायु गति का सूचक है। परिमण्डल में अहंकार चक्राकार गति में घूमने लगते हैं। चक्र के केन्द्र में वैकारिक और भूतादि अहंकार हो जाते हैं और उनके चारों ओर घूमने वाले तैजस अहंकार होते हैं। इनके चक्कर काटने से आकार (रूप) बनता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूत्रकार का भाव यह है कि परिमण्डल बनने पर जब आकाशादि महाभूत बने तो दिशा और काल का ज्ञान होने लगा।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—अध्यवसायः, बुद्धिः।

अर्थात्—निश्चय (करनेवाली) बुद्धि है।

इसका अभिप्राय यह है कि निश्चय करनेवाली बुद्धि ही है। यहाँ यह नहीं बताया कि बुद्धि का उत्पत्ति-स्थान अर्थात् रचना-कार्य में इसका क्रम कहाँ है। परन्तु अन्य भाष्यकारों ने इसे मन ही माना है।

श्री उदयवीर शास्त्री इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'सांख्य में महत् तत्त्व का अपर नाम बुद्धि है।' अपर से अभिप्राय है दूसरा नाम।

इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि ग्यारहवीं इन्द्रिय क्या है? मन और बुद्धि क्या ग्यारहवीं इन्द्रिय है? ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सूत्र १-७१ में कहा है कि प्रकृति के परिणाम-क्रम में महत् प्रथम क्रम है और यही मन है। हम यह बता चुके हैं कि इसी को बुद्धि कहा है, और इन्द्रियों के विषय में कहा है कि (सूत्र १-७२) 'चरमोहंकार' अर्थात् महत् के उपरान्त अहंकार बनते हैं और १-६३ में कहा है कि 'तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्। अर्थात् अहंकारों का कार्य (अगला क्रम) है। इन्द्रियाँ अहंकारों से बनती हैं।

इस कारण मन और बुद्धि आभ्यन्तरिक इन्द्रियाँ नहीं। आभ्यन्तरिक इन्द्रिय जिसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहते हैं, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के संयोग-स्थान को कहा गया प्रतीत होता है।

हमारा मत है कि सांख्य भीतर की इन्द्रियों से मन-बुद्धि नहीं मानता। उसका इससे अभिप्राय मन-बुद्धि से नहीं है। यहाँ बताया तो नहीं, परन्तु सम्भावना यह प्रतीत होती है कि सांख्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, दोनों के ही दो-दो भाग करता है—बाहरी अर्थात् जिनसे ये बाहर के संसार से सम्पर्क में आती हैं, और भीतरी जहाँ ये मन से सम्पर्क में आती हैं। मन और बुद्धि पर्यायवाचक हैं, परन्तु ये भीतरी इन्द्रियाँ नहीं हैं। इनमें भेद कारण-कार्य का है।

सांख्य की कल्पना में अन्तःकरण आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है जिसे हमने कर्म और ज्ञानेन्द्रियों का वह अंश माना है जो मन और बुद्धि के सम्पर्क में आता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य की दृष्टि से बाहर और भीतर का अभिप्राय है इन्द्रियों का वह भाग जो बाहर जगत् के पदार्थों के सम्पर्क में आता है। बाह्य इन्द्रियाँ और वह भाग जो मस्तिष्क में जाकर मन और बुद्धि के सम्पर्क में आता है, वह आभ्यन्तरिक ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन दोनों की उत्पत्ति अहंकारों से होती है।

अतः निश्चय करनेवाली कला बुद्धि है और वही प्रकृति का आद्य कार्य अर्थात् महत् का अंश है। इसे ही मन कहा है। हमारा मत है कि यह अन्तः-करण नहीं। वह पृथक् है।

हमारा मत है मन और बुद्धि भी तीन-तीन अथवा पाँच-पाँच परमाणुओं के संयोग हैं। मन रजस्-आवेश रखता है और बुद्धि सत्त्व-आवेश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्कार्यं धर्मादि ।। १४ ।।

पदच्छेद—तत्-कार्यम्, धर्मादि ।

अर्थात्—उसका कार्य है धर्मादि ।

अभिप्राय यह है कि उस (बुद्धि) का कार्य है धर्म-अधर्म में निश्चय करना। करणीय और अकरणीय में चयन करना—बुद्धि का कार्य है। बुद्धि एक तराजू है तथा कम्पास की भाँति का कल है जो पदार्थों तथा कार्यों का मूल्यांकन अथवा मार्गदर्शन का कार्य करता है।

तराजू और कम्पास बिगड़ भी सकते हैं, अथवा विकृत हो मिथ्या मूल्य एवं दिशा-दर्शन कराने लगते हैं। इसी प्रकार यदि बुद्धि भी विकृत हो जाए तो यह धर्म-अधर्म के निर्णय करने में भूल कर सकती है। परन्तु निर्णय करनेवाला यन्त्र यही है।

बुद्धि किस प्रकार निर्मल और कार्य-कुशल हो सकती है? यहाँ नहीं कहा गया। यहाँ तो यही बताया है कि यह धर्म-अधर्म में निर्णय करनेवाला यन्त्र है। बुद्धि की मलिनता का कारण अगले सूत्र में कहा है।

महदुपरागाद्विपरीतम् ।। १५ ।।

पदच्छेद—महत्, उपरागात्, विपरीतम् ।

अर्थात्—महत् से मोह (प्रभाव से बुद्धि) विपरीत (उचित से उलट) हो जाता है।

महत् से अभिप्राय महदादि क्रम के सब पदार्थों से है। इनके साथ मोह के कारण अथवा इनके प्रभाव के कारण बुद्धि विपरीत कार्य करने लगती है।

ऊपर हमने बताया है कि जब बुद्धि मलिन तथा अकुशल हो जाती है तो यह ग़लत मार्ग-दर्शन कराने लग पड़ती है। यहाँ इस सूत्र में बताया है कि महदादि के साथ मोह (प्रभाव) में फँसकर बुद्धि अधर्म का कार्य कराने लगती है। बुद्धि के विकृत होने अथवा अकुशल होने से अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझा जा सकता है। यही अभिप्राय है विपरीत से।

महदादि पदार्थों से मोह क्यों होता है? यह आगे बताया है।

अभिमानोऽहंकारः ।। १६ ।।

पदच्छेद—अभिमानः, अहंकारः ।

अर्थात्—अभिमान अहंकार है। अभिप्राय यह है कि अहंकार के संयोग से बुद्धि में अभिमान उत्पन्न होता है।

अहंकार भी परमाणुओं के संयोग हैं। अतः मित्र के संयोग से बुद्धि रजस् गुण वाली हो जाती है।

अब महदादि के उपरागों की व्याख्या होने लगी है। महद् का अगला परिणाम अहंकार है। अतः जब अहंकार है अर्थात् जब अहंकार से बुद्धि पर प्रभाव, संयोग होता है तो बुद्धि में अभिमान उत्पन्न होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिमान का अर्थ वही है जो सामान्य भाषा में लिया जाता है। अपने में किसी प्रकार की विशेषता का अनुभव करना अभिमान कहलाता है। यह बुद्धि के साथ अहंकार के संयोग से उत्पन्न होता है।

यह हमने प्रथम अध्याय में वर्णन किया है कि अहंकार तीन प्रकार के हैं—वैकारिक, तैजस और भूतादि।

वैकारि अहंकार है सत्त्व-आवेशवाला। हमारा मत है कि इसके बुद्धि से संयोग से बुद्धि श्रेष्ठ होती है।

इनसे उपराग (संयोग) होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषता का अनुभव होता है। वैकारिक के संयोग से बुद्धि सात्त्विकी, तैजस के संयोग से राजसी और भूतादि के संयोग से तामसी हो जाती है।

सांख्य की इसी बात का वर्णन भगवद्गीता में बहुत अच्छी प्रकार से किया गया है। वहाँ कहा है—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥ *(भ० गी० १८-२९)*

अर्थात्—बुद्धि का और धारणा शक्ति का भी विभागपूर्वक सम्पूर्णता से भेद तीन प्रकार के गुणों के कारण है।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि भी तीन प्रकार की हो जाती है—सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के कारण। यही बात सूत्र में कही है। अहंकार के (बुद्धि से योग) के कारण (उचित से विपरीत) अभिमान उत्पन्न होता है।

बुद्धि स्वयमेव तो सात्त्विक होती है परन्तु अहंकार (आपः) का संसर्ग होने पर उसकी छाया के अनुसार हो जाती है।

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्॥ १७॥

पदच्छेद—तत्कार्यम्, एकादशपञ्चतन्मात्रम्।

अर्थात्—उस (अहंकार) का कार्य है (ग्यारह इन्द्रियाँ) और पाँच तन्मात्रा।

ग्यारह इन्द्रियों में पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक् (वाणी उत्पन्न करने की शक्ति), हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ हैं; और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं कान, त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा और नासिका। ग्यारहवीं इन्द्रिय को हम आभ्यन्तरिक इन्द्रिय कहते हैं। दूसरे भाष्यकार मन कहते हैं।

ग्यारहवीं इन्द्रिय को मन मानने में हमारी आपत्ति यह है कि मन महत् का अंश है और यह ग्यारहवीं इन्द्रिय अहंकारों का कार्य है। अतः यह भी एक इन्द्रिय ही है जिसे हमने आभ्यन्तरिक इन्द्रिय (शरीर की भीतरी इन्द्रिय) माना है।

यह हम मानते हैं कि प्रायः सब-के-सब भाष्यकारों ने ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को माना है। परन्तु इसमें जो हमारी आपत्ति है उसका वर्णन हम सूत्र १-७१ के भाष्य में कर चुके हैं।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मन जो इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर कार्य करता है, उसके कारण ही यह भूल हो रही है। सांख्यदर्शन के सूत्र १-७१ के भाष्य में इस विषय को स्पष्ट किया जा चुका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—वैकृतात्, अहंकारात्, सात्त्विकम्, एकादशकम्, प्रवर्त्तते ।

अर्थात्—वैकृत (वैकारिक) अहंकार से सात्त्विक गुणवाली एकादश (इन्द्रियाँ) कार्य में प्रवृत्त होती हैं ।

वैकृत अहंकार का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने विकार को प्राप्त हुआ कहा है। हम उनका कथन अशुद्ध मानते हैं। श्री उदयवीर शास्त्री ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'सत्त्वगुण-प्रधान का नाम वैकृत है ।'

यह ठीक अर्थ है। हमने सूत्र १-६३ के भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि अहंकार तीन प्रकार के हैं और वैकारिक अहंकार वह है जिसमें सत्त्वगुण प्रधान होता है। वहाँ हमने सुश्रुत के प्रमाण से यह बताया है कि वैकारिक के साथ तैजस अहंकार के संयोग से ग्यारह इन्द्रियाँ कार्य करती हैं ।

यहाँ इस सूत्र में भी यही लिखा है कि वैकृत अर्थात् वैकारिक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं ।

यहाँ शब्द है 'प्रवृत्त होती हैं' । इसका अर्थ है कि इन्द्रियों का कार्य अहंकारों से होता है। इन्द्रियों के अंग-प्रत्यंग अहंकारों से नहीं बने। उदाहरण के रूप में आँखें हैं। एक आँख का गोलक, पलकें, सफ़ेद पर्दा, उसमें लचकदार शीशा और फिर चित्रपट, इनके अतिरिक्त चित्रपट का मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध है ।

सूत्रकार का कहना है कि ये सब अहंकारों से नहीं बने । अहंकार तो इन सब में हो रहे कार्य को करानेवाला है। ये शिरा और गोलक पंचभौतिक हैं ।

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९ ॥

पदच्छेद—कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः, आन्तरम्, एकादशकम् ।

अर्थात्—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवीं भीतरी इंद्रिय हैं ।

कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं—हाथ, पाँव, वाणी, पायु, उपस्थ । ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका । एक भीतरी इन्द्रिय है । ये ग्यारह हैं ।

हम यह ऊपर कह आए हैं कि भीतर इन्द्रिय से हम मन-बुद्धि आदि नहीं लेते। दस बाहरी इन्द्रियों का यह वह भाग है जो भीतर मन से सम्बन्धित होता है। यह इन्द्रियों का ही भीतरी भाग है। इस मत में हम कारण भी ऊपर वर्णन कर चुके हैं ।

आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ २० ॥

पदच्छेद—आहङ्कारिकत्वश्रुतेः, न, भौतिकानि ।

अर्थात्—अहंकार से उत्पन्न होना भूतों से (उत्पन्न हुई) नहीं श्रुति से ।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि श्रुति में भी यह उल्लेख है कि इन्द्रियाँ अहंकारों से उत्पन्न हुई हैं ।

श्रुति का अर्थ है वे ग्रन्थ जो किसी के द्वारा कहे जाने पर सुने गए। इनमें वेद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आते हैं। सांख्य में इस कथन से किस ग्रन्थ का अभिप्राय होगा—कहा नहीं जा सकता। परन्तु अनुमान से सूत्रकार उस श्रुति का ही कथन कर रहा है, जिसकी रचना सांख्य-सूत्र से पहले हुई है। अतः हमारा मत है कि सांख्यदर्शन में जहाँ-जहाँ भी श्रुति का कथन है, उससे उपनिषद् का अभिप्राय नहीं है। अधिकांश उपनिषदों का रचना-काल कपिल मुनि के उपरान्त है।

वैसे इस सूत्र के आशय का एक संकेत ऋग्वेद १-१६३-३, ४ में मिलता है। ये मन्त्र हमने भूमिका में दिए हैं। उपनिषदों में स्पष्ट रूप से इस कथन की पुष्टि नहीं मिलती।

श्री उदयवीर शास्त्री ने प्रश्नोपनिषद् की ओर संकेत किया है। श्री शास्त्री जी लिखते हैं—

'अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं, भौतिक नहीं। इस अर्थ की पुष्टि का संकेत शब्द-प्रमाण में भी मिल जाता है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न की आठवीं कण्डिका में स्थूल कार्य की ओर से सूक्ष्म कारण की ओर निदेश करते हुए जो क्रम प्रस्तुत किया गया है, वहाँ स्थूल भूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, मन और अहंकार-यह क्रम स्वीकार किया गया है।'

यह निर्णयात्मक प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

फिर भी हमारा मत है कि सांख्याचार्य ने श्रुति-ग्रन्थ में, सम्भवतः ऋग्वेद (१-१६३-३, ४) ही लिया है।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाँ अहंकारों से उत्पन्न हुई हैं, भूतों (पंच महाभूतों) से नहीं।

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१ ॥

पदच्छेद—देवतालय, श्रुतिः, आरम्भकस्य, न।

अर्थात्—श्रुति-अनुसार देवता में लय है, आरम्भ का (वर्णन) नहीं।

यहाँ इन्द्रियों से इन्द्रिय के गोलक (शरीर का वह भाग जिसमें इन्द्रिय-शक्ति स्थित है) का अभिप्राय नहीं है। उस शक्ति से अभिप्राय है जिससे इन्द्रियाँ अपने कार्य में प्रवृत्त (संलग्न) होती हैं। वह शक्ति प्राण कहलाती है। देवता का अभिप्राय सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि नहीं, वरन् तेज है। मृत्यु के समय इन्द्रियों का प्राण एकीभूत हो तेज में लय हो जाता है। ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् (४-५-२) में वर्णन किया गया है।

इन्द्रिय की कार्य-शक्ति को भी प्राण ही कहते हैं, परन्तु मृत्यु के समय सब इन्द्रियों की शक्ति एकीभूत हो जीवात्मा के अभिमुख हो जाती है।

यह वर्णन तो उपनिषद् का है, परन्तु वेद में भी प्राण का वर्णन है। एक वेदमन्त्र इस प्रकार है—

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ *(अथर्व ११-४-२४)*

अर्थात्—जो सब प्रकार से चेष्टा करते हुए उत्पन्न होनेवाले (प्राणियों) को वश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किए हुए है, वह आलस्य और निद्रारहित है। वह प्राण अन्नरूपी शक्ति से मुझे प्राप्त हो।

यह प्राण परमात्मा की शक्ति है कि जिससे प्राणी का शरीर कार्य करता है। यही इन्द्रियों में कार्य करता है और मोक्ष-प्राप्ति के समय एकीभूत हो परमात्मा के तेज में लीन हो जाता है।

देवता में लय होने का अर्थ यही बनता है कि परमात्मा के तेज में इन्द्रियाँ लय हो जाती हैं। यह जब तक स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर में रहता है—प्राण ही कहलाता है। जब सूक्ष्म शरीर भी विनष्ट होता है तो तेज में लय हो जाता है।

सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को दो अवस्थाओं में छोड़ता है—एक तो प्रलयकाल (ब्रह्मरात्रि) में और दूसरे जीवात्मा की मोक्ष की अवस्था में।

सूत्रार्थ बनते हैं कि देवता में लय होना श्रुति में कहा है, इसका आरम्भ नहीं कहा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि लय का उलट आविर्भाव होता है। उसे आरम्भ नहीं कहते। इस कारण सूत्र में आरम्भ का अभिप्राय है बनना। इन्द्रियों की शक्ति अर्थात् प्राण कहाँ उत्पन्न होता है? यह परमात्मा की शक्ति तेज का रूप होने से परमात्मा के साथ अनादि काल से है। यह बनी ही नहीं। इस कारण इसका आरम्भ नहीं है। आरम्भ का विपरीत विनाश है, लय होना नहीं है।

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

पदच्छेद—तदुत्पत्तिश्रुतेः, विनाश-दर्शनात्, च।

अर्थात्—और उस (इन्द्रियशक्ति प्राण) की उत्पत्ति श्रुति में (कहीं होने से) विनाश देखने से (पता चलता है)।

यहाँ उत्पत्ति और विनाश का अर्थ आरम्भ और अन्त नहीं है। सूत्र १-१२१ में यह बताया जा चुका है कि कारण में लय होने को नाश कहते हैं, और सूत्र १-१२२, १२३ में कहा है कि अभिव्यक्ति उत्पत्ति कही जाती है। इस सूत्र में भी उत्पत्ति और विनाश का यही अर्थ है। अतः सूत्र का अर्थ यह है कि उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) श्रुति में कही है और विनाश (कारण लय) हम देखने से जानते हैं। विनाश देखने से उत्पत्ति का भी ज्ञान हो जाता है।

पूर्व के सूत्र में कहा है कि आरम्भ श्रुति में नहीं है। आरम्भ से अभिप्राय निर्माण है। प्राण (इन्द्रिय) शक्ति का आरम्भ तो है ही नहीं। अभिव्यक्ति और लय का श्रुति में वर्णन है।

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अतीन्द्रियम्, इन्द्रियम्, भ्रान्तानाम्, अधिष्ठाने।

अर्थात्—अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की पहुँच से परे) इन्द्रिय की शक्ति है। भ्रम में पड़े हुए लोग अधिष्ठानों को (इन्द्रियाँ समझते हैं)।

अधिष्ठान का अभिप्राय है मांस-मज्जा इत्यादि के वे गोलक जिनमें इन्द्रियाँ कार्य कर रही होती हैं। यह हम बता आए हैं कि इन्द्रियाँ प्राण हैं। यह एक प्रकार की शक्ति है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो परमात्मा से प्राप्त होती है। इस कारण प्राण अतीन्द्रिय कहलाता है। अधिष्ठान हैं आँख, नाक, कान, हाथ और पाँव के गोलक। ये पंचभौतिक हैं। अज्ञानी आदमी इन अधिष्ठानों को इन्द्रिय समझने लगते हैं। शक्ति ही वास्तव में इन्द्रिय है।

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—शक्तिभेदे, अपि, भेदसिद्धौ, न, एकत्वम्।

अर्थात्—शक्ति में भेद होने पर भी भेद की सिद्धि नहीं, सब एक (प्राण) ही है।

शक्ति से अभिप्राय इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति है। सूत्रकार कहता है कि इन्द्रियों के कार्य करते हुए भेद दिखाई देता है; वास्तव में भेद नहीं। शक्ति तो एक प्राण ही है, अर्थात् सबमें कार्य करनेवाली शक्ति एक ही है, कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के भिन्न अर्थ किए हैं। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के कार्य भिन्न-भिन्न होने से वे भिन्न-भिन्न ही हैं। एक नहीं हैं।

ये भाष्यकार 'न' को एकत्वम् के साथ लगाते हैं और अर्थ करते हैं एक नहीं है। हमने 'न' शब्द को 'भेदसिद्धौ' के साथ लगाया है और अर्थ किए हैं 'भेद सिद्ध नहीं होता'।

व्याकरण की दृष्टि से दोनों ही ठीक हैं। इसे 'देहली दीपक न्याय' के नाम से जाना जाता है। जैसे दहलीज में रखे दीपक से प्रकाश घर के बाहर और भीतर दोनों स्थान पर होता है, इसी प्रकार 'न' का प्रयोग पहले और पीछे के पद, दोनों से प्रसंगानुसार हो सकता है।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि 'शक्ति' शब्द से अर्थ बनता है कार्य करनेवाला प्राण, अर्थात् इन्द्रियों का कार्य बनता है। इस कारण 'शक्तिभेदे' का अर्थ इन्द्रियों के कार्य में भेद है। तदपि प्राण-कार्य करनेवाली शक्ति एक ही है। इसी प्रकार 'भेदसिद्धौ न' से अभिप्राय है—भेद सिद्ध नहीं होता।

अतः हमारा कहना है कि प्रसंग के विचार से हमारे अर्थ ही ठीक हैं। यहाँ विभक्ति-व्यत्यय अभीष्ट है।

अर्थ है इन्द्रियों में कार्य करनेवाली शक्ति में कार्य-भेद दिखाई देने पर भी भेद नहीं है, अपितु एक ही है।

वास्तव में भाष्यकारों ने सूत्र २-२१ के भाष्य से भूल आरम्भ की है। देवता के अर्थ ने सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्र समझने लगे हैं। देवता का अर्थ परमात्मा का तेज है। इस सूत्र से ही इन्द्रियों में कार्य करनेवाली शक्ति का वर्णन आरम्भ हो गया है।

जहाँ इन्द्रियों को अतीन्द्रिय कहा है, वहाँ भी इन्द्रियों का अभिप्राय शक्ति ही है। अधिष्ठान को इन्द्रिय समझनेवालों को मूर्ख कहा है। अधिष्ठान का अर्थ बाहर के गोलक ही नहीं, वरन् वे वात-शिराएँ भी हैं जो गोलकों में कार्य करनेवाली शक्ति पहुँचाती हैं।

वर्तमान विज्ञान-वेत्ता इस शक्ति को विद्युत्-शक्ति कहते हैं। सांख्य विद्युत्-शक्ति को तैजस अहंकार तथा सात्त्विक अहंकार मानता है। परन्तु इन्द्रियों में यह नहीं। विद्युत् इन्द्र की शक्ति है। तेज परमात्मा की शक्ति है। इसे हम प्राण कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूत्रार्थ बनता है—शक्ति के (कार्य में) भेद दिखाई देने पर भी भेद नहीं है। शक्ति एक ही है।

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥

पदच्छेद—न, कल्पनाविरोधः, प्रमाण-दृष्टस्य।

अर्थात्—कल्पना द्वारा विरोध ठीक नहीं, प्रमाण से सिद्ध देखने से है।

जो बात प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाए, उसका केवल कल्पना से विरोध ठीक नहीं होता। कल्पना क्या है? कल्पना यह है कि अंगों (नाक, कान इत्यादि) से भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं और एक अंग दूसरे का कार्य नहीं कर सकता। इस कारण क्या इन्द्रियों में कार्य करनेवाला तत्त्व (शक्ति) भी भिन्न-भिन्न है? सूत्रकार कहता है कि प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण) से जब बात सिद्ध कर दी गई कि इन्द्रियाँ ग्यारह हैं तो फिर कल्पना करना कि इन्द्रियों में काम करनेवाला तत्त्व भी भिन्न-भिन्न है, ठीक नहीं।

यहाँ यह बता देना ठीक ही प्रतीत होता है कि ग्यारह इन्द्रियों में मन और बुद्धि नहीं हैं। मन महत् का अंश माना जा सकता है। बाह्य इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति एक होने पर भी कार्य दस प्रकार के हैं और इस कारण वे दस कही जाती हैं। इसी प्रकार मन और बुद्धि, दोनों महत् का अंश होने पर भी कार्य भिन्न-भिन्न होने से दो माने जाएँगे।

यदि इस प्रकार मानें और मन-बुद्धि को भी इन्द्रिय मानें तो इन्द्रियाँ बारह हो जाएँगी। इस कारण ग्यारहवीं इन्द्रिय न मन है और न बुद्धि है। ग्यारहवीं इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का वह भाग ही है जो शरीर के भीतर होता है।

मन और बुद्धि का कार्य इन्द्रियों से भिन्न प्रकार का है। इन्द्रियाँ बाहर का ज्ञान भीतर ले-जाती हैं अथवा भीतर जीवात्मा के आदेश कार्यान्वित करने के लिए बाहर ले जाती हैं। ये केवल सन्देश को शरीर के भीतर और बाहर ले-जाने के लिए बनी हैं। विपरीत इसके, मन का काम ज्ञान का संचय करना है। बुद्धि धर्म-अधर्म में निश्चय करने वाली है।

अतः मन और बुद्धि परस्पर भिन्न-भिन्न कार्य करनेवाली दो हैं और इन्द्रियों से इनका कार्य भिन्न है। हमारा निश्चित मत है ग्यारहवीं इन्द्रिय मन अथवा बुद्धि नहीं है। यह अन्तःकरण की भीतरी इन्द्रिय है।

उभयात्मकं मनः ॥ २६ ॥

पदच्छेद—मनः, उभयात्मकम्।

अर्थात्—मन उभय-आत्मक है (दो प्रकार का स्वभाव रखता है)।

यहाँ आत्मक शब्द ही सूत्र के अर्थों को स्पष्ट करता है।

मोनियर विलियम्स ने कोष में 'आत्मक' शब्द के अर्थ इस प्रकार लिखे हैं—

Atmaka – belonging to or forming the nature of; having or consisting the nature or charcter of; consisting or composed of.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह स्पष्ट है कि इस सूत्र में 'consisting the nature or character of' के अर्थ लगते हैं। इसको हिन्दी भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है—स्वभाव अथवा कार्यवाला।

अतः सूत्रार्थ बनता है : मन दो प्रकार के कार्य अथवा स्वभाववाला है। अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर जी शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

'समस्त इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों, दोनों के साथ इसका सम्पर्क रहता है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मन के सहयोग के बिना अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। मन का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्पर्क रहने से यह 'उभयात्मक' कहा जाता है।'

इन अर्थों से हमारा मतभेद है। इन्द्रियाँ तो दस हैं। तब मन को दशात्मक क्यों नहीं कहा गया? मन और बुद्धि दोनों, इन्द्रियों और जीवात्मा में संयोजक हैं। इससे इनको त्रयात्मक क्यों नहीं कहा? कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और जीवात्मा, तीनों के साथ इसका सम्पर्क है। इस सम्पर्क के कारण इसे उभयात्मक नहीं कहा जा सकता। इसका सम्पर्क तो जीवात्मा से भी है।

हमारा मत है कि मन की प्रकृति अर्थात् स्वभाव दो प्रकार का है—एक संकल्प करने का और दूसरा ज्ञान संचय करने का। मन संस्कार और ज्ञानों का संचय करता है। साथ ही यह संकल्प, जिसे निष्ठा, श्रद्धा, विश्वास इत्यादि शब्दों से प्रकट किया जाता है, करता है।

मन के कार्य के विषय में वेद में इस प्रकार कहा है—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४-२)

इसका अर्थ है—जिस (मन) से कर्मनिष्ठ, विचारशील, धीर लोग लोककल्याण जैसे दुस्तर कार्य को करते हैं और अपूर्व (अद्भुत कार्य करते हैं) जो (शरीर के भीतर सब अंगों) इन्द्रियों को जोड़ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्प (निश्चय) करनेवाला हो।

इस मन्त्र में यह कहा है कि कर्मनिष्ठ, बुद्धिमान्, धीर पुरुष जिसके द्वारा दुस्तर कार्य करने का संकल्प करते हैं, वह मन है। यह ज्ञान और संस्कारों के संचय से ही हो सकता है।

अतः मन के दो कार्य यहाँ वर्णन किए हैं—दृढ़ निष्ठ और संस्कार तथा ज्ञान का संचय करनेवाला।

हम समझते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को जोड़नेवाला अन्तःकरण है। यह मस्तिष्क का वह भाग है जहाँ पूर्ण शरीर से वात-शिराएँ आकर एकत्रित होती हैं। सम्भवतः सूत्रकार के मत में मस्तिष्क का पीत वर्ण पदार्थ है। परन्तु मन अन्तःकरण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न कला है। यह महद् से बनता है और संकल्प तथा ज्ञान का आधार है।

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—गुणपरिणामभेदात्, नानात्वम्, अवस्थावत्।

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों में भेद होने से उनका नानात्व है अवस्था की भाँति।

गुण-परिणाम का अभिप्राय है इन्द्रियों के गुण और उन गुणों से उत्पन्न परिणाम। इन्द्रियों के गुण तो भिन्न-भिन्न हैं और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। यह नानापन अवस्था (स्थिति) के कारण है। जो इन्द्रिय आँख में कार्य करती है वह आँख में स्थित होने के कारण विशेष कार्य करती है। आँख का विषय है देखना। इसी प्रकार कानों में कार्य करने वाली इन्द्रिय का विषय है सुनना। सूत्र (२-२४) में कहा है कि शक्ति में भेद दिखाई देने पर भी भेद नहीं है। यहाँ भेद दिखाई देने में कारण बताया है। इन्द्रियों में कार्य करने वाली शक्ति एक ही है, परन्तु भेद दिखाई देता है। वह भेद उन इन्द्रियों की स्थिति के कारण है।

विद्युत् का उदाहरण लिया जा सकता है। विद्युत्-केन्द्र से विद्युत् एक ही प्रकार की आती है, परन्तु कहीं यह कमरे को गर्म कर रही है, तो कहीं कमरे को ठण्डा कर रही है; कहीं प्रकाश करती है और कहीं पंखे चलाती है। यह विद्युत् की स्थिति के कारण है, अर्थात् उन यन्त्रों की बनावट के कारण है जिनमें विद्युत् जाकर काम करती है।

अन्य सूत्रकारों ने अवस्था का अर्थ मनुष्य की आयु-सम्बन्धी अवस्था कहा है। हम ऐसा नहीं मानते। जिस प्रकार के यन्त्र में इन्द्रिय उपस्थित है, वह उसकी अवस्था है। नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होने से भिन्न करण इसके विषय हैं। मन उन सब प्रकार के अंगों से संदेश ग्रहण करता है।

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—रूपादि, रसमलान्त, उभयोः।

अर्थात्—रूप से लेकर रस-मल के अन्त तक।

इन्द्रियों के विषय हैं रूप, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श, वाणी, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ। ये दस विषय दो प्रकार के हैं। इन विषयों की गणना कराने के स्थान इनका आदि का और अन्त का विषय लिख दिया है।

'रसमलान्त' का अभिप्राय समझना आवश्यक है। रस से अभिप्राय है मूत्र। शरीर में रस बनता है। उसमें से सब उपकारी पदार्थ शरीर में ले लेने के उपरान्त उसका अन्त एक जलीय द्रव्य मूत्र-द्वार से निकलता है; और यह मल वह है जो आँतों में रस के रक्त के साथ मिल जाने पर आँतों के द्वार गुदा से बाहर जाता है। इन दोनों पदार्थों के अन्त-स्थान को उपस्थ और पायु के नाम से कहा जाता है। इस मूत्र और मल को रसमलान्त लिखा है। इनके द्वारों पर नियंत्रण करने की शक्ति को उपस्थ और पायु इन्द्रिय कहते हैं। इस कारण रसमलान्त का अभिप्राय यह है कि रस के अन्तिम स्थान और मल के अन्तिम स्थान पर जो नियंत्रण करनेवाली शक्ति है, जो जीवात्मा की इच्छा पर खुलती और बन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है।

रस के दो अन्तिम पदार्थ हैं। 'रस' खाए पदार्थों के उस घोल को कहते हैं जो मुख, आमाशय और यकृत से द्रवित पदार्थ की सहायता से बनता है। खाए पदार्थों का प्रधान रूप रस है। यह रस आँतों से रक्त में खींचकर ले-जाया जाता है। वहाँ इसमें पुनः परिवर्तन होते हैं। रस से रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और अन्त में वीर्य बनता है। यह भी तरल पदार्थ ही होता है। यह रस का अन्त है। दूसरा रस का अन्त उस व्यर्थ के पदार्थ को कहते हैं जो अन्तिम बने रस से रक्त, मांस, मेद , मज्जा, अस्थि और वीर्य बनने के उपरान्त बच जाता है। मूत्र में मिला हुआ वह पदार्थ उपस्थ इन्द्रिय से नियंत्रित किया जाता है। वीर्य का स्खलन भी उपस्थ इन्द्रिय के नियंत्रण में होता है।

अतः पायु और उपस्थ उन नियंत्रण करनेवाले यन्त्रों को कहते हैं, जो मल-द्वार पर नियंत्रण रखते हैं और मूत्र-द्वार पर नियंत्रण रखते हैं। मूत्र और वीर्य दोनों उपस्थ इन्द्रिय से नियंत्रित होते हैं।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह है कि रूप से आरम्भ कर उस इन्द्रिय तक जहाँ रस और मल के अन्तिम रूप का नियंत्रण होता है, सब विषयों में दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं। एक ज्ञान-संचय में कार्य करती हैं, दूसरी कर्म करने में संलग्न हैं। पहले के सूत्र (२-२७) में गुण-परिणाम के ही भेद इस सूत्र (२-२८) में बताए हैं।

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्॥ २९॥

पदच्छेद—द्रष्टृत्वादिः, आत्मनः, करणत्वम्, इन्द्रियाणाम्।

अर्थात्—देखने इत्यादि वाला आत्मा का (कर्म) है; करण (साधन) होना इन्द्रियों का (कार्य) है।

देखने इत्यादि वाले का अभिप्राय है ईक्षण करनेवाला। जो कार्य के आरम्भ, अन्त और दिशा का निश्चय करता है, वह आत्मा (जीवात्मा) है। इन्द्रियाँ जीवात्मा को साधन मिले हैं। वे कार्य करती हैं।

मन और इन्द्रियों को देखने इत्यादि (ईक्षण करने) वाला क्यों नहीं कहते? यह इस कारण है कि इन साधनों (इन्द्रियों) की उत्पत्ति प्रकृति से बतायी है और प्रकृति जड़ है। इनमें ईक्षण करने की शक्ति नहीं है। आत्मा चेतन है। चेतन में ईक्षण करने की शक्ति होती है।

अतः इन्द्रियाँ करण-मात्र हैं।

त्रयाणां स्वालक्षण्यम्॥ ३०॥

पदच्छेद—त्रयाणाम्, स्वालक्षण्यम्।

अर्थात्—तीनों के अपने-अपने लक्षण हैं।

तीनों का अभिप्राय है कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और जीवात्मा। इनके अपने-अपने लक्षण हैं। लक्षण से अभिप्राय है कि वे चिह्न जिनसे उनके अस्तित्व का ज्ञान हो। इन्हें लिंग भी कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ अन्य भाष्यकारों ने तीन का अभिप्राय लिया है महत्, अहंकार और मन। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'महत्, अहंकार और मन इन तीनों अन्तःकरण का अपना-अपना जो विशेष लक्षण है, वही इनका असाधारण व्यापार है।'

श्री शास्त्री जी के कथन पर प्रथम आपत्ति यह है कि मन और महत् को वे भिन्न-भिन्न मानते हैं। उन्हें सूत्र १-७१ को विस्मरण नहीं कर देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि पूर्व के सूत्र में आत्मा (जीवात्मा) और इन्द्रियों का उल्लेख आया है। तो अब मन को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं। दो प्रकार की इन्द्रियाँ और जीवात्मा इनसे ही अभिप्राय है। इनके लक्षणों में भिन्नता बताई है। उदाहरण के रूप में कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान अर्जन करती हैं और जीवात्मा इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न और चेतनता के लक्षणोंवाला है।

कुछ अन्य भाष्यकारों ने इस 'त्रयाणाम्' से मन, बुद्धि, और अहंकार को लिया है। इस धारणा पर भी हमारी वही आपत्ति है जो हमने महत्, मन और अहंकार पर की है। वह यह कि पूर्व के सूत्र में जिन तीनों का उल्लेख है, उन्हीं का उल्लेख इनमें क्यों नहीं है?

सूत्र २-२९ में कहा है कि देखना आत्मा का काम है और कार्य करना इन्द्रियों का। इन्द्रियों में दोनों प्रकार की इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों) से अभिप्राय है। यहाँ इस सूत्र (२-३०) में इन तीन से अभिप्राय है।

अन्तःकरण के विषय में हम बता आए हैं कि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ मन से सम्पर्क में आने से पूर्व एक ऐसे करण में मिल जाती हैं जो मन से सम्पर्क उत्पन्न करता है। उसे हम मन नहीं मानते। अन्तःकरण अहंकारों का परिणाम है और मन महद् ही है। मन का सम्पर्क जीवात्मा से होता है।

इस प्रकार 'त्रयाणाम्' से अभिप्राय मन, बुद्धि और अहंकार नहीं है। ये कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और जीवात्मा हैं।

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—सामान्या, करणवृत्तिः, प्राणाद्याः, वायवः, पञ्च।

अर्थात्—सामान्य रूप में करण (इन्द्रियों) के व्यापार प्राणादि वायु के रूप में पाँच हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य रूप में इन्द्रियों के कार्य पाँच प्रकार की वायु, जिन्हें प्राण कहा जाता है, से सम्पन्न होते हैं। 'प्राणाद्या' शब्द का अभिप्राय है कि इन वायुओं का आदि प्राण ही है। इसे शक्ति भी कहते हैं और तेज भी कहते हैं। इस कारण आद्य प्रयोग किया गया है।

वायु का अर्थ गतिशील भी है। प्राण गति करते हैं, इस कारण इन्हें वायु कहा है। ब्रह्मसूत्र में भी प्राणों को वायु कहा है—

तथा प्राणाः ॥
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ (ब्र० सू० २-४-१, ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—और प्राण है। वह सात गति-विशेषों के कारण (सात प्रकार का) जाना जाता है।

यहाँ गति वायु का ही सूचक है।

ब्रह्म-सूत्रों में प्राणों की सात गतियाँ कही हैं। यहाँ पाँच का वर्णन है। इसमें मतभेद नहीं है। सांख्य केवल ज्ञानेन्द्रियों में गति के सूचक प्राणों का वर्णन कर रहा है। ब्रह्म-सूत्र में ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त कर्मेन्द्रियों और श्रेष्ठ प्राणों का भी उल्लेख है। इस कारण गणना में भेद है।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में पृथक्-पृथक् कार्य करनेवाले प्राण हैं। सब कर्मेन्द्रियों में एक प्रकार के ही प्राण होते हैं। श्रेष्ठ प्राण पृथक् हैं। ये शरीर की नाड़ियों में चलते हैं। नाड़ियाँ रक्त-संचालन में, पाचन आँतों में, पेशाब यकृतादि में कार्य करते हैं।

हमने 'वायवः' का अर्थ किया है गतिवाले। परन्तु कुछ भाष्यकारों ने इनसे प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान अभिप्राय लिया है। हम इससे 'प्राण-शक्ति', 'गति करता है', का अर्थ लेते हैं।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ अपने भाष्य में इस प्रकार करते हैं—

(प्राणाद्या) प्राणादि (पञ्च) पाँच (वायवः) वायु (सामान्या) साधारण (करणवृत्तिः) करणवृत्ति—करणों का व्यापार है।

प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पाँच प्राण हैं, जो वायुरूप हैं। सब करणों की साधारण वृत्ति है। पाँचों प्राण समस्त करणों का साधारण व्यापार है।

यह विचारणीय है कि ये प्राण-अपानादि क्या हैं और क्या ये ग्यारह इन्द्रियों में कार्य करते हैं? दूसरे यह कि क्या ये वायुरूप हैं?

प्राण फेफड़ों से निकलनेवाली हवा है अथवा हवा को निकालनेवाली शक्ति है। इसी प्रकार अपान उसको कहते हैं जिससे आँतों से मल नीचे उतरता है। यह हवा से उतरता है अथवा आँतों की किसी प्रकार की गति है जो मल को नीचे निकालती है। यह शरीरक्रिया-विज्ञानवाले मानते हैं कि हवा जो फेफड़े भीतर खींचते हैं और बाहर निकालते हैं, वे शरीर का अंग नहीं हैं। बाहर की हवा भीतर जाती है। वह रासायनिक कार्य करती है और उसके बाद यह बाहर निकाली जाती है। शरीर में कार्य फेफड़े करते हैं। इस कारण हवा ले-जाने और बाहर निकालने की शक्ति फेफड़ों में होती है। यह शक्ति वायु नहीं, वरन् फेफड़ों का व्यापार करती है और प्राण-वायु कहलाती है।

इसी प्रकार से आँतों में एक प्रकार की गति होती है जिससे मल आगे को खिसकता जाता है। इसे अपान वायु कहते हैं। यह वह वायु नहीं जो गुदा के मार्ग से कभी निष्कासित होती है।

इसी प्रकार व्यान उस शक्ति को कहते हैं, जिससे रक्त चलता है। यह किसी प्रकार की हवा से नहीं चलता। यही बात समान और उदान की है।

ये शरीर के भीतर होनेवाले कर्मों को करनेवाली इन्द्रियाँ हैं। इसीको ब्रह्म-सूत्रों में श्रेष्ठ प्राण माना है। ये इन्द्रियों से कार्य करनेवाली शक्तियाँ नहीं हैं, अतः इनका वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियों के प्रकरण में करना अशुद्ध है।

देखा जाए तो सांख्य-सूत्र (२-२९, ३०) से पता चलेगा कि वहाँ प्राण-अपानादि का उल्लेख नहीं है। ग्यारह इन्द्रियों और जीवात्मा का वर्णन हो रहा है। फेफड़ों का, प्राण का अथवा आँतों का उल्लेख नहीं है। अतः हमारा सुनिश्चित मत है कि 'वायवः' प्राणादि वायुओं का वर्णन नहीं, वरन् ग्यारह इन्द्रियों में व्यापारों का वर्णन है।

यहाँ वायु से अभिप्राय है गति, और तब सूत्र का अर्थ होगा : सामान्य रूप में इन्द्रियों का व्यापार करनेवाले गतिरूप प्राण पाँच प्रकार के हैं।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—इन्द्रियवृत्तिः, क्रमशः, च, अक्रमशः।

अर्थात्—इन्द्रियों का व्यापार क्रम से और बिना क्रम के (भी) होता है।

क्रम का अर्थ समझने की आवश्यकता है। क्रम का सामान्य रूप में अर्थ है 'एक के बाद दूसरा'। एक-दूसरे का अभिप्राय दो प्रकार से कहा जा सकता है। एक तो यह कि बाह्य इन्द्रियाँ एक के उपरान्त दूसरा काम करती हैं। मान लीजिए कि एक अपार-दर्शक बोतल में सुगन्धियुक्त तैल पड़ा है। पहले नासिका सूँघती है। फिर हाथ पर निकाल उसे आँख देखती है कि वह तैल है, जल है अथवा कुछ ऐसा पदार्थ तो नहीं जो शरीर पर लगाने योग्य नहीं? तदनन्तर हाथ उसको सिर पर लगाते हैं। इस सबके करनेवाला तो जीवात्मा है, परन्तु वह मन और बुद्धि के द्वारा करता है जो एक-एक कर बारी-बारी से कार्य करते हैं। कार्य को करनेवाली इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी एक-एक कर ही कार्य कर सकती हैं।

यह अर्थ है क्रमशः का (एक के उपरान्त दूसरी इन्द्रिय कार्य करती है।)

अक्रमशः का अर्थ है क्रम से नहीं, अर्थात् कोई समय में नहीं। यह मन तथा बुद्धि के आदेश से होता है कि पहले कौन करे और बाद में कौन करे?

परन्तु क्रमशः का अन्य अभिप्राय भी लिया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान भीतर जाता है। वहाँ अन्तःकरण उसे प्राप्त कर जीवात्मा को पहुँचा देता है। जीवात्मा बुद्धि से सम्मति करता है और बुद्धि जीवात्मा को सम्मति देती है कि वह कार्य करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए। जीवात्मा उसके अनुसार कर्मेन्द्रियों को आज्ञा देता है और कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

यह क्रम है—ज्ञानेन्द्रिय—अन्तःकरण—मन—जीवात्मा—बुद्धि और तदनन्तर कर्मेन्द्रियाँ।

अक्रमशः का अर्थ होगा कि क्रम में विघ्न पड़ सकता है। कोई क्रम का अंग कार्य नहीं करता और क्रम टूट जाता है। इस अवस्था में कार्य नहीं होता अथवा उस कार्य को छोड़ देनेवाले अंग के बिना कार्य होने लगता है। कभी ढोल-नगाड़े बजते हैं तो कान सुनता है, परन्तु मन किसी अन्य कार्य में संलग्न होने के कारण कानों के सन्देश को ग्रहण नहीं करता; सन्देश आगे नहीं जा सकता; अथवा मन ग्रहण तो करता है, परन्तु बुद्धि दुर्बल होने के कारण उस पर विचार नहीं कर सकती। ऐसा कई बार देखा जाता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोद्गारों से कार्य करनेवाला व्यक्ति किसी मीमांसा के ग्रन्थ को पढ़-समझ नहीं सकता तो वह उसे छोड़ कोई उपन्यास पढ़ने लगता है। यह अक्रम कहा है।

हम ऊपर कह गए दोनों अर्थों को सार्थक समझते हैं। अतः सूत्रार्थ है कि इन्द्रियों के व्यापार क्रम से होते हैं और बिना क्रम के भी होते हैं।

दो-तीन ज्ञानेन्द्रियाँ तो युगपत् कार्य कर सकती हैं, अर्थात् इन्द्रियों का व्यापार तो हो गया, परन्तु कर्मेन्द्रियों का कार्य युगपत् नहीं हो सकता। कारण यह कि मन ही मार्ग है जीवात्मा से शरीर तक ले-जाने का। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य होता है, परन्तु वह ज्ञान एक-एक कर ही जीवात्मा तक जाता है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—क्लिष्टा, अक्लिष्टाः, पञ्चतय्यः, वृत्तयः।

अर्थात्—क्लिष्ट और अक्लिष्ट पाँच प्रकार की वृत्तियाँ (व्यापार) हैं।

यह सूत्र, योगदर्शन (१-५) में भी मिलता है।

क्लिष्ट का अर्थ है क्लेशकारक। अक्लिष्ट का अर्थ है सुखकारक।

हम ऊपर बता आए हैं कि यहाँ इन्द्रियों की वृत्तियों (व्यापार) का वर्णन हो रहा है। इन्द्रियाँ हम ग्यारह मानते हैं।

योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों को माना है। चित्त में मन और बुद्धि है। मन और बुद्धि का नियंत्रण कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों पर ही होता है। श्रेष्ठ प्राणों पर इनका प्रभाव नहीं।

वृत्तियों के लक्षण हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। योगदर्शन में इनको चित्त की वृत्तियाँ कहा है। जहाँ तक इन्द्रियों का सम्बन्ध है, वे भी चित्त के साथ इन व्यापारों के अनुरूप व्यापार करती हैं। इन वृत्तियों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **प्रमाण**—प्रमाण तीन प्रकार के माने हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। जहाँ तक इन्द्रियों का सम्बन्ध है, ये प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सम्बन्ध रखती हैं। अनुमान और स्मृति बुद्धि तथा मन का कार्य हैं और इनको हमने इन्द्रिय नहीं माना। इन्हें हम चित्त तो मानते हैं, परन्तु ये ग्यारह इन्द्रियों के व्यापार में नहीं हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

'समस्त तेरह करणों की पृथक्-पृथक् बातों का—यथानुसार प्रतिपादन किया गया है।'

इसमें यह स्वीकार किया गया है कि सब करणों की पृथक्-पृथक विशेष वृत्तियों का होना है। इससे यदि हम यह कहते हैं कि इन्द्रियों की वृत्ति केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में है तो ठीक ही है।

(२) **विपर्यय**—मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। यह भी इन्द्रियों का व्यापार है। मन और बुद्धि इस मिथ्या ज्ञान में संशोधन करते रहते हैं। इन्द्रियाँ स्थूल होने के कारण मिथ्या व्यापार करने लगती हैं।

उदाहरण के रूप में किसी मनुष्य के कुछ अन्तर पर एक पत्थर पड़ा है। मनुष्य आँख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अनुमान लगाता है कि वह बीस किलोग्राम का है और समझता है कि वह उसे उठा लेगा। आँख भूल कर सकती है। वह पत्थर नहीं, सीसा है। बीस किलोग्राम का नहीं, चालीस किलोग्राम का है। मनुष्य उठाता है तो उठा नहीं सकता। यह है मिथ्या ज्ञान।

एक अन्य उदाहरण लें। किसी पर्वत के नीचे खड़ा मनुष्य आँख से देखकर समझता है कि चोटी पर चढ़ने के लिए दो किलोमीटर जाना होगा। परन्तु आँख भूल कर जाती है और वह वह अन्तर दो किलोमीटर के स्थान पर चार किलोमीटर हो सकता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों द्वारा मिथ्या ज्ञान भी हो सकता है। इसका संशोधन मन और बुद्धि से होता है।

(३) **विकल्प**—यह उस कल्पना का नाम है जो सुनी-सुनायी बात के आधार पर हो। इसमें वस्तुत्व नहीं होता। यह भी इन्द्रिय का एक व्यापार है।

(४) **निद्रा**—जाग्रत् और स्वप्न के अभाव को निद्रा कहते हैं। यह भी इन्द्रियों का एक व्यापार है।

(५) **स्मृति**—अनुभूत वस्तु अथवा घटना का संस्कार स्मृति है। यह मन का व्यापार है। यह किसी इन्द्रिय का व्यापार प्रतीत नहीं होता। इन्द्रियाँ उस स्मृति के अनुरूप कार्य करती हैं।

इन्द्रियों के व्यापार दुःखकारक भी हो सकते हैं और सुखकारक भी। दोनों पाँच-पाँच प्रकार के हैं।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—तत्-निवृत्तौ, उपशान्तोपरागः, स्वस्थः।

अर्थात्—उन (वृत्तियों) से निवृत्त होने पर विषयों का प्रभाव शान्त होने से आत्मा अपने में स्थित होता है।

वृत्तियों से उदासीन होना ही उनसे निवृत्त होना कहा जा सकता है। यहाँ निवृत्त का अभिप्राय वही है जिसे योगदर्शन में निरोध कहा है। इसे संयम अथवा नियंत्रण भी कहा जा सकता है। वृत्तियों से निवृत्ति के अर्थ यदि इन व्यापारों का अभाव लें तब तो निद्रावस्था में सब वृतियों का लोप ही समझा जा सकेगा। इनके अभाव से अभिप्राय नहीं है।

इन्द्रियों के व्यापार के अभाव का अभिप्राय तो मृत्यु होगा। सूत्रकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता। योगदर्शन में कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ *(यो० द० १-२)*

अर्थात्—चित्त की वृत्तियों का निरोध (नियंत्रण) ही योग है।

इन्द्रियों के व्यापार पर नियन्त्रण से इनके क्लिष्ट प्रभावों से बचा जा सकता है। क्लिष्ट प्रभाव ही दुःखकारक हैं। अक्लिष्ट के निवारण की आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि यह शास्त्र दुःखों की निवृत्ति के लिए लिखा गया है; सुख से बचने के लिए नहीं।

वैसे इन्द्रियों के व्यापार से क्लेश भी हो सकता है और क्लेश का निवारण भी। परन्तु क्लिष्टकारक वृत्तियों पर नियंत्रण ही अभिप्राय है। आत्मा का अपने निर्मल स्वरूप में स्थित हो जाना ही अतिसुख की स्थिति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—कुसुमवत्, च, मणिः ।

अर्थात्—और मणि के समीप कुसुम लाने से मणि कुसुम के रंग की दिखाई देने लगती है।

कुसुम समीप से हटा लिया जाए तो मणि शुद्ध स्वरूप में दिखाई देने लगती है। यही बात वृत्तियों की जीवात्मा पर होती है। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि इन्द्रियों की वृत्तियाँ ही अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं। इनका प्रभाव ही चित्त, मन और बुद्धि पर पड़ता है। हमने यह भी बताया है कि इन्द्रियों की तथा चित्त की वृत्तियाँ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् हैं। इन वृत्तियों का प्रभाव जीवात्मा पर वैसा ही पड़ता है जैसे कुसुम को मणि के समीप लाने पर पड़ता है। जीवात्मा वैसे ही रंग का दिखाई देने लगता है। अभिप्राय यह है कि आत्मा वही व्यापार करता दिखाई देता है जो इन वृत्तियों का है।

योगदर्शन में भी यही भाव प्रकट किया गया है। वृत्तियों के निरोध पर—

तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् । *(योग० १-३)*

अर्थात्—तब द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यहाँ तब का अभिप्राय है, जब वृत्तियों का नियंत्रण हो जाता है।

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—पुरुषार्थम्, करणोद्भवः, अपि, अदृष्टोल्लासात् ।

अर्थात्—अदृष्ट के प्रभाव के प्रकट होने से इन्द्रियों के कार्य हैं पुरुष के लिए ही। इसका अभिप्राय यह है कि अदृष्ट अर्थात् पूर्व-काल में किए कर्मों के जब फल प्रकट होने लगते हैं, तब जीवात्मा के लिए इन्द्रियाँ कार्य करने लगती हैं।

इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि किसी मनुष्य ने पूर्व-जन्म में पहले तो बहुत बुरे (पापयुक्त) कर्म किए थे और फिर उसने लोक-कल्याण के कार्य किए, जिनका फल बहुत शुभ होनेवाला था। वर्तमान जन्म में वह पाप-कर्मों के फलस्वरूप किसी निर्धन के घर में जन्म लेता है। वह अपनी शिक्षा और निर्वाह में बहुत कठिनाई अनुभव करता है। परन्तु उसके पुण्य-कर्मों का जब प्रभाव होने लगता है तो स्वतः उसकी इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ऐसे कार्य करने लगते हैं कि उसे सफलता मिलने लगती है और मनुष्य उस सफलता को देख चकित रह जाता है कि कैसे वह यह सफलता प्राप्त कर सका है।

वास्तव में उसके अदृष्ट कर्म के फल प्रकट होने लगते हैं तो इन्द्रियाँ स्वतः ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होने लगती हैं कि कार्य अपना फल देने लगते हैं।

यह कैसे ? उसका उदाहरण सूत्रकार बताता है—

धेनुवद्वत्साय ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—धेनुवत्, वत्साय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—धेनु (के स्तनों में दूध) की भाँति बछड़े के लिए।

जैसे बछड़े को सम्मुख देख गाय के स्तनों में दूध उमड़ आता है, वैसे ही कर्म-फल का समय आने पर स्वतः इन्द्रियाँ और चित्त ऐसे कार्य करने लगते हैं कि फल प्रकट होने लगता है।

हमने बताया है कि इन्द्रियों के कर्म मन और बुद्धि के द्वारा संचालित होते हैं और मन-बुद्धि जीवात्मा की प्रेरणा से कार्य में संलग्न होते हैं। अतः जीवात्मा स्वतः ही कर्म-फलों से प्रेरित ऐसे कार्य करने लगता है कि शुभ कर्मों का फल प्रकट होने लगता है।

ठीक वैसे ही जैसे बछड़े को सम्मुख देख गाय के स्तनों से दूध स्रवित होने लगता है।

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—करणम्, त्रयोदशविधम्, अवान्तर-भेदात्।

अर्थात्—तेरह प्रकार के करण हैं अवान्तर (इसमें परस्पर) भेद से।

अभी तक इन्द्रियाँ ग्यारह कही जा रही थीं, वे भी अवान्तर-भेद से ही थीं। अन्यथा सूत्र २-२४ के अनुसार सबमें कार्य करनेवाली शक्ति तो एक प्रकार की ही है। इस सूत्र में करण शब्द इन्द्रियों का पर्यायवाचक नहीं। अतःकरण का अर्थ देखना चाहिए।

मोनियर विलियम्स अपने शब्दकोष में करण के बहुत-से अर्थों में—'instrument, means of action' भी करते हैं। इनका अर्थ है औज़ार तथा कार्य में साधन। यहाँ इस सूत्र में करण से यही अभिप्राय है।

हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि प्राणी के पास कार्य सम्पन्न करने के साधन तेरह हैं, यद्यपि पूर्व-सूत्रों में, विशेष रूप में ३-१९ सूत्र में कर्मेन्द्रियाँ और बुद्धीन्द्रियाँ ग्यारह कही हैं; अर्थात् कर्मेन्द्रियों और बुद्धीन्द्रियों के अतिरिक्त दो अन्य कार्य करने के साधन हैं। यही अन्य भाष्यकारों के मत से भिन्न बात हम कह रहे हैं। प्राणी (मनुष्य) के पास कार्य करने के साधन तो तेरह हैं। इनमें से ग्यारह अहंकारों से उत्पन्न होते हैं और दो महत् से बनते हैं। जो महत् से बनते हैं वे मन और बुद्धि हैं। जो ग्यारह अहंकारों से बनते हैं वे इन्द्रियाँ हैं। इस सूत्र में कहा है कि प्राणी के कार्य करने के साधन तेरह हैं। तेरह इनके परस्पर कार्य में भेद से कहे हैं।

पाँच बाहर का ज्ञान भीतर ले-जाने के लिए हैं; इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं; ये भीतर के आदेश से कार्य करती हैं। इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों को भीतर एक करनेवाले को अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रियों के सन्देश मन को देता है। मन जीवात्मा को ज्ञान से सूचित करता है। जीवात्मा बुद्धि से सम्मति करता है। सम्मति के उपरान्त मन के द्वारा अन्तःकरण को और उसके द्वारा कर्मेन्द्रियों को कार्य करने का आदेश देता है।

अन्तःकरण मस्तिष्क का वह भाग है जहाँ कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और मन परस्पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में आते हैं।

इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—मनुष्य के पास कार्य के साधन तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक अन्तःकरण, एक मन, एक बुद्धि।

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—इन्द्रियेषु, साधकतमत्वयोगात्, कुठारवत्।

अर्थात्—इन्द्रियों में (करणों का) अत्यन्त साधक होने के सम्बन्ध से (ऐसा है) जैसे कुल्हाड़ा।

कुल्हाड़ा स्वतः कार्य नहीं करता। कार्य करनेवाला लकड़हारा होता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों में करण साधन के रूप में साधन बनके ही कार्य करते हैं, जैसे लकड़हारे के हाथ में कुल्हाड़ा कार्य करता है। कार्यकर्त्ता जीवात्मा है।

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥

पदच्छेद—द्वयोः, प्रधानम्, मनः, लोकवत्, भृत्यवर्गेषु।

अर्थात्—दोनों का (यहाँ 'द्वयोः' षष्ठी विभक्ति में है) प्रधान मन है, जैसे संसार में भृत्यों में (काम लेनेवाला चौधरी) होता है।

जैसे कर्मचारियों का चौधरी होता है वैसे ही कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का प्रधान मन है, भृत्य-वर्गों में चौधरी की भाँति।

यहाँ दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'द्वयोः' का अर्थ हमने कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ किया है। मन इन्द्रियों में नहीं है। यद्यपि 'द्वयोः' का रूप सप्तमी में भी यही है, परन्तु अपने पूर्व के कथन (सूत्र २-३९) के अनुरूप मन को इन्द्रियों में न मानकर इन्द्रियों का प्रधान माना है। 'वर्गेषु' से अभिप्राय है भृत्य-वर्ग अर्थात् इन्द्रियों में। यह हम बता चुके हैं कि करण इन्द्रियाँ भी हैं और इन्द्रियों के अतिरिक्त भी हैं। अतः मन करणों में तो है, परन्तु यह इन्द्रियों का प्रधान है। करणों में बुद्धि भी है, परन्तु मन पर बुद्धि का प्रभाव नहीं है।

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—अव्यभिचारात्।

अर्थात्—नियत सम्बन्ध होने से।

अव्यभिचारात् व्यभिचार के उलट को कहते हैं। व्यभिचार का अभिप्राय है अनियमित। व्यभिचार का अर्थ मोनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोष में लिखा है—going apart or astray।

इसे ही हमने 'अनियमित' कहा है।

सूत्र के अर्थ ये हैं कि मन का कार्य नियमित है; अनियमित नहीं। यह नियत विधि से कार्य करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—तथा, अशेषसंस्कार-आधारत्वात्।

अर्थात्—और अशेष (शेषरहित अर्थात् सम्पूर्ण संस्कारों का आधार) होने से। यह मन प्रधान (मुख्य) है और प्रधान तथा चौधरी।

पूर्व के सूत्र (२-४०) में कहा है कि मन प्रधान है। यहाँ उसके प्रधान होने में कारण वर्णन किया गया है। यह कहा है कि सम्पूर्ण संस्कारों का आधार होने के कारण यह है, अर्थात् यह प्रधान है। प्रधान होने का एक कारण यह बताया गया है कि यह इन्द्रियों से कार्य लेता है जैसे भृत्यों का मुखिया भृत्यों से काम लेता है। यह सूत्र २-४० में कहा है, और यहाँ इसके प्रधान होने में कारण कहा है कि यह संस्कारों का आधार है।

संस्कार ज्ञान के संचय को कहते हैं। यह (मन) ज्ञान का संचय-स्थान है। इस कारण यह प्रधान है। मनुष्य का पूर्ण ज्ञान मन पर आश्रय पाता है।

स्मृत्यनुमानाच्च ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—स्मृति-अनुमानात्, च।

अर्थात्—स्मरण रखने से अनुमान से (भी यह प्रधान है)।

मन के प्रधान होने में दो अन्य कारण बताए हैं—स्मृति का आधार होने के कारण और अनुमान में कारण होने के कारण।

स्मृति और संस्कारों में भेद है। कोई कर्म बार-बार किया जाए तो उसका प्रभाव मन पर स्थिर हो जाता है और कार्य करने में वह प्रेरणा देने लगता है। स्मृति सुखकारक तथा दुःखकारक, दोनों प्रकार के कर्मों की होती है, यद्यपि यह भी भावी कार्य में पथ-प्रदर्शक होती है। स्मृति की अवस्था में कार्य उसके प्रकाश में विचार का विषय होता है, परन्तु संस्कार बुद्धि के क्षेत्र से बाहर होते हैं। संस्कारों द्वारा कार्य तो स्वभाववश होने लगते हैं।

अतः संस्कारों के अतिरिक्त मन स्मृति का तथा अनुमान का भी आश्रय-स्थान है। अनुमान स्मृति के आधार पर ही हो सकता है। अनुमान के लक्षणों में कहा है कि जब पूर्व-ज्ञान से किन्हीं दो पदार्थों अथवा घटनाओं का व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होना पता चल जाए, तब एक के होने पर दूसरे की उपस्थिति सिद्ध मानी जाती है। व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध स्मृति से ही पता चलता है।

अतः मन के प्रधान होने में स्मृति और अनुमान का आधार होना भी कारण है।

सम्भवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—सम्भवेत्, न, स्वतः।

अर्थात्—(यह जो कुछ ऊपर बताया गया है मन, इन्द्रियों इत्यादि के विषय में) अपने-आप नहीं होता।

ये जड़ पदार्थ हैं। जड़ बिना किसी चेतन के आक्षेप के कार्य नहीं करते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—आपेक्षिकः, गुणप्रधानभावः, क्रियाविशेषात्।

अर्थात्—(मन में) गुणप्रधान का होना (इसके) विशेष कार्यों के कारण है, अपेक्षा से।

करण तेरह बताए हैं और तेरह ही कार्य करते हैं। अतः इनके कार्यों में परस्पर तुलना करने से मन के विशेष कार्य होने के कारण, वह प्रधान है।

अतः मन के प्रधान होने में जहाँ ऊपर तीन कारण बताए हैं, वहाँ एक चौथा कारण भी बताया है। वह यह कि सब करणों की अपेक्षा मन का कार्य विशेष है। इस कारण मन विशेष है। अपने कार्य में विशेषता के कारण यह प्रधान माना जाता है। अन्य कोई करण यह कार्य नहीं कर सकता। मन के कार्य हैं स्मृति, संस्कार-संचय, अनुमान में सहायता देना। यह है अन्य करणों से विलक्षणता।

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—तत्-कर्मार्जितत्वात्, तदर्थम्, अभिचेष्टा, लोकवत्।

अर्थात्—उस (चेतन) के लिए कर्म द्वारा अर्जित होने से उस (जीवात्मा) के लिए कार्य की प्रवृत्ति है जैसे संसार में होता है।

इस सूत्र में दोनों स्थान पर 'तत्' के अर्थ जीवात्मा हैं। 'तदर्थम्' से अभिप्राय है जीवात्मा के लिए। अतः सूत्रार्थ है—जीवात्मा के अर्जित कर्मों से चेष्टा (प्राणी में क्रिया) होती है। कर्म जीवात्मा के लिए ही होते हैं। संसार में नित्य देखते हैं कि प्राणी अपने जीवात्मा की तुष्टि के लिए कर्म करता है।

इसका सरल भाषा में अभिप्राय यह है कि पूर्व किए हुए कर्म ही वर्तमान जन्म में कर्म को प्रेरणा देते हैं और ये कर्म जीवात्मा के लिए ही होते हैं। वही कर्त्ता है। वही भोक्ता है।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—समानकर्मयोगे, बुद्धेः, प्राधान्यम्, लोकवत्, लोकवत्।

अर्थात्—समान कर्मों के सम्बन्ध में बुद्धि की प्रधानता है, जैसे संसार में होती है।

समान कर्म का अर्थ वे कर्म हैं जो समान उद्देश्यों से किए जाएँ। प्रश्न उत्पन्न होता है कि अ-समान कर्म कौन-से हैं और उनका कर्मों से क्या भेद है?

सूत्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि दैनिक व्यवहार के कर्म जैसे खाना-पीना, सोना-जागना इत्यादि, ये कर्म जीवन-यापन के लिए इन्द्रियों द्वारा होते हैं। इन कर्मों में बुद्धि का प्रधानत्व है, अर्थात् इन कर्मों का काल, दिशा इत्यादि में बुद्धि का निश्चय मुख्य है। असमान कर्म हैं योगाभ्यास में धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि। जब योगाभ्यास में योगी का कार्य इस स्तर पर पहुँच जाता है, तब जीवात्मा बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझता। उसमें तब बहुत विकास की आवश्यकता नहीं रह जाती।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा समस्याओं के रहस्य का साक्षात्कार करने लगता है।

इस सूत्र में तो समान कर्मों की बात ही कही गयी है। उनमें बुद्धि की सहायता ली जाती है। बुद्धि जैसी होती है वह सम्मति देती है। गीता में बुद्धियाँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। बुद्धि अपने ढंग की ही सम्मति जीवात्मा को देती है और जीवात्मा धर्म-अधर्म के कार्य करता है।

यह दर्शन-शास्त्रकारों का स्वभाव है कि जब अध्याय अर्थात् प्रकरण समाप्त करते हैं तो अन्तिम पद को दो बार लिख देते हैं।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय का सारांश

शरीर-रचना अधिकरण (सूत्र ३-१ से ३-९ तक)

अविशेषों से विशेष बनते हैं। अविशेष हैं प्रकृति—महत्—अहंकार—तन्मात्रा—इन्द्रियाँ। विशेष हैं पंच महाभूत और इनसे बना कार्य-जगत्। विशेष का अभिप्राय है जगत् की-सी विशेषता रखनेवाले पदार्थ। ये हैं पंच महाभूत और उनसे निर्मित पदार्थ। परिमण्डलों के भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों को पंच महाभूत कहते हैं। अविशेषों में जगत् की विशेषता रूप, रस, गन्धादि नहीं होती। परिमण्डल से अभिप्राय ऐटम से है।

अविशेषों से सूक्ष्म शरीर और विशेषों से स्थूल शरीर बनता है। शरीर ऐसे ही बनते हैं और बिगड़ते हैं, जैसे बीज और पेड़ परस्पर बदलते रहते हैं। शरीर का बीज है भ्रूण जो शुक्राणु और स्त्री के डिम्ब के संयोग से बनता है। इसे शुङ्ग भी कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर तो सृष्टि की रचना के आरम्भ में बनता है और वह प्रलय-काल तक बना रहता है, अथवा जब इसमें बसनेवाले जीवात्मा को विवेक हो जाता है। स्थूल शरीर तब तक बना रहता है जब तक भोग की प्रवृत्ति है। जीवात्मा विवेक प्राप्त करने तक एक ही सूक्ष्म शरीर में बँधा रहता है। परन्तु स्थूल शरीर तो बदलता रहता है।

जीवात्मा दोनों प्रकार के शरीरों से लिपटा रहता है। जब इसका स्थूल शरीर छूटता है तो कुछ (बहुत कम) काल के लिए यह केवल सूक्ष्म शरीर में रहता है और शीघ्रातिशीघ्र नए स्थूल शरीर में चला जाता है। सूक्ष्म शरीर तो बना रहता है।

स्थूल शरीर पिता के शुक्र और माता के डिम्ब से बनता है। आदि-सृष्टि में सूक्ष्म शरीर अविशेषों से बना था और स्थूल-शरीर विशेषों से। सूक्ष्म शरीर भोग (अन्नादि का) नहीं करता। स्थूल शरीर अन्नादि का भोग करता है।

स्थूल शरीर के अट्ठारह लिंग हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, और पंच महाभूत।

सूक्ष्म शरीर, क्योंकि अविशेषों से बना है, इस कारण उसके आठ लिंग हैं—प्रकृति, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्रा।

प्राणी-रचना अधिकरण (सूत्र ३-१० से ३-२२ तक)

विशेष कर्मों से प्राणी-प्राणी में भेद का पता चलता है। इसे सूत्रकार व्यक्ति के नाम से सम्बोधित करता है। कर्म करनेवाला जीवात्मा है, परन्तु कर्म करणों से ही हो सकता है। इस कारण सशरीर जीवात्मा का वर्णन है।

जीवात्मा शरीर में अधिष्ठित होकर कर्म कर सकता है और शरीर ऐसे कार्य करता है जैसे मनुष्य की छाया कर्म करती है। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर बिना जीवात्मा के स्वतः कुछ नहीं कर सकता। जीवात्मा और शरीर के संयोग (संयुक्त) होने पर ही कर्म

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Gurukul Kangri Vishwavidyalaya

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। संघात के न होने पर भी शरीर में क्रियाएँ होती रहती हैं। ये दो अवस्थाओं में होती हैं। एक तो जब शरीर का माँ के पेट में बीजारोपण होता है, तब कुछ दिन तक जीवात्मा का संघात (शरीर) से सम्पर्क नहीं होता; तब भी भ्रूण बढ़ता रहता है। दूसरे, जब प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब भी शरीर में विघटनात्मक क्रियाएँ होती रहती हैं। क्रियाएँ ऐसी ही हैं जैसे सूर्य में होती रहती हैं। वहाँ (सूर्य में) विघटन होता रहता है।

ये क्रियाएँ चेतन के ईक्षण के बिना होती रहती हैं। इनका काल, दिशा, स्थान निश्चित हैं, वे बदल नहीं सकते। शरीर में जीवात्मा अणुमात्र है और शरीर अन्नमय है। यह अन्न से बनता है। जीवात्मा का अन्नमय स्थूल-शरीर पंचभौतिक है।

कुछ-एक आचार्य शरीर को चार भूतों से बना हुआ मानते हैं। उनका विचार है कि आकाश तो सर्वव्यापक है, जैसे परमात्मा सर्वव्यापक है। कुछ दूसरे इसे एक भूत पृथिवी का ही बना हुआ मानते हैं।

सूत्रकार इन आचार्यों के मत का खण्डन करता है। वह युक्ति करता है—एक-एक भूत में चैतन्य नहीं। यदि ऐसा मानें तो मरण-जन्म की बात व्यर्थ हो जायेगी। एक-एक भूत पृथक्-पृथक् होता ही है। प्रपंच जन्म-मरण ही है।

मद्य में मिले अवयवों में शक्ति नहीं होती। इनके मिलने से ही शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति चेतना नहीं, अर्थात् प्रत्येक भूत चेतनारहित है। इस कारण पाँचों मिलकर भी चेतना नहीं, क्योंकि मद्य-शक्ति चेतना नहीं है।

मुक्ति अधिकरण (सूत्र ३-२३ से ३-४५ तक)

ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान के विपरीत बन्ध (जन्म-मरण) प्राप्त होता है। मुक्ति नियत कारण से प्राप्त होती है और अन्य कारणों का इसकी प्राप्ति में सहयोग नहीं। न ही ज्ञान का कुछ विकल्प (बदल) है।[१]

मनुष्य की स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था, दोनों मोक्ष की अवस्था से तुलना नहीं रखतीं। मोक्ष दोनों से विलक्षण है।

मुक्ति-प्राप्ति में जिन दूसरे (ज्ञान के अतिरिक्त) उपायों का सहयोग है उनका प्रभाव चिरकाल तक नहीं रहता।

जिसकी भावनाएँ सिद्ध हो गई हैं अर्थात् जो कामनारहित हो जाता है, वह मोक्ष की ओर ऐसे चला जाता है जैसे प्रकृति नियम से चलती जाती है। तब उसे अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कामनारहित कैसे हुआ जा सकता है? इसके लिए योग-साधना का उपाय बताया है।

राग पर नियंत्रण करने को ध्यान कहते हैं। ध्यान की प्राप्ति के लिए चित्त की वृत्ति (व्यापार) पर नियंत्रण करना चाहिए। इससे ध्यान की सिद्धि होती है। धारणा, आसन और कर्मों पर अनुशासन से ध्यान की सिद्धि होती है। अपने कर्मों पर नियंत्रण का अभिप्राय है प्राणायाम। प्राण सात हैं। एक अन्य दृष्टि से वे पाँच भी कहे हैं। उन्हें रोकना (नियंत्रित

---

१. यहाँ हमने ब्रह्मसूत्रों से भिन्न मत का वर्णन किया है। इसका इस सूत्र पर भाष्य देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना) भी प्राणायाम कहा है। छर्दीवत्, श्वास निकालने और श्वास को अन्दर रोकने को निर्धारण कहते हैं। ऐसे ही सब प्राणों के लिए कहा है। प्राणायाम करने के लिए तथा धारणा, ध्यान और समाधि के लिए स्थिर और सुखकारक आसन का अभ्यास करना चाहिए।

अपने वर्ण और आश्रम के कर्म ठीक तरह से करने में बाधा नहीं होती। अभ्यास से अर्थात् योगाभ्यास से और वैराग्य से मुक्ति प्राप्त होती है। इससे उलटा मार्ग बन्ध में फँसने का है। ये पाँच हैं। इन्हें योगदर्शन में क्लेश कहते हैं। अशक्तियाँ जो मोक्ष की ओर जाने में रुकावटें हैं, वे अट्ठाइस की संख्या में कही हैं (व्याख्या-ग्रन्थ के भाष्य में अथवा योगदर्शन में पढ़नी चाहिएँ।)। तुष्टियाँ नौ हैं और सिद्धियाँ आठ हैं।

इन भेदों के प्रभेद भी हैं।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। इनके भी अवान्तर भेद हैं। प्रत्येक का विपर्यय (उलट) भी है। उससे कार्य का विरोध होता है।

प्राणी-सृष्टि अधिकरण (सूत्र ३-४६ से ३-५५ तक)

पूर्व-कल्प के कर्मों से वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा से लेकर स्थावर (वनस्पतियों) की सृष्टि तक सब जीवात्मा (प्राणियों) में भेद हुआ है। सत्त्वगुण-प्रधान उन्नत प्राणी बनते हैं। तमोगुण-प्रधान निकृष्ट जीव होते हैं और मध्य में रजोगुण-प्रधान होते हैं।

संसार में ऊँची-से-ऊँची योनि (स्थिति) प्राप्त करना मोक्षावस्था से छोटी ही है, क्योंकि सब योनियों में मरण और वृद्धावस्था बनी रहती है और यही दुःख का कारण है। ये नीची-ऊँची योनियाँ ऐसी हैं जैसे कोई डूबा हुआ प्राणी जल की नीची तथा ऊँची सतह पर आ जाए। डूबा हुआ तो डूबा हुआ ही है। (यहाँ सांख्य का वेद से मतभेद प्रतीत होता है। इसे हम यथास्थान भाष्य करते हुए स्पष्ट करेंगे।)

जीवात्मा कर्म करना छोड़ दे, तब भी वह प्रकृति के अधीन कार्य करता ही रहता है। यह कर्महीन कभी नहीं हो सकता।

ईश्वर अधिकरण (सूत्र ३-५६ से ३-५७ तक)

वह (परमात्मा) ही सर्वज्ञ और सबको धारण करनेवाला है। ऐसे परमात्मा की सिद्धि युक्ति से हो सकती है।

प्रधान अधिकरण (सूत्र ३-५८ से ३-७८ तक)

प्रकृति का व्यवहार ऐसा ही है जैसे उस ऊँट का होता है जिसकी पीठ पर केसर लदा हुआ हो। यह अचेतन होती है। इस पर भी यह ऐसे कार्य करती है जैसे माँ के स्तनों से बच्चे को देखकर दूध द्रवित होने लगता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि प्रधान की चेष्टाएँ ऐसी होती हैं जैसे काल की गति में वस्तुएँ रूपादि बदलती रहती हैं। अकारण स्वभाववश चेष्टा होती रहती है जैसे बुढ़ापा आता है और मृत्यु आती है। प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए कर्म का आकर्षण अनादि है।

विवेकी व्यक्ति के लिए प्रधान की गति अर्थहीन हो जाती है। संसार के पदार्थ तो वैसे बदलते रहते हैं जैसे हमने ऊपर बताया है। परन्तु विवेकी आत्मा अपने को प्रधान के कार्यों से पृथक् मानने लगता है। उदाहरण के रूप में शरीर युवा, वृद्ध और मृत्यु को प्राप्त होता है। विवेकी जीवात्मा अपने को इन परिवर्तनों से पृथक् समझता है।

जब प्रकृति की गति समाप्त हो जाती है अथवा जब जीवात्मा इस गति से पृथक् हो जाता है अथवा जब दोनों गति से पृथक् हो जाते हैं तो यह अपवर्ग कहलाता है। प्रलय-काल में प्रकृति की गति समाप्त हो जाती है और जीवात्मा अविवेकी होने पर भी प्रकृति से अपने को पृथक् (अलिप्त) कर लेता है, अथवा जब दोनों ही ऐसे हो जाते हैं तब की स्थिति अपवर्ग की होती है।

वे जीवात्माएँ जो विवेक प्राप्त नहीं करते, वे सृष्टि के मोह में लीन होने से संसार से विरक्त (पृथक्) नहीं होते। भले ही वे जान जायें कि यह संसार रज्जु की भाँति निरीह नहीं, वरन् साँप की भाँति भयंकर है। मोह में फँसे हुए इसमे रत रहते हैं। कर्म भोग-प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। अतः भोग में फँसे हुए लोग संसार से विरक्त नहीं होते।

कुछ लोग भोगों से तृप्त होकर भोगों को छोड़ देते हैं, जैसे किसी सभा में नर्तकी का नाच देखनेवाले जब तृप्त हो जाते हैं तो वे नाच देखने के बाद चल देते हैं। यह भी होता है कि प्रकृति के भोग में दोष का ज्ञान होने पर जीवात्मा प्रकृति के भोगों को ऐसे छोड़ देता है जैसे पत्नी के रजस्वला होने पर पति उसे भोग्या नहीं मानता। दोनों अवस्थाओं में विवेक नहीं कहा जा सकता। यह मुक्त अवस्था की ओर जाना नहीं है। मुक्तावस्था विवेक से ही सम्भव है। प्रकृति के संग में रहता हुआ जीवात्मा ऐसे ही व्यवहार करने लगता है जैसे पशु करते हैं। पशु जब पेट भर लेते हैं तो खाना छोड़ देते हैं। जब भूख लगती है तो खाने लगते हैं।

शरीर सात प्राणों से कार्य करता है अर्थात् इसके द्वारा ही वह जीवात्मा को बाँधकर रखता है। रेशम के कीड़े की भाँति जीवात्मा एक ही मार्ग से अपने कोष से बाहर निकलता है। यह मार्ग विवेक का है। अविवेक बन्ध का कारण है और विवेक मुक्ति का कारण है। विवेक है पुरुष-प्रकृति में भेद का ज्ञान होना।

पुरुष नहीं है—जो लोग ऐसा मानते हैं, वे विवेक प्राप्त नहीं कर सकते। पुरुष से अभिप्राय चेतन तत्त्व है। चेतन तत्त्व दो हैं।

मोक्षाधिकरण (सूत्र ३-७९ से ३-८४ तक)

ऊपर बताया है कि प्रकृति भी कर्म करती है और जीवात्मा भी। सूत्रकार कहता है कि इनमें भेद करने से कुछ लाभ नहीं। कारण यह कि प्रकृति में जीवात्मा ही कार्य करता है और वह ही फल का अधिकारी है।

कोई कहे कि मिठाई स्वादिष्ट है। इस कारण दोष मिठाई का है कि इसे मात्रा से अधिक खाया जाता है। सूत्रकार कहता है कि कार्य तो दोनों, मिठाई अपनी मिठास से और जीवात्मा इसे खाने से करता है। परन्तु उत्तरदायी जीवात्मा ही है। कारण, खाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी प्रेरणा के बिना नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि जीवात्मा विवेक-युक्त हो गया है, परन्तु उसके पूर्व के कर्म-फल अभी शेष हैं। तब विवेकी जीवात्मा उन फलों को भोगने के लिए इस संसार में रहता है । ऐसे व्यक्ति जीवन-मुक्त कहे जाते हैं।

विवेक-प्राप्ति के लिए उपदेष्टा और उपदेश्य दोनों का होना आवश्यक है। जीवन-मुक्त ही उपदेष्टा हो सकते हैं। अतः ऐसा नहीं होगा तो अन्ध प्रथा चल पड़ेगी। अन्धा अन्धे को मार्ग दिखाने की भाँति हो जाएगा।

जीवन-मुक्त व्यक्ति अपना जीवन ऐसे चलाता है कि कुम्हार का चक्र सम्वेग के कारण चलता रहता है। संस्कारों के कारण ऐसा होता है। वे संस्कार ही जीवन-मुक्त प्राणी को लिये चलते हैं।

विवेस से ही पुरुष कृत-कृत्य (अपने कार्य में सफल) होकर मोक्ष प्राप्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

शरीर रचना अधिकरण

अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥

पदच्छेद—अविशेषात्, विशेषारम्भः ।

अर्थात्—अविशेष से विशेष का आरम्भ होता है ।

अविशेष रचना-क्रम में उन पदार्थों को कहते हैं जिनमें जगत् की विशेषताएँ विद्यमान नहीं होतीं, और विशेष उन पदार्थों को कहते हैं जिनमें जगत् की विशेषताएँ विद्यमान हों । यहाँ अविशेष और विशेष एकवचन में कहे गये हैं । परन्तु ये एक नहीं हैं । ये शब्द पदार्थों की श्रेणियाँ वर्णन करते हैं ।

जगत् की विशेषताएँ क्या हैं ? ये हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द । सृष्टि-क्रम में बननेवाले पदार्थों में कुछ में ये होती हैं और कुछ में नहीं होतीं । यह स्वीकार किया गया है कि ये विशेषताएँ पंच महाभूतों में होती हैं । साथ ही पंच महाभूतों से निर्मित पदार्थों में भी ये होती हैं ।

सृष्टिरचना-क्रम का वर्णन हम पहले कर चुके हैं । वह इस प्रकार है—

इस क्रम में जगत् की विशेषताएँ जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, वे पंच-महाभूत तथा उससे निर्मित पदार्थों में पायी जाती हैं । इसमें कारण विशेष हैं अर्थात् पंच-महाभूत तथा उनसे बने पदार्थों में ।

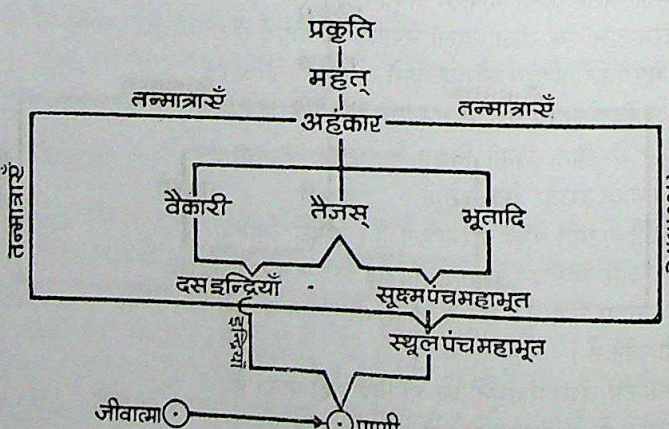

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह स्पष्ट है कि महत्—अहंकार—तन्मात्रा—इन्द्रियाँ—अन्तःकरण अविशेष हैं और यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि कुछ भाष्यकार तन्मात्राओं और सूक्ष्म भूतों को अविशेष कहते हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री अविशेष-विशेषों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"सांख्य में 'अविशेष' पाँच सूक्ष्म भूतों अथवा तन्मात्राओं का नाम है। इन्हें 'तन्मात्रा' इसलिए कहा जाता है कि समस्त स्थूल जगत् के ये ऐसे कारणी-भूत-तत्त्व हैं जिनमें अभी तक, जगत् की अनुभूयमान विशेषताओं का उदय नहीं हुआ होता।"

सूक्ष्म भूतों को हम अविशेष नहीं मानते । इसमें कारण यह है कि सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत में किसी प्रकार का क्रम-भेद नहीं हुआ है।

जिस समय परिमण्डल बनते हैं, तब ही ये सूक्ष्म भूतों का स्वरूप होते हैं और परिमण्डल बनते ही इनमें रूप आ उपस्थित होता है। रूप कार्य-जगत् की एक विशेषता है।

वैशेषिक दर्शन में कहा है कि जब अहंकारों में गति (चक्राकार गति) उत्पन्न होती है तो परिमण्डल बनते हैं, और जब परिमण्डलों की सृष्टि होती है तब ही इसमें रूप की विशेषता प्रकट हो जाती है। सूक्ष्म महाभूत और स्थूल महाभूत में तो अन्तर केवल इतना है कि परिमण्डल जब एक-एक और पृथक्-पृथक् होते हैं तो सूक्ष्म होते हैं, और जब इनके समूह बन जाते हैं तो ये स्थूल रूप में आ जाते हैं।

परिमण्डल वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में ऐटम कहे जाते हैं। एक ऐटम की बनावट के विषय में एन्साक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में इस प्रकार कहा है—

...that an atom consists of a loose structure of electrons surrounding a heavy central core, the nucleus. It was later discovered that the nucleus consists of positively charged particles called protons and other particles of about the same weight but without charge called neutrons.

(Enc. Brit, Ed. 1967, Vol. 2, page 716 d.)

इसका सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकार है—

परिमण्डल एक ढीली-ढाली बनावट का पदार्थ होता है जिसमें तैजस अहंकार के कण एक भारयुक्त केन्द्रीय कोर के चारों ओर घूमते हैं और घेरे होते हैं। कालान्तर में यह विदित हुआ कि केन्द्रीय कोर में धन-विद्युत् के आवेशवाले कण (वैकारिक अहंकार) और दूसरी प्रकार के बिना किसी विद्युत् के आवेश के कण (भूतादि अहंकार), जो भार में वैकारिक कण के बराबर होते रहते हैं।

यह है ऐटम। यही परिमण्डल है। इसकी व्याख्या ऋग्वेद १-३२ में कही है। इसका भार और रूप बन जाता है तो यह विशेष कहा जाता है। ऐटम ही सूक्ष्म भूत है और अहंकारों से बना है। जब बहुत-से परिमण्डल संयुक्त होते हैं तब वे स्थूल महाभूत का रूप हो जाते हैं।

अतः हम सूक्ष्म महाभूतों को भी विशेष ही मानते हैं।

तन्मात्रा तो अपने रूप हीन से अविशेष ही है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहा है कि अविशेष विशेषों का आरम्भ होता है। अभिप्राय यह है कि अहंकारों से परिमण्डल बनते हैं।

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

पदच्छेद—तस्मात्, शरीरस्य।

अर्थात्—उस (स्थूल भूत-समुदाय) से, अभिप्राय विशेष से शरीर का (आरम्भ है)।

सूत्र ३-१ में कहा है कि अविशेष से विशेष का बनना आरम्भ होता है। यहाँ कहा है कि विशेषों से स्थूल शरीर बनता है।

यहाँ क्रम स्पष्ट है कि अविशेष—विशेष—शरीर।

कुछ भाष्यकार ऐसा भी कहते हैं—अविशेष—विशेष—सूक्ष्म शरीर—स्थूल शरीर।

अविशेषों की व्याख्या हम सूत्र ३-१ के भाष्य में कर आए हैं।

अविशेष हैं—प्रकृति, महत्, अहंकार, और तन्मात्रा—इन्द्रियों की शक्ति।

विशेष हैं पंच महाभूत तथा उनसे बने कार्य-जगत् के सब पदार्थ।

सूक्ष्म महाभूत भी परिमण्डलीय अवस्था में हैं। इस कारण वे भी विशेषों में ही कहे जाने चाहिएँ। तन्मात्रा (हमारे विचार में) शक्ति की तरंगें हैं जो अहंकारों से निकलती रहती हैं। वे वस्तु नहीं हैं। इस कारण वे परिमण्डलीय अवस्था में नहीं कही जा सकतीं। अतः अविशेष हैं।

तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तद्-बीजात्, संसृतिः।

अर्थात्—संसरण (परिवर्तन) [ऐसे ही है] जैसे बीज से (पेड़ होता है)।

हमारा मत है कि यह सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के विषय में नहीं कहा गया। यह अविशेष और विशेषों के विषय में कहा गया है। इस रचना और चेतन में अविशेषों से विशेष और फिर विशेष से अविशेष ऐसे ही बनते रहते हैं, जैसे बीज से पेड़ और पेड़ से बीज। यहाँ ऐसा नहीं जैसा कुछ-एक भाष्यकारों ने कहा है कि सूक्ष्म शरीर बीज है और स्थूल शरीर पेड़ है। हम इसे इस सूत्र की अशुद्ध विवेचना मानते हैं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का बीज नहीं है। यह सिद्ध है कि स्थूल शरीर बदलता रहता है और सूक्ष्म शरीर बना रहता है। परन्तु बीज के नष्ट होने पर ही पेड़ बनता है; यह शरीरों की अवस्था में नहीं होता।

तनिक विचार करें कि बीज और पेड़ का क्या सम्बन्ध है? बीज भूमि में पड़ता है और बीज के कोषाणुओं से, उनमें विखण्डन से और अधिक कोषाणु बनते हैं। इससे प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या सूक्ष्म शरीर भी कोषाणुओं से बना है? कोषाणु तो खुर्दबीन से दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म शरीर दिखाई नहीं देता। वह एक कोषाणु से भी बहुत सूक्ष्म होता है। अतः हमारा मत है कि सूक्ष्म शरीर कोषाणुओं का नहीं बना और यह बीज से पेड़ की भाँति का परिवर्तन नहीं। वास्तव में इन सूत्रों में सूक्ष्म शरीर का कथन नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ अविशेषों से विशेषों की उत्पत्ति और विशेषों के विघटन से अविशेषों का बनना ही कहा है।

इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि विशेष का बनना बीज और पेड़ की भाँति होता है। यह अर्थ ठीक ही है।

यह दूसरा अर्थ अगले सूत्र से भी सिद्ध होता है—

आ विवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—आ, विवेकात्, च, प्रवर्त्तनम्, अविशेषाणाम्।

अर्थात् अविशेषों में प्रवर्त्तन रहता है जब तक जीवात्मा में विवेक नहीं हो जाता।

प्रवर्त्तन अविवेक से रहता है। प्रवर्त्तन का अर्थ है उनका व्यवहार में रहना। अतः सूत्र का अर्थ है कि जब तक जीवात्मा अविवेकी रहता है—अविशेष, अभिप्राय यह कि सूक्ष्म शरीर, बना रहता है। अविशेष व्यवहार में रहते हैं। वे सूक्ष्म शरीर बनाए रखते हैं। सूत्र-संख्या ३-३ में जो बीज और पेड़ की समानता बतायी है, वह स्थूल शरीर की है। बीज और पेड़ के उदाहरण में तो यह है कि स्थूल शरीर के विशेष अर्थात् परिमण्डल संघटित और विघटित होते रहते हैं। परन्तु अविशेषों में जब वह सूक्ष्म शरीर बना होता है, किसी प्रकार का संगटन-विघटन नहीं होता। सूक्ष्म शरीर बनता है जब प्राणी-रचना आरम्भ होती है और सूक्ष्म शरीर प्रलय-काल तक बना रहता है। इसका प्रवर्त्तन बना रहता है। रचना और लय के मध्य में यह प्रवर्त्तन तब टूटता है जब जीवात्मा विवेक द्वारा मुक्त हो जाता है।

उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

पदच्छेद—इतरस्य, उपभोगात्।

अर्थात्—दूसरे का (शरीर बना रहता है) उपभोग से।

सूत्र ३-४ में कहा है कि अविशेषों में प्रवर्त्तन (व्यवहार) तब तक रहता है जब तक अविवेक रहता है, और सूत्र ३-५ में कहा है कि दूसरे (स्थूल शरीर) में प्रवर्त्तन (व्यवहार) तब तक बना रहता है जब तक भोग रहते हैं। भोग समाप्त होते हैं जब भोगों की इच्छा नहीं रहती, अथवा जब भोगों की सामग्री नहीं रहती। यह विवेक होने से होता है। ऐसी अवस्था में न स्थूल शरीर रहता है और न सूक्ष्म शरीर। दूसरी अवस्था तब होती है, जब प्रलय-काल होता है और भोग-सामग्री का लय हो जाता है। वैसे तो दोनों समय में दोनों शरीर छूट जाते हैं। अन्तर यह होता है कि शरीरों के छूट जाने से जीवात्मा एक में तो मुक्त हो जाता है, प्राकृतिक बन्धन से छूट जाता है, परन्तु वह जाग्रत् रहता है। दूसरी अवस्था में जीवात्मा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, वरन् सो जाता है।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—सम्प्रति, परिष्वक्तः, द्वाभ्याम्।

अर्थात्—अब [जीवात्मा] रहता है दो (प्रकार के शरीरों) से।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS
CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब का अर्थ है जब तक विवेक नहीं होता, अथवा जब तक भोगों में रुचि रहती है, अथवा भोग उपस्थित रहता है। यहाँ यह नहीं बताया कि स्थूल शरीर छूटने पर और नया शरीर मिलने से पूर्व, बीच के काल में भी क्या दोनों शरीर रहते हैं? ब्रह्मसूत्र में कहा है कि जीवात्मा लिपटा हुआ जाता है एक शरीर से दूसरे शरीर में। यद्यपि वहाँ यह बताया है कि इससे शरीर बदलने में विलम्ब नहीं होता, इस पर भी यह स्पष्ट है कि संसरण-काल में स्थूल शरीर नहीं होता। यहाँ सांख्यदर्शन में संसरण-काल की बात नहीं बतायी। कदाचित् यह इस कारण कि यह काल बहुत न्यून होता है।

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा ॥ ७ ॥

पदच्छेद—माता-पितृजम्, स्थूलम्, प्रायशः, इतरम्, न, तथा।

अर्थात्—स्थूल शरीर माता-पिता से उत्पन्न होता है प्रायः, और दूसरा नहीं।

स्थूल शरीर मृत्यु के समय विखण्डित हो जाता है और जीवात्मा सूक्ष्म-शरीर में लिपटा हुआ अपने नए शरीर में चला जाता है। वह नया शरीर माता-पिता के रेतस् से उत्पन्न हुआ होता है।

प्रायशः का अर्थ है प्रायः। इसमें अपवाद है जब प्रलय के उपरान्त प्रथम प्राणी की रचना होती है।

बीज सूक्ष्म-शरीर नहीं। बीज स्थूल-शरीर का ही प्रारूप है। बीज बन जाने के उपरान्त ही सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को लिये हुए आता है।

श्री उदयवीर शास्त्री 'प्रायशः' का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

'चालू सर्ग-काल में भी स्वेदज, यूका, लिक्षा आदि कृमि, तथा अन्य अनेक प्रकार के उष्मज कृमि-कीटादि अयोनिज होते हैं। उनके स्थूल शरीर भी मातृ-पितृजन्य नहीं होते। इसीलिए सूत्र में 'प्रायशः' पद का निर्देश किया गया है।'

यह अशुद्ध कथन है। कारण यह कि माता-पिता से सूत्रकार का अभिप्राय योनि नहीं। ये कृमि इत्यादि भी अयोनिज नहीं। योनियों के भीतर सन्तान के कुछ काल तक पलने का स्थान है। माता-पिता से अभिप्राय शुक्राणु और अण्ड से है। इनके बिना स्थूल शरीर नहीं होता। कृमि इत्यादि में योनि माँ के शरीर के बाहर होती है। पक्षियों में भी अण्डा माँ के पेट से बाहर आता है और फिर उसमें शुक्राणु जाता है और स्थूल शरीर बनता है। अतः 'प्रायशः' का अभिप्राय उन स्थूल शरीरों से ही है जो आदि-सृष्टि के समय सूर्य और पृथिवी से बने।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥ ८ ॥

पदच्छेद—पूर्वोत्पत्तेः, तत्कार्यत्वम्, भोगात्, एकस्य, न, इतरस्य।

अर्थात्—पूर्व में पैदा हुए से उसका कार्य होना भोग से एक का है, नहीं है दूसरे का।

पूर्व में पैदा हुए से अभिप्राय है, जो सबसे प्रथम पैदा हुए थे। सबसे प्रथम प्राणी जब पैदा हुआ, उसके दो शरीर उत्पन्न हुए थे—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्हीं दो शरीरों की चर्चा हो रही है। सूत्र ३-७ में कहा है कि माता-पिता से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है, सूक्ष्म शरीर नहीं; और वर्तमान (३-८) सूत्र में कहा है कि प्रथम उत्पन्न हुए प्राणी में दोनों शरीर उत्पन्न हुए और कार्य करने लगे तो पता चला कि एक अन्न का भोग करता है और दूसरा नहीं करता।

यहाँ भोग से अभिप्राय सुख-दुःख के भोग से नहीं है। सुख-दुःख का भोग होता है जीवात्मा को। यहाँ जीवात्मा की बात नहीं हो रही। यहाँ चर्चा है दो प्रकार के शरीरों की। इस कारण भोग से अभिप्राय शरीर का अन्नादि ग्रहण करना है।

अन्नादि से स्थूल शरीर में वृद्धि होती है—आकार-विस्तार में और सन्तान-उत्पत्ति में भी। परन्तु सूक्ष्म शरीर में अन्नादि से किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती।

भोग दो प्रकार के हैं। एक है शरीर की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए। यह है अन्नादि ग्रहण करना। इससे शरीर के अंग बनते तथा बढ़ते हैं। दूसरा है सुख-दुःख अनुभव करना। यह जीवात्मा का काम है, शरीर का नहीं।

सुख-दुःख शरीर के गुण नहीं। शरीर को कष्ट होता है । मन को क्लेश होता है, और सुख अथवा दुःख जीवात्मा को होता है। अतः यह कहना कि सूत्रकार का मत है कि सूक्ष्म शरीर के सुख-दुःख का भोग दूसरे से होता है, अशुद्ध है। अतः सूत्रार्थ वे बनते हैं जो ऊपर वर्णन किए गए हैं।

इस और पूर्व-सूत्र (३-७) के भाष्य की ब्रह्मसूत्र ३-३-१ के साथ तुलना करें तो बात सर्वथा स्पष्ट हो जाएगी।

वहाँ कहा है—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहित संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।

(ब्र० सू० ३-१-१)

इसके उपरान्त (दूसरा शरीर) निर्माण होने पर जीवात्मा जाता है (सूक्ष्म शरीर में) लिपटा हुआ—यह विचार-विनिमय (अनुमान-प्रमाण) से सिद्ध होता है।

अर्थात् स्थूल शरीर तो बनना आरम्भ हो जाता है, परन्तु जीवात्मा को प्राप्त तब होता है जब जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ वहाँ आता है।

इस स्थान पर एक अन्य विचारणीय बात है, वह है सूक्ष्म शरीर की बनावट के विषय में।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ *(ब्र० सू० ३-१-२)*

इसका अर्थ है तीन रूपवाला होने से।

सूक्ष्म शरीर के तीन आवेष्टन हैं जो इसे चारों ओर से लपेटे रहते हैं। श्री उदयवीर शास्त्री इस 'त्रिवेष्टन रूप' का अभिप्राय ब्रह्मसूत्र-भाष्य में इस प्रकार समझाते हैं—

'यह आवेष्टन त्र्यात्मक—त्रिरूप है—अन्तःकरण, बाह्यकरण, सूक्ष्म भूत।' अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में हमने 'त्र्यात्मकत्वात्' का अर्थ किया है 'तीन रूपों' (भूतों) वाला होने से। 'रूपवान् पदार्थ पंचभौतिक होते हैं और पंच भूत विशेष हैं, अविशेष नहीं। इससे यह परिणाम निकलता है कि सूक्ष्म शरीर के तीन रूप हैं—प्रकृति, महत् और अहंकार। इन तीन के साथ पंच तन्मात्रा केवल संगठन करनेवाली शक्ति है। हमारा इससे मतभेद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—सप्तदश, एकम्, लिङ्गम्।

अर्थात्—सत्रह और एक (अठारह) लिङ्ग (वाला) है।

लिङ्ग संज्ञा है—नपुंसक लिंग है और इसका अर्थ मोनियर विलियम्स निम्न प्रकार से करते हैं—'token, badge, emblem, characteristic.'

अन्य भाष्यकारों ने सूत्र का अर्थ किया है—अट्ठारह (अंग) हैं लिंग शरीर के। हमारा उनसे इस कारण मतभेद है कि वर्णन तो हो रहा है भोग करनेवाले शरीर का। ऊपर के (३-८) सूत्र में कहा है कि एक भोग करता है, दूसरा नहीं। अन्य भाष्यकारों ने वहाँ भी भोग करनेवाला सूक्ष्म शरीर कहा है। हमने इसे भी ग़लत बताया है। भोग करने वाला स्थूल शरीर है। सूक्ष्म शरीर भोग नहीं करता। इस सूत्र की व्याख्या में भी हमने बताया है कि इतर से अभिप्राय सूक्ष्म शरीर है। वह भोग करनेवाला नहीं।

यहाँ भी दूसरे भाष्यकारों से हमारा मतभेद है। हम इस प्रकार अर्थ करते हैं—अट्ठारह लिंग वाला (स्थूल) शरीर है।

अट्ठारह की गणना में भी हमारा अन्य भाष्यकारों से मतभेद है। अन्य भाष्यकारों का अर्थ हम नहीं मानते। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री अट्ठारह की गणना इस प्रकार करते हुए कहते हैं कि 'ये अट्ठारह तत्त्व, तेरह करण और पाँच तन्मात्रा हैं।'

हम तन्मात्रा को शरीर के लिंगों में नहीं मानते। कारण यह कि तन्मात्रा शरीर का लिंग नहीं। तन्मात्रा का शरीर से जो कुछ सम्बन्ध है वह इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने से इन्द्रियों के अन्तर्गत आ जाता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श, तन्मात्रा तो इन्द्रियों के गुण ही हैं। इस कारण ये तेरह करणों में आ जाती हैं।

तेरह करण हैं पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, आभ्यन्तरिक इन्द्रिय। यह तेरह और पंच महाभूत, ये सब अट्ठारह बनते हैं। परन्तु जब ज्ञानेन्द्रियाँ कहा गया तो उनके गुण रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श तो उनके साथ ही आ गए। साथ ही हम यह अट्ठारह लिंगवाला स्थूल शरीर मानते हैं।

इस कारण अट्ठारह की गणना इस प्रकार बनती है—मन, बुद्धि, आभ्यन्तरिक इन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच महाभूत। तन्मात्रा के स्थान हमने पाँच महाभूत, जिनसे स्थूल शरीर बना है, लिया है।

अन्य भाष्यकारों से हमारा मतभेद सूत्र-संख्या ३-३ से आरम्भ हुआ है। वहाँ सूत्र है—'तद्बीजात् संसृतिः।'। (३-३)

यहाँ बीज को सूक्ष्म शरीर माना है। हम समझते हैं कि यहाँ से ही भाष्यकारों ने भूल करनी आरम्भ कर दी है। यहाँ 'तत्' से अर्थ उन्होंने सूक्ष्म शरीर किया है। तत् से अभिप्राय उस शरीर से है जिसका उल्लेख सूत्र ३-२ में आया है। यह हमने बताया है कि अविशेषों से विशेष बनते हैं। सूत्र ३-१ में और सूत्र ३-२ में कहा है तस्मात्, अर्थात् विशेषों से (स्थूल) शरीर बनता है। अतः ३-२ में 'तस्मात्' से विशेषों का अभिप्राय है और फिर इसी से स्थूल शरीर के लिए सूत्र ३-२ में विशेषों से अभिप्राय है। इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या इसी सूत्र के भाष्य में पढ़िए। बीज और पेड़ की तुलना सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से नहीं की जा सकती। तुलना स्थूल शरीर और भ्रूण में है।

इसी प्रकार बीज को सूक्ष्म शरीर मानने से भूल आरम्भ कर भाष्यकारों ने सूत्र ३-५ में उपभोग करनेवाला सूक्ष्म शरीर माना है। सूत्र है 'उपभोग करने से दूसरे का' (बनना होता है)। इससे पूर्व ३-४ में कहा है कि 'प्रवर्त्तन' जब तक अविवेक रहता है बना रहता है। यहाँ तो दोनों शरीरों का अभिप्राय है। कारण यह कि विवेक होने पर स्थूल और सूक्ष्म, दोनों शरीर छूटते हैं। स्थूल शरीर तो मरने पर भी छूटता है और फिर मिलता है। परन्तु सूक्ष्म शरीर विवेक होने पर ही छूटता है।

अतः सूत्र ३-५ में 'इतरस्य' शब्द से ऊपर वर्णित से दूसरे का अभिप्राय है। दूसरा है स्थूल शरीर। अतः सूत्र ३-५ में यह कहा है कि स्थूल शरीर बना रहता है उपभोग से। व्याख्या हमने इस सूत्र के भाष्य में कर दी है।

इसके उपरान्त सूत्र ३-६ में दोनों शरीरों का उल्लेख है। वह जो अविवेक होने तक बना रहता है और वह जो उपभोग तक बना रहता है। अन्य भाष्यकारों ने सूत्र ३-५ में भी भूल की है। फिर सूत्र ३-७ में माता-पिता से उत्पन्न होनेवाले शरीर का वर्णन है। यह स्थूल शरीर है।

सूत्र ३-८ में 'पूर्वोत्पत्तेः' से अभिप्राय है आदि-काल में इसका कार्य होने से। उससे स्थूल शरीर के कार्य से रचना चली। यह इतर से नहीं। यहाँ भी इतर का अर्थ सूक्ष्म शरीर है। यह इस प्रकार कि सूक्ष्म शरीर बन गया, परन्तु कार्य, सृष्टि-रचना तो स्थूल शरीर के कार्य होने पर आरम्भ हुई। यह सूक्ष्म शरीर से आरम्भ नहीं हुई। सूत्र ३-७ में इतर शब्द सूक्ष्म शरीर के लिए आया है और सूत्र ३-८ में भी इतर शब्द सूक्ष्म शरीर के लिए आया है। यहाँ भी अन्य भाष्यकारों ने भूल की है और अशुद्ध अर्थ किए हैं।

अट्ठारह लिंगवाला शरीर है स्थूल, और फिर उसमें तन्मात्रा की गणना नहीं। पंच-महाभूत लेना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि वे स्थूल शरीर के अंग हैं।

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १० ॥

पदच्छेद—कर्म-विशेषात्, व्यक्तिभेदः ।

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥ ११ ॥

पदच्छेद—तत्-अधिष्ठान-आश्रये, देहे, तत्-वादात्, तत्-वादः ।

यहाँ तीन बार तत् शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रथम तत् शब्द से अभिप्राय है वह वस्तु जिसका इससे पूर्व सूत्र में उल्लेख है। पूर्व सूत्र में कहा है 'व्यक्ति'। अतः पहले तत् का अर्थ है व्यक्ति।

'तत् अधिष्ठान आश्रयेः' से अभिप्राय बनेगा व्यक्ति (के कर्म) का आश्रय अधिष्ठान। अर्थात् व्यक्ति के कर्म का आश्रय स्थान देह है। व्यक्ति (सशरीर आत्मा) का कर्म देह से होता है। दूसरा 'तत्' तद् वादात् पद में है। यहाँ भी 'तत्' का अर्थ व्यक्ति से ही है। व्यक्ति कार्य करता है। ऐसा कहने से 'तत्-वा' उस (जीवात्मा) का ही कथन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानना चाहिए।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि व्यक्ति के कर्म का आधार शरीर है, परन्तु 'व्यक्ति काम करता है' से अभिप्राय है कि जीवात्मा कार्य करता है।

यहाँ स्थूल-सूक्ष्म-शरीर का विवाद नहीं। व्यक्ति के विषय में वर्णन है। व्यक्ति के कर्म करने का स्थान शरीर है। अतः जब कहा जाए कि वह व्यक्ति काम करता है तो इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा कर्म करता है। कार्य, सशरीर जीवात्मा करता है। परन्तु शरीर जड़ होने से वास्तविक कार्य करने वाला जीवात्मा ही है।

न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

पदच्छेद—न, स्वातन्त्र्यात्, तत्-ऋते, छायावत्, चित्रवत्, च।

अर्थात्—स्वतन्त्रता से नहीं बिना उसके, छाया और चित्र की भाँति।

यहाँ तत् का अभिप्राय जीवात्मा से है—शरीर से नहीं। कारण शरीर बिना जीवात्मा के स्वतन्त्रता के कार्य नहीं कर सकता। बिना जीवात्मा के यह चित्र एक छाया चित्र मात्र है (कार्य करने में)।

सूत्रकार का कहना है कि शरीर बिना जीवात्मा के कर्म करने में चित्र और छायावत् है।

मूर्त्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात्तरणिवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—मूर्त्तत्वे, अपि, न, संघातयोगात्, तरणिवत्।

अर्थात् (जीवात्मा के) संघात न होने पर मूर्त होने पर भी तरणिवत् है। संघात न होने पर का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा परमाणुओं का संभाग का संयोग न होने पर और इसके अस्तित्व होने पर यह तरणिवत् है। क्या? जीवात्मा।

तरणि का अभिप्राय मोनियर विलियम्स अपने शब्द कोष में इस प्रकार करते हैं : moving forward, quick, energetic, helping benevolent, sun संघात का योग न होने से जड़ होने पर भी यह आगे को चलता है। जैसे नौका चलती है। जीवात्मा जब शरीर के साथ संघात में नहीं होता तब भी शरीर आगे को चलता है। अर्थात् इसमें विघटन होता रहता है जैसे सूर्य में होता रहता है॥

यहाँ हमने संघात को जीवात्मा इस कारण माना है क्योंकि अन्य शास्त्रों में भी जीवात्मा और शरीर के संयोग को संघात कहा गया है। उदाहरण के रूप में भगवत्-गीता में कहा है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखंदुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहतम्॥

भ० गी० १३-५,६॥

इस उदाहरण से हमारा केवल इतना ही प्रयोजन है कि संघात शरीर और चेतना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोग को कहा है। अतः इस सूत्र में भी 'न संघात योगात्' से अभिप्राय यह बनता है कि जवात्मा से योग न होने पर।

और इस (शरीर) के जड़ होने पर भी यह आगे को चलता है जैसे सूर्य चलता है।

सूर्य कार्य करता है परमात्मा की शक्ति से। शरीर भी बनता अथवा विघटित होता है सूर्य की भाँति परमात्मा के योग से। शरीर की कौन-कौन-सी अवस्थाएँ होती हैं, जब आत्मा के संयोग के बिना भी यह आगे को चलता है अथवा विघटन की ओर चलता है? एक तो जब माँ के पेट में भ्रूण बनता है और अभी जीवात्मा उसमें आया नहीं। यह समय कितना लम्बा होता है? भिन्न-भिन्न आचार्यों का भिन्न-भिन्न मत है, परन्तु शरीर बन जाने के उपरान्त जीवात्मा उसमें आता है—यह निश्चय ही है। मरणोपरान्त भी जब जीवात्मा शरीर को छोड़ जाता है तो इसमें विघटन (Disintegration) होता है।

अन्य सूत्रकारों ने इस सूत्र के अर्थ भी हमारे अर्थों से विलक्षण किए हैं। उदाहरण के रूप में श्री ब्रह्म मुनि जी लिखते हैं—'मूर्तत्वे' यहाँ जड़त्व अर्थ में है। लिंग शरीर के जड़ होने पर भीं अदृष्ट फल वाना नहीं होता जैसे तरणिसूर्य प्रकाश का संघात पिण्ड भूत ठोस पदार्थ स्थूल के योग में प्रकट होता है।

यह अनुपयुत अर्थ है। प्रथम तो यहाँ सूक्ष्म शरीर कहाँ से आ गया? निश्चय 'जड़ होने से' उसको कहा है जिसका ऊपर के सूत्र में वर्णन आया है। ऊपर के सूत्र में आया है कि शरीर जीवात्मा के बिना स्वतंत्र नहीं जैसे छाया चित्र स्वतन्त्र नहीं होता। निस्संदेह यह स्थूल शरीर का वर्णन है। सूक्ष्म शरीर कुछ कर्म करता है, यह कहीं लिखा नहीं मिला। स्थूल शरीर कर्म करता है और यह जीवात्मा के अधीन होकर कर्म करता है।

अतः इस सूत्र में भी स्थूल शरीर का वर्णन है॥

संघात योगात् का अर्थ मुनि जी ने तरणि से मिला दिया है। अर्थात् तरणिवत् संघात योग है। सूर्य में क्या संघात योग हो रहा है? यह स्पष्ट नहीं। अतः पूर्ण अर्थ ही असंगत है।

तरणि के अर्थ सूर्य करो अथवा इसके यौगिक अर्थ करो—आगे ले जाने वाला, इसमें अन्तर नहीं पड़ता। अर्थ भेद है 'संघात योगात्'(संघात के होने के सूत्र में स्थूल शरीर के जीवात्मा से स्वतन्त्र होकर कुछ न कर सकने की बात कही है और उसी के क्रम में कहा है कि शरीर बिना जीवात्मा के होने पर भी आगे को चलता है संघात के अभाव में। हमने बताया कि शरीर की दो अवस्थाएँ हैं जिसमें यह आगे को चलता है और बिना जीवात्मा के योग के।

अर्थात्—कर्म की विशेषता से व्यक्ति-व्यक्ति में भेद प्रकट होता है।

व्यक्ति से अभिप्राय है शरीर और जीवात्मा। यहाँ केवल शरीर से अभिप्राय नहीं। कारण यह कि शरीर जड़ होने से स्वतः कर्म नहीं करता। इससे पूर्व के सूत्रों में तो शरीरों का वर्णन था, परन्तु इसमें 'शरीर' के स्थान पर शब्द 'व्यक्ति' का प्रयोग किया है और साथ ही कर्म का उल्लेख है। अतः यहाँ सशरीर जीवात्मा का वर्णन है। इसे व्यक्ति कहा है। एक प्राणी का दूसरे प्राणी से भेद उसके कर्मों को देखकर किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तत्, अणुपरिमाणम्, कृतिः-श्रुतेः ।

अर्थात्—वह अणु-परिमाण है, इसकी उत्पत्ति का श्रुति में प्रमाण होने से।

वह अणु-परिमाण क्या है? यही इस सूत्र का मुख्य शब्द है। सामान्य रूप में 'तत्' से संकेत किया जाता है किसी पूर्व-कथन की ओर। पूर्व के सूत्रों में ही अन्य भाष्यकारों से मतभेद है। ये भाष्यकार सूक्ष्म शरीर-परक ही पूर्व के सब सूत्रों को मानते हैं। कुछ सूत्रों की हमने व्याख्या की है। सबसे मुख्य भूल वहाँ हुई है जहाँ बीज और पेड़ की तुलना का वर्णन है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के सम्बन्ध की तुलना बीज और पेड़ से नहीं हो सकती। उसका कारण हमने यह बताया है कि पेड़ बनने के समय बीज नष्ट हो जाता है और नया बीज बनने से पहले नए स्त्री-पुरुष-अंश उत्पन्न होते हैं और उनके संयोग से बीज बनता है। सूक्ष्म शरीर जब स्थूल शरीर में जीवात्मा को लेकर आता है तो वह नष्ट नहीं होता। साथ ही स्थूल शरीर के विघटन के समय नया सूक्ष्म शरीर, जैसे बीज बनता है वैसे नहीं बनता।

यहाँ भी अन्य भाष्यकारों ने अणु-परिमाण, सूक्ष्म शरीर का कहा गया माना है। क्या जीवात्मा अणु-परिमाणवाला है? ब्रह्मसूत्र (२-३-२१) में इसको अणु-मात्र कहा है। वहाँ यह कहा है—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ *(ब्र० सू० २-३-२१)*

इसका अर्थ है (कुछ लोग कहते हैं कि) श्रुति में 'अणुमात्र' नहीं। सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो, तो नहीं। यह दूसरे के अधिकार से है, अर्थात् ब्रह्मसूत्र जीवात्मा को अणु-मात्र मानता है।

अतः हम इस सूत्र (३-१४) में जीवात्मा को अणु-मात्र कहा मानते हैं। अर्थ है जीवात्मा अणु-मात्र है। श्रुति में व्यक्ति की उत्पत्ति में वर्णन इस प्रकार कहा है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

(ऋ० १-१६४-१)

इस मन्त्र में जीवात्मा को शरीर के मध्य में स्थित भोक्ता माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा तुलना में बहुत छोटा है। इसी का अणु शब्द से वर्णन किया है।

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—तत्, अन्नमयत्व-श्रुतेः, च।

अर्थात्—और वह अन्नमय है, ऐसा श्रुति में भी वर्णन है।

यहाँ 'और वह' का अभिप्राय है कि जिसका वर्णन ऊपर किया गया है उससे अन्य। सूत्र (३-१४) में जीवात्मा का वर्णन है कि वह बहुत छोटा है। इस सूत्र में कहा है और व्यक्ति का दूसरा अंग (देह) अन्नमय है। सूत्र ३-१० में व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म के कारण बताया है। सूत्र ३-११ में कहा है कि शरीर जड़ होने पर भी आगे को चलता है। सूत्र ३-१४ में कहा है कि जीवात्मा अणु-परिमाणवाला है। आगे ३-१५ में कहा है कि शरीर अन्नमय है।

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—पुरुषार्थम्, संसृतिः, लिङ्गानाम्, सूपकारवत्, राज्ञः ।

अर्थात्—(शरीर के) लिंगों (करणों जो सूत्र ३-९ में अट्ठारह वर्णन किए हैं) की गति होती है पुरुष (जीवात्मा) के लिए, जैसे राजा का पाचक कार्य करता है।

यहाँ भी स्थूल शरीर का ही वर्णन है, सूक्ष्म का नहीं। अन्य भाष्यकार इन सब सूत्रों को सूक्ष्म शरीरपरक समझते हैं। हमारा उनसे मतभेद है। सूक्ष्म शरीर तो केवल जीवात्मा को लपेटे रखता है। व्यक्ति के निधन के समय स्थूल शरीर के सब प्राण जीवात्मा में अर्थात् उसके सूक्ष्म शरीर में एकत्रित हो जाते हैं और उन प्राणों के आश्रय सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को लिये हुए दूसरे शरीर में चला जाता है।

शरीर के अंग जीवात्मा का कार्य ऐसे करते हैं जैसे राजा का सेवक राज्य के लिए कार्य करता है।

पाञ्चभौतिको देहः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—पाञ्चभौतिकः, देहः ।

अर्थात्—शरीर पंच भूतों का बना है।

पंच भूतों की व्याख्या हम ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। उनके संयोग से ही यह स्थूल शरीर बना हुआ है।

पदार्थ जो ठोस अवस्था में होते हैं, वे पृथिवी कहलाते हैं। जलीय पदार्थों को जल का नाम दिया जाता है। वायवी पदार्थों को वायु शब्द से सम्बोधन किया जाता है और आकाशीय पदार्थों को आकाश कहा जाता है। ये शरीरों में उपस्थित तत्त्वों की अवस्थाएँ हैं।

चातुर्भौतिकमित्येके ॥ १८ ॥

पदच्छेद—चातुर्भौतिकम्, इति, एके।

अर्थात्—कुछ-एक आचार्यों ने इसे चार भूतों वाला माना है।

इनका मत है कि शरीर-निर्माण में आकाश महाभूत का योगदान नहीं है। आकाश देह का कोई अंग नहीं बनाता। इसका किसी दूसरे तत्त्व से संयोग नहीं होता। इस कारण यह देह के निर्माण में भाग नहीं लेता।

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥ १९ ॥

पदच्छेद—ऐकभौतिकम्, इति, अपरे।

अर्थात्—दूसरे इसे एक महाभूत से बना हुआ ही मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार ऐसा नहीं मानता। वह अपना मत सूत्र ३-१७ में बता आया है कि देह पंच-भौतिक है। फिर भी सूत्रकार ने दूसरे आचार्यों का मत इस कारण दिया प्रतीत होता है कि उनके साथ मतभेद का कारण पता चल जाए। दूसरे आचार्य देह को उस दृष्टि से नहीं देखते जिस दृष्टि से कपिल मुनि देख रहा है।

कपिल देह को जीवात्मा का निवास-स्थान और सब प्रकार से सक्रिय बता रहा है। वह देह जो भोजन पचाकर शरीर का अंग बना रही है, ऐसा वह मानता है। वह जो चलती-फिरती, विचार करती, सम्वेदनात्मक और एक इकाई की भाँति रहती है, उसे ही स्वीकार करता है।

वे लोग जो शरीर को चार भूतों का बना मानते हैं, वे शरीर को भोजन पचाकर शरीर का अंग बनानेवाला यन्त्र मानते हैं। मन और बुद्धि के कार्य को वे शरीर का अंग नहीं देख रहे। इसी प्रकार वे इन्द्रियों के व्यापार को दृष्टि में नहीं ले रहे। आकाश-तत्त्व इन्द्रियों, मन और बुद्धि के कार्य में माध्यम का कार्य करता है। सम्वेदना, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष के लिए माध्यम आकाश प्रस्तुत करता है।

वे लोग जो इसे केवल एक भूत पृथिवी से बना मानते हैं, वे एक मृत देह की कल्पना कर रहे हैं। यह ठीक है कि सम्वेदना इत्यादि व्यापार जीवात्मा के हैं, परन्तु उनका कार्य आकाश-तत्त्व के माध्यम द्वारा ही होता है। इस कारण आकाश और फिर पाचन-क्रिया में अग्नि-तत्त्व का और गति में वायु-तत्त्व का कार्य भी तो है।

मनुष्य-देह जिसका कपिल मुनि वर्णन कर रहे हैं, वह चलती-फिरती, बोलती-चालती खाती-पीती देह है। वह मृत देह नहीं है।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥ २० ॥

पदच्छेद—न सांसिद्धिकम्, चैतन्यम्, प्रत्येकादृष्टेः।

अर्थात्—(पृथक्-पृथक्) एक-एक भूत में चेतना दिखाई न देने से (पूर्ण में भी) भली प्रकार कार्य करने की सिद्धि (सामर्थ्य) नहीं (हो सकती)।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश भूतों को पृथक्-पृथक् देखने से उनमें चेतना दिखाई नहीं देती। इस कारण सबके मिल जाने से भी चेतना नहीं होनी चाहिए।

इस सूत्र में नास्तिकों के मत का खण्डन किया गया है। नास्तिक यह कहते हैं कि भूतों के विशेष प्रकार के संयोग से उनमें चेतना आ जाती है। सूत्रकार यह युक्ति देता है कि जब एक-एक भूत में चेतना नहीं देखी जाती तो उन सबके संगोग में भी चेतना (भली प्रकार चेतना के कार्य करने की सामर्थ्य) नहीं हो सकती।

आचार्य ने यहाँ एक सिद्धान्त के रूप में ही बात कही है।

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—प्रपञ्च-मरणाद्यभावः, च।

अर्थात्—और प्रपञ्च है उसका, मरणादि है और उसका अभाव है।

इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य ने प्रपंच (कार्य-जगत्) के विस्तार, इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने-बिगड़ने और इसके न रहने की ओर संकेत किया है। इसमें ऊपर दिया गया सिद्धान्त कार्य करता प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार कहता है कि यह है।

यहां प्रपंच का अर्थ प्रकृति का स्वरूपवान् विस्तार ही है, अर्थात् कर्म से जगत् का ही अभिप्राय है।

अन्य भाष्यकारों ने इसका अर्थ ऊपर के सूत्र (३-२०) के समर्थन में माना है। हम भी समझते हैं कि सूत्र द्वन्द्व समास में है और इसका अर्थ वही है जो हमने ऊपर कहा है। सूत्र में 'च' यही प्रकट करता है। सूत्र ३-२० में कहा है कि जब एक भूत में चेतना नहीं तो पाँचों में मिलकर भी चेतना नहीं आती। प्रपंच में जन्म-मरण अथवा अभाव तो देखा जाता है, परन्तु वह चेतना नहीं। वह केवल परिवर्तन है।

ऐसा हम कार्य-जगत् में देखते भी हैं। जल का उदाहरण लिया जा सकता है। जल ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो प्रकार की वायुओं से बना है। ऑक्सीजन पदार्थों के जलने में सहायक होती है और हाइड्रोजन स्वयमेव जलती है। परन्तु जल न जलता है और न पदार्थों के जलने में सहायक होता है। यहाँ गुण संयुक्त होनेवाले पदार्थों के कार्य में दिखायी नहीं देते।

अतः आचार्य का कहना यह प्रतीत होता है कि जो सिद्धान्त सूत्र ३-२० में कहा गया है कि वह प्रपंच अर्थात् कार्य-जगत् में भी दिखायी देता है, इसका एक उदाहरण हमने मिलकर जल बनानेवाली वायुओं का दिया है। सूत्रकार एक अन्य उदाहरण देता है—

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—मदशक्तिवत्, चेत्, प्रत्येक-परिदृष्टे, सौक्ष्म्यात्, सांहत्ये, तदुद्भवः।

अर्थात्—जैसे मद की शक्ति उत्पन्न होती है सूक्ष्मता से इसमें मिले हुए पदार्थों को देखने से।

इसका अभिप्राय है कि मद्य में मिले हुए पदार्थों के गुणों को सूक्ष्मता से देखने पर यह पता चलेगा कि मद की शक्ति इसके अवयवों के मिलने पर उत्पन्न होती है। वह शक्ति पृथक्-पृथक् अवयवों में नहीं है।

मद्य है दो के मिश्रण और संयोग का परिणाम। जल और इथाइल ऐलकोहल का, और ये दो हैं संयोग हाइड्रोज़न, ऑक्सीजन, कार्बन तत्त्वों का। ये सब पदार्थ (हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और कार्बन) मादक नहीं हैं। इनमें मादकता तो इन सबके विशेष प्रकार से मिलने पर उत्पन्न होती है।

अतः यह (३-२२) और इससे पूर्व का (३-२१) सूत्र दोनों सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के समर्थन में हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में सिद्धान्त से विलक्षण प्रतीत होते हैं। सिद्धान्त यह है कि एक-एक महाभूत चेतना-स्थान नहीं बना सकता, परन्तु यहाँ पाँच बन रहे दिखाई देते हैं।

हमारा तो यह कहना है कि सूत्रकार का जो सिद्धान्त सूत्र ३-२० में प्रतिपादित किया गया है, सत्य है। शरीर भी प्रपंच का एक अंग है। चेतना न एक भूत में है न पाँचों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में। यह चेतना स्थान ही बन जाता है; स्वयं जीवात्मा नहीं हो जाता जो ईक्षण करने का गुण रखता है।

यदि वैज्ञानिक भाषा में कहा जाये तो यह रासायनिक संयोग है। रासायनिक संयोगों से बना पदार्थ, मिलनेवाले पदार्थों से पृथक् रासायनिक गुण रखता है।

यह प्रपंच (कार्य-जगत्) में ही है। जो शक्ति इस प्रकार के संयोग से उत्पन्न होती है, वह चेतना नहीं। वह रासायनिक शक्ति है। इसे सूत्र में मदशक्तिवत् कहा है। स्पष्ट है यह शक्ति वह नहीं जिससे प्रकृति के परिणाम बनते हैं। यह चेतना भी नहीं है। केवल चेतना का स्थान निर्माण करते हैं।

मद-शक्ति चेतना नहीं। यदि कुछ है तो यह उत्तेजना के लक्षणवाली ही कही जा सकती है।

मद्य मृत देह में चेतना उत्पन्न नहीं कर सकती। यह शक्ति प्रकृति के मूल गुण जड़त्व और त्रिगुणत्व में ही है।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि सूत्रकार ने ये तीन सूत्र (३-२०, २१, २२) यह प्रकट करने के लिए लिखे हैं कि रासायनिक परिवर्तनों को प्रकृति में चेतना आने से ग़लत-मलत न कर दिया जाए। इस कारण दोनों में, ३-२० तथा ३-२१ में चेतना और चेतना-स्थान में अन्तर प्रकट करने के लिए सूत्र ३-२२ दिया है। मद-शक्ति चेतना नहीं।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥

पदच्छेद—ज्ञानात्, मुक्तिः।

अर्थात्—ज्ञान से मुक्ति होती है।

ज्ञान का अर्थ है प्रकृति-पुरुष में भेद और इनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान। इसे ही विवेक कहा है।

इस प्रकृति-पुरुष के भेद को जानकर ही प्रकृति के आकर्षण का विरोध किया जा सकता है।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसके ये गुण ही पदार्थों में रस उत्पन्न करते हैं, और रस जीवात्मा को प्रकृति के बन्धन में लाते हैं। जब यह ज्ञान हो जाता है कि ये प्रकृति के गुण रसों अर्थात् विषयों की लालसा उत्पन्न कर जन्म-मरण के बन्धन में बाँधते हैं तो जीवात्मा इन रसों का त्याग करने लगता है और वह मोक्ष के मार्ग पर चल पड़ता है।

बन्धोविपर्ययात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—बन्धः, विपर्ययात्।

अर्थात्—विपर्यय से बन्ध होता है।

विपर्यय का अर्थ है उलट व्यवहार। ऊपर (३-२३ में) कहा है कि ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। यहाँ विपर्यय का अभिप्राय है उलट, अर्थात् अज्ञान से बन्ध (जन्म-मरण में लिप्त) होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५ ॥

पदच्छेद—नियतकारणत्वात्, न, समुच्चय-विकल्पौ।

अर्थात्—मोक्ष-प्राप्ति का कारण नियत है। न तो इसमें समुच्चय है और न ही इसका विकल्प है।

समुच्चय का अर्थ है संयोग, अर्थात् कोई दूसरा कारण इसमें सम्मिलित तो हो सकता है, परन्तु उसका मोक्ष-प्राप्ति में योगदान नहीं है। न ही इसके ज्ञान कारण का कोई विकल्प है, अर्थात् ज्ञान का कुछ भी स्थानापन्न नहीं।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों से कुछ-कुछ भिन्नता प्रतीत होती है। वहाँ कहा है—

(१) **पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः** ॥ (ब्र० सू० ३-४-१)

(२) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः** ॥ २ ॥

(३) **आचारदर्शनात्** ॥ ३ ॥

(४) **तच्छ्रुतेः** ॥ ४ ॥

(५) **समन्वारभणात्** ॥ ५ ॥

(६) **तद्वतो विधानात्** ॥ ६ ॥

(७) **नियमाच्च** ॥ ७ ॥

इन सूत्रों के अर्थ हैं—

इसलिए पुरुषार्थ भी (मोक्ष में साधन) वेदवाणी से पता चलता है, ऐसा बादरायण का मत है ॥ १ ॥

यह जैमिनि ऋषि का मत है कि अन्य विषयों की भाँति (मोक्ष-सिद्धि में भी) पुरुषार्थ को भी मानो ॥ २ ॥

(प्रत्येक कार्य में) आचरण के देखे जाने से ॥ ३ ॥

(कर्म से सिद्धि) वेद में भी कहा है ॥ ४ ॥

(ज्ञान और कर्म) साथ-साथ आरम्भ होने से ॥ ५ ॥

उस (ज्ञान और कर्म के समानारम्भण) वाले के विधान से ॥ ६ ॥

(ज्ञान से कर्म करने का) नियम होने से ॥ ७ ॥

कुछ लोग ज्ञान और कर्म का साथ-साथ चलना नहीं मानते। इनमें स्वामी शंकराचार्य भी हैं। वे अपने शारीरक भाष्य में पूर्वोक्त प्रथम सूत्र के अर्थ करते हैं—

किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते—पुरुषार्थोऽत इति।

अर्थात्—क्या अधिकारी द्वारा कर्म में (मोक्ष-धाम में) ही अनुप्रवेश करता है? अथवा स्वतन्त्र ही मोक्ष का साधन है? अब ऐसा विचार करते हुए।

प्रथम सिद्धान्त से ही 'पुरुषार्थोऽतः' इस प्रकार उपकर्म करते हैं।

विचारणीय यह है कि स्वामी जी यहाँ पुरुषार्थ का अर्थ मोक्ष करते हैं और हमने ऊपर किया है प्रयत्न (कर्म)।

इससे अगले सूत्र (३-४-२, ३, ४, ५, ६, ७) हमारे अर्थों का समर्थन करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी शंकराचार्य उन (३-४-२, ३, ४, ५, ६, ७) का अर्थ तो वही करते हैं जो हमने किया है, परन्तु वह इनको पूर्व-पक्ष में मानते हैं। हमारा यह कहना है कि ऐसा होने का कोई संकेत सूत्रों में नहीं है। प्रथम सूत्र बादरायण ऋषि के नाम से है। दूसरा जैमिनि ऋषि का प्रथम सूत्र के समर्थन में है। आगे के सात सूत्र, सब इस बात का समर्थन करते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति में पुरुषार्थ (कर्म) का भी योगदान है।

ब्रह्मसूत्र के इसी अध्याय के इसी पाद में कई सूत्र हैं जो हमारे मत का समर्थन करते हैं; कोई सूत्र खण्डन नहीं करता। उदाहरण के रूप में अगला ही सूत्र इस प्रकार है—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

अर्थात्—जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे भी अधिक यह कि बादरायण का भी मत है (जो जैमिनि ऋषि का है)।

और भी समर्थन है—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थात्—देखने से (ज्ञान और कर्म) तुल्य (बल वाले) हैं।

फिर कहा है—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥ *(ब्र० सूत्र ३-४-८, ९, १२)*

(केवल ज्ञान) ऐसे ही है जैसे पुस्तक में पढ़ने से होता है।

केवल पढ़ना ज्ञान है। कर्म करने से ही अध्ययन अर्थात् ज्ञान का फल मिलता है।

अतएव हमारा मत है कि सांख्य-सूत्र ३-२५ में समुच्चय का अर्थ ज्ञान से कर्म (पूजा-पाठ इत्यादि) का समुच्चय मानें तो वेद और शास्त्र का विरोध हो जाएगा। अतः सूत्र का हमारा अर्थ है कि मोक्ष-प्राप्ति का कारण नियत है। वह नियत कारण भगवद्गीता में भली-भाँति वर्णन किया गया है। गीता में कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

(भ० गी० ४-१९, २०)

अर्थात्—जिसके सब कार्यों का आरम्भ कामनारहित और संकल्प के बिना होता है, उसके ज्ञान से दग्ध (शुद्ध किए) कर्म होते हैं, वह पण्डित कहलाता है। *(४-१९)*

इस कारण फल का मोह छोड़कर सदा सन्तुष्ट और निन्दा-प्रशंसा का आश्रय छोड़कर जो कर्म में प्रवृत्त होता है, वह सब-कुछ करता हुआ भी कुछ न करता हुआ मानना चाहिए। *(४-२०)*

अतः सूत्र (सांख्य ३-२५) का अर्थ है कि मोक्ष नियत कारण से मिलता है। उसमें दूसरे किसी (मूर्ति-पूजन, गुरु-कृपा इत्यादि) का योगदान नहीं, न ही ज्ञान का कुछ विकल्प है।

कर्म और ज्ञान तो साथ-साथ चलते हैं। ये एक-दूसरे के विकल्प नहीं हैं।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकाऽमायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥ २६ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदच्छेद—स्वप्नजागराभ्याम्, इव, मायिका-अमायिकाभ्याम्, न, उभयोः, मुक्तिः, पुरुषस्य।

अर्थात्—मायामयी स्वप्नावस्था (अथवा) अमाया (मायारहित) जागरित अवस्था की भाँति (की स्थितियों द्वारा) दोनों (अवस्थाओं) में पुरुष (जीवात्मा) की मोक्षावस्था (की तुलना) नहीं है।

अभिप्राय यह है कि पुरुष की मोक्षावस्था और असत्य स्वप्नावस्था अथवा सत्य जागरित अवस्था की स्थिति की भाँति नहीं है। यह (मोक्षावस्था) न तो स्वप्नवत् है और न ही प्रपंच में जाग्रत् अवस्था की भाँति ही है। यह दोनों से विलक्षण है। मोक्षावस्था असत्य नहीं। उसमें जो कुछ प्राप्त होता है वह आभासमात्र नहीं। वह सत्य है। परन्तु जो कुछ जाग्रत् अवस्था में सत्य दिखाई देता है, वह भी नहीं। मोक्षावस्था में जो ज्ञान होता है, वह कार्य-जगत् में ज्ञान से सर्वथा विलक्षण है। वहाँ वास्तव में क्या है? यह सूत्रकार आगे चलकर बताएगा। यहाँ तो उसका केवल इतना कहने का ही प्रयोजन है कि मोक्षावस्था स्वप्नवत् असत्य नहीं और न ही जाग्रत् अवस्था, जो प्रपंच में दिखायी देती है, उसकी भाँति की है।

इस सूत्र के अर्थों में भी हमारा अन्य भाष्यकारों से मतभेद है। उदाहरण के रूप मे श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'(मायिकाऽमायिकाभ्यां) मायिक (मिथ्या) और अमायिक (सत्य) (स्वप्नजागराभ्यां) स्वप्न और जागर के लिए [विकल्प और समुच्चय का प्रश्न नहीं] (इव) जैसे [इसी प्रकार] (पुरुषस्य) पुरुष का (मुक्तिः) मोक्ष (उभयोः) दोनों के [विकल्पन समुच्चय से] (न) नहीं।'

इस सूत्रार्थ की वे इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

'स्वप्न और जाग्रत् दो अवस्थाएँ हैं जो पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों का समुच्चय सम्भव नहीं। एक ही काल में इन दोनों का अस्तित्व नहीं रह पाता। स्वप्न की प्रतीति अस्थिर, अवास्तविक एवं छलना-मात्र है, इसलिये सूत्रकार ने इस स्थिति को मायिक पद के द्वारा स्पष्ट किया है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति वास्तविक है, तथा वस्तु-तत्त्व का बोध कराती है। सूत्रकार ने इस अवस्था की सत्यता को अमायिक पद के द्वारा प्रकट किया है। इस प्रकार जैसे स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं का अपने मिथ्या तथा सत्य स्वरूप के कारण समुच्चय अर्थात् एक ही काल में दोनों का सहसद्भाव सम्भव नहीं और जैसे स्वप्न और जागर अवस्थाओं के साथ मायिक एवं अमायिक तथा जागर कभी अमायिक हो जाए और कभी मायिक, अथवा दोनों अवस्थाओं का ही परस्पर विकल्प माना जाए, अर्थात् स्वप्न कभी जागर हो जाए कभी स्वप्न, और जागर कभी स्वप्न हो जाए कभी जागर, ऐसा विकल्प सम्भव नहीं। ऐसे ही पुरुष के मोक्ष-लाभ में ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय अथवा विकल्प सम्भव नहीं।'

बात छोटी-सी थी और उसको ठीक प्रकार से न समझ सकने के कारण जलेबी की भाँति एक ही बात को बार-बार कहकर स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। परन्तु जब समझ में ही न आए तो उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता।

हमने पूर्व के सूत्र में यह स्पष्ट किया है कि समुच्चय और विकल्प ज्ञान के साथ अथवा ज्ञान का ही है। इस समुच्चय और विकल्प का कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्रों में कर्म को भी मोक्ष का सहायक माना है और हम ब्रह्मसूत्र और सांख्य के परस्पर विरोधी होने की कल्पना नहीं कर सके। हमने पूर्व-सूत्र की व्याख्या में बताया है कि ज्ञान के साथ समुच्चय अथवा इसका विकल्प कर्म नहीं, प्रत्युत अन्य बातें हैं। जैसे गुरुपद-सेवा से मुक्ति अथवा भगवान् की मूर्ति बना उसकी पूजा से मुक्ति इत्यादि बातों की कल्पना है, न तो इस प्रकार के भ्रममूलक व्यवहारों का ज्ञान के साथ समुच्चय है और न ही ये ज्ञान का विकल्प हो सकते हैं।

भाष्यकारों ने इसी में भूल की है और उसका परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान सूत्र (३-२६) के मिथ्या अर्थ करने में लग गए हैं।

बात स्पष्ट है। मायिक तथा अमायिक शब्द स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं के विशेषण के रूप में लिखे गये हैं। इन दोनों अवस्थाओं की स्थिति से जीवात्मा के मोक्ष की अवस्था की तुलना नहीं। मोक्षावस्था इन दोनों से भिन्न है।

स्वप्न संधि-स्थान को कहते हैं। यह एक जन्म और दूसरे जन्म का संधि-स्थान भी हो सकता है। यह अवस्था माँ के पेट में गर्भ की अवस्था भी हो सकती है। स्वप्नावस्था भूलोक और देवलोक तथा भूलोक और ब्रह्मलोक का संगम-स्थान भी हो सकता है। यह सोने और जागने का संधि-स्थान भी हो सकता है। इन सब अवस्थाओं में स्वप्न-स्थान में जो कुछ भास होता है वह असत्य होता है।

किसी दृष्टि से भी देखें, मोक्षावस्था इस प्रपंच की अवस्था की स्थिति और स्वप्न अर्थात् संधि-स्थान की अवस्था की स्थिति से भिन्न है।

अतः जीवात्मा की मोक्षावस्था की तुलना न तो मायिक स्वप्न-अवस्था की है, न ही अमायिक जाग्रत् अवस्था की। दोनों से मोक्ष भिन्न है।

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—इतरस्य, अपि, न, आत्यन्तिकम्।

अर्थात्—दूसरे का भी नहीं है अत्यधिक होना।

दूसरे का भी फल बहुत अधिक (काल तक) नहीं होता। यहाँ भी 'दूसरे का' के अर्थों में विभ्रम है। इसका अर्थ ज्ञान के अतिरिक्त ऐसे साधनों से है जिनका मनुष्य की मुक्ति-प्राप्ति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। यहाँ उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं, जैसे मूर्ति-पूजा इत्यादि, अथवा सूर्यादि देवताओं की उपासना। समुच्चय और विकल्प का अभिप्राय इनसे लिया जा सकता है। इन कर्मों का मोक्ष-प्राप्ति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इनका फल तो होता है, परन्तु यह फल भी कुछ अधिक काल तक नहीं रहता। 'अत्यन्त कालवाला नहीं' से अभिप्राय है बहुत ही कम कालवाला। साथ ही इनका फल मोक्ष नहीं होता।

यहाँ शब्द 'अपि' भी है। इसका अभिप्राय है कि मोक्ष-प्राप्ति भी अन्त वाली है, परन्तु वह अत्यन्त दीर्घ कालवाली है। बहुत लम्बे काल तक इसका भोग है।

हम समझते हैं कि हमारे इस अर्थ की तुलना ब्रह्मसूत्र ३-४-१९ से करनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

पदच्छेद—संकल्पिते, अपि, एवम् ।

अर्थात्—संकल्प की स्थिति में भी ऐसा ही है ।

यहाँ संकल्प की स्थिति का अर्थ समझने की आवश्यकता है । संकल्प की स्थिति में क्या और संकल्प का अभिप्राय क्या है ?

संकल्प कहते हैं मन में कल्पना किया हुआ । क्या कल्पना किया हुआ ? यहाँ ज्ञान और ज्ञान से इतर उपायों का उल्लेख हो रहा है । इतर उपायों के और ज्ञान के विषय में सूत्र ३-२३ में और इतर उपायों के विषय में सूत्र ३-२५, २७ में बताया है । यहाँ ज्ञान अथवा मुक्ति के संकल्प की अवस्था का वर्णन है, अर्थात् ज्ञान अथवा मुक्ति संकल्प की अवस्था में भी वैसी ही है जैसी ऊपर के सूत्र (३-२७) में बताई है । वह भी आत्यन्तिक'—चिरकार तक रहनेवाली नहीं है ।

ब्रह्मसूत्रों में से एक सूत्र हमने उद्धृत किया है । वह सूत्र भी ज्ञान और कर्म के विषय पर ही प्रकाश डालता है । एक अन्य सूत्र है—

अध्ययनमात्रवतः ॥ *(ब्र० सू० ३-४-१२)*

अर्थात् केवल अध्ययनवाला होने से ।

यहाँ ज्ञान के विषय में यह कहा है कि पुस्तकों से ज्ञान पढ़ जाने मात्र से कुछ लाभ नहीं होता । ज्ञान का प्रयोग कर्म में होता है ।

यही आशय इस सूत्र का है । ज्ञान-संकल्प की अवस्था में कर्म अधिक काल तक नहीं रहता । जब ज्ञान कर्म में परिणत होता है तो ज्ञान का फल स्थायी होता है ।

यहाँ कर्म का अभिप्राय सामान्य रूप में ही लेना चाहिए । भक्ति अथवा देवताओं की उपासना लेना तो ज्ञान का विकल्प है । यह भी चिरकाल तक फल नहीं देता ।

ज्ञानयुक्त (असामान्य) कर्म ही अधिक काल तक लाभ देता है ।

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—भावनोपचयात्, शुद्धस्य, सर्वम्, प्रकृतिवत् ।

अर्थात्—भावना जिसकी सिद्ध हो चुकी है, ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले का सब-कुछ प्रकृतिवत् हो जाता है ।

भावना-सिद्धि का अभिप्राय है जो कुछ वह होना चाहता था, वह उसे प्राप्त हो चुका है । मोक्ष-प्राप्ति के योग्य व्यक्ति और जिसका अन्तःकरण शुद्ध, तथा रागों से मुक्त हो चुका है, उसके सब काम प्रकृतिवत् हो जाते हैं ।

यहाँ ऐसे जीवात्मा की बात कही है जो अभी शरीर में है । कारण कि उसे शुद्ध अन्तःकरणवाला कहा है । अन्तःकरण भी तो शरीर का अंग है । अभिप्राय यह कि मनुष्य जब समाधि-अवस्था को प्राप्त कर लेता है,—समाधि-अवस्था योग-साधना की अन्तिम अवस्था है—,तब उसका अन्तःकरण शुद्ध (निर्मल) हो जाता है । उस समय उसके सांसारिक काम प्रकृति के कामों के समान चलते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के कार्य अनायास ही होते रहते हैं, स्वभाववश होते हैं। जैसे सूर्योदय होता है, सूर्यास्त होता है, अथवा अन्य प्राकृतिक कार्य होते हैं, उसी प्रकार, ऐसे मनुष्य के सांसारिक कार्य अनायास होते रहते हैं। वे उसे संसार के साथ बाँधते नहीं।

गीता में इसे निष्काम कर्म कहा है। इसे ही कर्म-योग भी माना हे। प्रकृतिवत् कर्म को योगदर्शन में अनुशासित कर्म कहा है। योगदर्शन का सूत्र है—

अथ योगानुशासनम्। *(योग० १-१)*

अर्थात्—अब योग जो अनुशासन है, उसका वर्णन करते हैं।

अनुशासन का अर्थ अगले सूत्र में दर्शनाचार्य करते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ *(योग० १-२)*

अर्थात्—चित्त की वृत्तियों के निरोध (नियन्त्रण) को योग कहते हैं।

चित्त की वृत्तियों के नियन्त्रण को ही अनुशासन माना है। चित्त की वृत्तियों को नियन्त्रण में रखकर हो रहे व्यवहार प्रकृतिवत् मानने चाहिएँ।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—रागोपहतिः, ध्यानम्।

अर्थात्—राग का हनन ध्यान है।

राग है संसार के विषयों में चित्त का लीन होना। इसको इन विषयों से हटा लेने को 'रागोपहतिः' कहा है। चित्त की उस अवस्था को रागरहित कहा है जिसमें चित्त विषयों से लगाव अनुभव नहीं करता। विषयों की प्राप्ति की इच्छा को ही लगाव कहा जाता है।

सांख्याचार्य ने इन विषयों के मोह से रहित अवस्था को ध्यानावस्था माना है। योगदर्शन में इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्॥ *(योग० ३-२)*

अर्थात्—उसमें प्रत्यय (ज्ञान) का एक-जैसा बना रहना ध्यान है।

प्रत्यय को भी चित्त की वृत्ति माना है। वृत्ति व्यवहार को कहते हैं। चित्त का व्यवहार ज्ञान ही है।

अतः ज्ञान का एक-समान बने रहने से अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता—एक ही बात में लीन रहना, एक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर चित्त का आकर्षित न होना। इसी को ध्यान कहा है। सांख्याचार्य और योगाचार्य एकमत ही हैं।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—वृत्तिनिरोधात्, तत्सिद्धिः।

अर्थात्—चित्त की वृत्ति (व्यवहार) पर नियन्त्रण से उसकी सिद्धि है।

किसकी ? ध्यान की सिद्धि। अभिप्राय यह है कि चित्त के व्यवहार को नियन्त्रण में कर लेने का नाम ही ध्यानावस्थित होना है।

धारणाऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—धारणाऽसनस्वकर्मणा, तत्-सिद्धिः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—ध्यानावस्थित होना, आसन पर स्थिर होने और स्वकर्म से उसकी सिद्धि (कराते) हैं।

ध्यान के विषय में सूत्र ३-३० व ३१ में वर्णन किया जा चुका है। अब उससे आगे समाधि-वर्णन चल पड़ा है। कहा है कि समाधि-अवस्था प्राप्त करने के लिए ध्यान, आसन और स्वकर्म साधन हैं। आसन के लिए अगले सूत्र में बताया है। स्वकर्म के विषय में भी आगे चलकर बताया गया है।

समाधि प्राप्त करने के लिए एक अन्य साधन का वर्णन कर दिया है।

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—निरोधः, छर्दि, विधारणाभ्याम्।

अर्थात्—निरोध का उपाय है छर्दि और विधारण।

चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण को निरोध कहा है। इसका वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ उसको प्राप्त करने का उपाय बताया है।

छर्दि कहते हैं उलटी कर देना। यहाँ छर्दि से अभिप्राय है श्वास को बाहर करना; वेग से भीतर का श्वास बाहर निकालने को छर्दि कहते हैं। विधारण से अभिप्राय है श्वास को विविध रूप से धारण करना।

विविध रूप से धारण करने का अर्थ है, श्वास को भीतर ले-जाना, भीतर ले- जाकर रोकना और फिर बाहर निकालना। इसको पूरक, कुम्भक और रेचक भी कहते हैं। पूरक से साँस को भीतर ले-जाना, और कुम्भक है इसको भीतर रोकना, तथा रेचक का अभिप्राय है बाहर निकालना।

छर्दि और रेचक में अन्तर है। छर्दि साँस को ऐसे बाहर फेंकने को कहते हैं जैसे वेग से खाया-पीया उलट दिया जाता है। परन्तु रेचक से अभिप्राय है नियमपूर्वक श्वास को बाहर निकालना। छर्दि तो केवल नित्य अभ्यास आरम्भ के नियम से एक बार ही करना। श्वास के अवधारण का अभिप्राय समझना चाहिए। श्वास का अवधारण है श्वास को नियमबद्ध करना। नियम भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न बताए हैं और अभ्यास भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के लिए बताया है।

पूरक, कुम्भक और रेचक समान गति में हो सकते हैं, अर्थात् जितना काल श्वास भीतर ले-जाने में लगे, उतना ही समय श्वास भीतर रोकने और उतना समय श्वास को बाहर निकालने में लगना चाहिए।

कुछ अन्य आचार्यों ने पूरक, कुम्भक और रेचक के लिए भिन्न-भिन्न समय भी बताए हैं और फिर इनमें अनुपात अभ्यास करनेवाले की स्थिति पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के रूप में स्वामी ओमानन्द अपने ग्रन्थ 'पातञ्जल योग प्रदीप' में इस प्रकार कहते हैं—

'बीज मन्त्र' में 'अ' अथवा 'ओ३म्' का छः बार मानसिक जप करते हुए बाएँ नासिका-पुट से धीमे-धीमे बिना आवाज़ किए हुए वायु को मूलाधार तक पूरक करें। चौबीस बार ओ३म् मन्त्र का अथवा ओ३म् का बारह बार मानसिक जाप करते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे-धीरे बिना आवाज़ किए दाएँ नासिका-पुट से रेचक करें। थोड़ी देर वायु को एक सैकण्ड तक बाहर रखकर पूर्ववत् छः मात्रा में 'ऊं' अथवा 'ओ३म्' के बीज मन्त्र का जाप करते हुए इसी (दाएँ) नासिका-पुट से पूरक करें। पूरक के पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक, तत्पश्चात् बाएँ नासिका-पुट से रेचक करें। ये दो प्राणायाम हुए। इसी प्रकार दोनों नासिका-पुट से एक-साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है।'

मात्राओं की संख्या १ : ४ : २ अनुपात से बढ़ायी जा सकती है। स्वामी जी का मत है कि अभ्यास के बढ़ने पर मात्राएँ पूरक, कुम्भक और रेचक २०-८०-४० तक ले जायी जा सकती हैं।

मात्राएँ बढ़ाने में शीघ्रता न करें। धीरे-धीरे अभ्यास से बढ़ाएँ।

अवधारण की प्रक्रिया दूसरे आचार्य भिन्न भी बताते हैं।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—स्थिरसुखम्, आसनम्।

अर्थात्—स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठ सकें (वह स्थिति) 'आसन' है।

आसन ऐसा नहीं होना चाहिए जिस स्थिति में निश्चिन्त और स्थिर होकर न रहा जा सके। सुख से अभिप्राय है कि अधिक-से-अधिक काल तक बिना थकावट के उस स्थिति में रहा जा सके। प्रायः पद्मासन ही इसके लिए उपयुक्त माना जाता है। परन्तु यह अभ्यास करनेवाले के अपने शरीर की सामर्थ्य और बनावट के अनुसार होता है।

एक बात और समझ लेनी चाहिए कि आसन ऐसा न हो कि उसमे नींद ही आ जाये।

प्रायः कुछ मुद्राएँ और आसन करने को कहा जाता है। उदाहरण के रूप में 'वज्रोली मुद्रा' है। वीर्य-रक्षा के लिए यह आसन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वांगासन इत्यादि हैं। इनका योग की सिद्धि से सीधा सम्बन्ध नहीं। ये शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों को स्वस्थ रूप से कार्य करने में योग्य बनाए रखने के लिए हैं। यह ठीक है कि स्वस्थ शरीर से मुख्य योग-साधना भली-भाँति हो सकती है, परन्तु इनका सीधा सम्बन्ध चित्त की वृत्तियों के निरोध के साथ नहीं है।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—स्वकर्म, स्वाश्रम-विहित-कर्मानुष्ठानम्।

अर्थात्—अपने आश्रम में विधान किए गए कर्मों का अनुष्ठान करना स्वकर्म कहा जाता है।

आश्रम चार माने गए हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। अपने-अपने आश्रम के कर्मों के विषय में शास्त्र में विधान किया गया है। उन कर्मों को सांख्य ३-३२ में कहे अनुसार करने से 'तत्सिद्धिः' (वृत्ति निरोध) हो सकती है।

इसका अभिप्राय यह है कि अपने आश्रम का नियमपूर्वक पालन करते हुए भी योगाभ्यास किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्रों में भी प्रकार लिखा है—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ (ब्र० सू० ३-४-३२)

आश्रत के नियम कर्मों के द्वारा भी (मोक्ष की प्राप्ति) हो सकती है। दर्शनशास्त्र योगाभ्यास के लिए अर्थात् मुक्ति-प्राप्ति का यत्न करने के लिए घर-बार छोड़कर वनों में जाने की आवश्यकता नहीं समझते। यह व्यक्ति की अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार है।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—वैराग्यात्, अभ्यासात्, च।

अर्थात्—वैराग्य से और अभ्यास से (सिद्धि प्राप्ति होती है)।

यहाँ सिद्धि से अभिप्राय मोक्ष-प्राप्ति है। वैराग्य का अर्थ है राग से विरत होना।

राग के विषय में सूत्र ३-३० के भाष्य में लिख आए हैं। वहाँ हमने बताया है कि राग संसार के विषयों में चित्त का लीन होना है। अतः संसार के विषयों से चित्त को हटा लेना राग से विरत होना कहा जाता है।

अभ्यास का अर्थ है योगाभ्यास। पतञ्जलि ऋषि ने योग के आठ अंग बताये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, परिग्रह, धारणा, ध्यान, समाधि—ये सब अभ्यास करने की बातें हैं।

यहाँ सिद्धि का साधन वैराग्य और ऊपर के सूत्र (३-३५) में लिखा है कि आश्रम के विहित कर्म भी सहायक होते हैं। क्या आचार्य ने परस्पर-विरोधी बातें कह दी हैं? क्या वैराग्य संसार से उपराम होना नहीं? यदि है तो फिर आश्रम के विहित कर्म कैसे किए जा सकेंगे?

हमारा मत है कि वैराग्य और आश्रम-धर्म परस्पर विरोधी नहीं। एक गृहस्थ, नियमपूर्वक गृहस्थ का पालन करता हुआ भी विरक्त हो सकता है। यह आश्रम के कर्मों को निष्काम भाव से करने से हो सकता है। निष्काम-भाव और वैराग्य पर्याय-वाचक शब्द हैं।

भगवद्गीता में भी इसी सांख्य-विचार को स्पष्ट किया गया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

(भ० गी० ५-३)

अर्थात्—जो पुरुष न द्वेष करता है और न आकांक्षा रखता है, वह सदा ही संन्यासी समझा जाने के योग्य है, क्योंकि द्वन्द्वों (हर्ष-शोक, सुख-दुःख) से रहित संसाररूपी बन्ध से सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है।

अतः सूत्रार्थ है वैराग्य से और अभ्यास (योगाभ्यास) से मोक्ष की सिद्धि सम्भव है।

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—विपर्ययभेदाः, पञ्च।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—(समाधि योगाभ्यास की अन्तिम सीढ़ी से) लौटानेवाले व्यवहार पाँच हैं।

विपर्यय का अर्थ हम बता चुके हैं। किसी किए जाने वाले काम से लौटने को विपर्यय कहते हैं। सूत्र ३-३६ में सिद्धि प्राप्त करने में वैराग्य और अभ्यास की बात कही गई है। ये दोनों व्यवहार हैं। यहाँ कहा है कि वैराग्य और अभ्यास से लौटानेवाले व्यवहार पाँच प्रकार के हैं।

विपर्यय को मिथ्या ज्ञान भी कहा जाता है। योगदर्शन में ही लिखा है—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ *(योगदर्शन १-८)*

अर्थात्—मिथ्या ज्ञान (अतद् रूप प्रतिष्ठम्) जो वस्तु के वास्तविक रूप को प्रतिष्ठित नहीं करता, वह विपर्यय (का कारण) है।

यहाँ हमने 'का कारण' अपने पास से भाव को पूर्ण करने के लिए लिख दिया है। अन्यथा सूत्रार्थ बनता है, मिथ्या ज्ञान जो वस्तु के वास्तविक रूप को प्रतिष्ठित नहीं करता, वह विपर्यय है।

हम समझते हैं कि विपर्यय मिथ्या-ज्ञान नहीं। यह तो वैराग्य तथा अभ्यास से उलटे मार्ग पर चलना है। ऐसा चलने में मिथ्याज्ञान-मार्ग है। अतः सूत्रकार का मत यही प्रतीत होता है। हमने लिखा है कि विपर्यय मिथ्या ज्ञान नहीं, वरन् मिथ्या ज्ञान विपर्यय का कारण है।

योगदर्शन में इन कारणों को 'क्लेश' कहा है। इन पाँच क्लेशों के नाम हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

इनकी व्याख्या से भी पता चलेगा कि ये मिथ्या ज्ञान नहीं, वरन् मिथ्या ज्ञान के कारण (व्यवहार) हैं।

अविद्या के विषय में योगदर्शन इस प्रकार कहता है:—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥

(योग० २-५)

अर्थात्—अनित्य को नित्य मानना, अपवित्र को पवित्र मानना, दुःख को सुख मानना, अनात्म (जड़) वस्तु को आत्म (चेतन) मानना अविद्या है। जो वस्तु जैसी नहीं, वैसा मानना अविद्या है।

अस्मिता का वर्णन योगदर्शन में इस प्रकार किया है:—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ *(योग० २-६)*

अर्थात्—जैसा देखा वैसा ही समझ लेना अस्मिता कहलाता है।

दृक् से अभिप्राय है कि आँख से दिखायी दे और दर्शन से अभिप्राय है जैसा समझ में आए, अर्थात् बाहरी रूप को देखकर वस्तु को वैसा ही समझ लेना अस्मिता है। इसे सामान्य भाषा में भ्रम कहते हैं।

वैसे अस्मिता की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अस् धातु से लट् लकार उत्तम पुरुष, एक वचन में 'अस्मि' ऐसा शब्द बनता है। इस रूप से भाववाचक 'ता' प्रत्यय होने पर अस्मिता रूप बना। इसका अर्थ है 'मैं हूँ', अर्थात् घमण्ड। यह विपर्यय का कारण है।।

राग के विषय में योगदर्शन कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखानुशयी रागः ॥ *(योग० २-७)*

अनुशयी—सो जाना अथवा टिक जाना। यहाँ अभिप्राय है स्मृति। सुख का चित्त में टिक जाना अर्थात् सुख की स्मृति। इसका परिणाम होता है सुख को पुनः प्राप्त करने की इच्छा। यह राग है। इसे सामान्य भाषा में रस भी कहते हैं।

द्वेष के विषय में योगदर्शन में कहा है—

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ *(योग० २-८)*

दुःख की स्मृति और उसके लिए अनिच्छा द्वेष कहलाता है।

अभिनिवेश का वर्णन इस प्रकार किया है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ *(योग० २-९)*

अर्थात्—स्वभाव से होनेवाला किसी विषय पर विचार। विद्वानों के कहे हुए, अथवा प्रचलित किंवदन्ति पर मान लेने को अभिनिवेश कहते हैं।

जब बिना अपने मन में मनन किए (ठीक-ग़लत का निश्चय किए बिना) कोई बात दूसरों के कहने पर मान ली जाए, भले ही वह कथन किसी विद्वान् का कहा हो अथवा यह बहुत-से लोगों द्वारा कहा गया हो, उसे स्वीकार करना अभिनिवेश कहलाता है।

यहाँ शब्द है 'स्वरसवाही'। इसका अर्थ है स्वभाव से। बिना विचार एवं मनन कर समझे हुए किसी भी सिद्धान्त का स्वीकार करना मोक्ष के अभ्यास में बाधक है।

योगी के लिए केवल कथन-मात्र, भले ही वह कथन शास्त्र-विषय का हो, अथवा प्रचलित रूढ़ि हो, उसके कार्य में विघ्न डालनेवाला होता है।

यहाँ अन्ध-विश्वास अथवा जन-श्रुति पर विश्वास को अभिनिवेश कहा है और इसे एक क्लेश अर्थात् विपर्यय में एक कारण माना है।

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—अशक्तिः, अष्टाविंशतिधा, तु।

अर्थात्—(परन्तु) अशक्ति अट्ठाइस प्रकार की है।

पूर्व-सूत्र (३-३७) में बताया है कि विपर्यय पाँच प्रकार का है। विपर्यय का अर्थ हम बता चुके हैं कि विपरीत गति उत्पन्न करनेवाले कारण विपर्यय कहलाते हैं—प्रकृति के बन्ध से छूटने से विपरीत दिशा में ले-जाने वाले कारण।

यहाँ उन कारणों का वर्णन है जो विपरीत दिशा की ओर तो नहीं ले-जाते, परन्तु जो कार्य-सिद्धि में असमर्थ-रूप होते हैं, अर्थात् असमर्थता उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

असामर्थ्य का अभिप्राय है शक्ति-विहीनता—कार्य-सिद्धि में शक्ति-विहीनता। कार्य-सिद्धि सांसारिक हो अथवा प्रकृति-बन्ध से मुक्ति की हो, दोनों की प्राप्ति में असामर्थ्य अट्ठाइस प्रकार की कही है।

इन अट्ठाइस प्रकार की अशक्तियों की गणना कपिल ने नहीं की, परन्तु एक अन्य सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्य-कारिका में इनकी गणना की है। वह लिखता है—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ *(ई० कृ० ४९)*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—ग्यारह इन्द्रियों के बन्ध हैं। ये बुद्धि के बन्धों के साथ मिलकर अट्ठाइस अशक्ति कहलाती हैं। तुष्टि नौ हैं और सिद्धि आठ हैं। इस प्रकार विपरीत बुद्धि के सत्रह बन्ध हैं। इन्द्रियाँ के और तुष्टि तथा सिद्धि से विपरीत बुद्धि के, सब मिलकर अट्ठाइस बन्ध हैं।

बुद्धि के बन्धों के विषय में लिखा है—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ (ई० कृ० ५०)

अर्थात्—नौ तुष्टियाँ हैं। चार आध्यात्मिक हैं—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य। पाँच तुष्टियाँ बाध्य हैं जो विषयों से उपराम होने पर होती हैं।

प्रथम कारिका (सां० का० ४९) में यह समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियों को अशक्ति नहीं माना, प्रत्युत इन्द्रियों के बन्ध को अशक्ति माना है। बन्ध का अभिप्राय है इन्द्रियों (एक अथवा एक से अधिक) का विनष्ट अथवा विकृत हो जाना। इन्द्रियाँ तो शक्ति हैं। इन्द्रियों में हानि होना अशक्ति है।

इसी प्रकार बुद्धि और सिद्धि को अशक्ति नहीं कहा। इनके विपर्यय को अशक्ति कहा है। तुष्टि कहते हैं सन्तोष को, और इसका विपर्यय है असन्तोष। इसी प्रकार सिद्धि नहीं वरन् सिद्धि का विपर्यय अर्थात् असिद्धि अशक्ति है।

श्री उदयवीर शास्त्री तथा अन्य भाष्यकार तुष्टि और सिद्धि को ही अशक्ति मान रहे हैं। उदाहरण के रूप में शास्त्री जी लिखते हैं—

'तुष्टि का स्वरूप परितोष अथवा सन्तोष है। परितोष की ऐसी भावना का उद्रेक होना कि अमुक अध्यात्म-सम्बन्धी कार्य हो ही गया है अथवा अमुक साधन या रीति से स्वतः हो जाएगा, मुझे उसमें क्या करना है? आत्मज्ञान का बाधक होती है।'

इसी प्रकार सिद्धि के विषय में शास्त्री जी लिखते हैं—

'आत्म-जिज्ञासु आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए जब यत्नशील रहता है, तथा योग और उपासनादि का निरन्तर अभ्यास करता है, तब कभी-कभी वह एक स्थिति का अनुभव करता है। अचानक वह कभी उपासना में उद्दीप्त प्रकाश देखता है, कभी अपने-आप को महान् आत्माओं के सम्पर्क में पाता है, जो उसका मार्ग-दर्शन करते दीखते हैं—इन अवस्थाओं को सिद्धि समझकर इन्हीं में अटका रहता है।'

श्री शास्त्री जी का यह अनुभव हो सकता है, परन्तु इन सूत्रों का यह भाव नहीं है।

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—तुष्टिः, नवधा।

अर्थात्—तुष्टि (सन्तोष) नौ प्रकार की है।

कपिल मुनि ने यह लिखा है कि तुष्टि भी उदासीनता का कारण हो सकती है।

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

पदच्छेद—सिद्धिः, अष्टधा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—सिद्धि आठ प्रकार की है।

तुष्टि और सिद्धि के विषय में सूत्रकार ने सूत्र ४१ और ४२ में लिखा है कि ये अशक्ति (असामर्थ्य) के भेद हैं। परन्तु भाष्यकारों ने सूत्र ३८, ३९, ४०, ४१ और ४२ के अर्थ अन्य प्रकार से किए हैं। सूत्र ३-३८ के भाष्य में हमने अपने अर्थ तथा भाष्यकारों के अर्थों में अन्तर के विषय में लिखा है। वहाँ हमने बताया है कि तुष्टि और सिद्धि अशक्ति नहीं, वरन् इन्द्रियों का बन्ध अशक्ति है। अब इन सूत्रों (३-३९, ४०) में तुष्टि और सिद्धि के भेद लिखे हैं। इन नौ तुष्टियों और आठ सिद्धियों के विपर्यय अशक्ति हैं—ऐसा ईश्वरकृष्ण ने लिखा है।

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—अवान्तरभेदाः, पूर्ववत्।

अर्थात्—ऊपर (सूत्र ३-३९ में) कहे अनुसार (ये अशक्ति के भेद) अवान्तर भेद, अर्थात् उपभेद हैं।

अभिप्राय यह है कि तुष्टि के नौ भेद अशक्ति के भेद की भाँति हैं। ईश्वरकृष्ण के कथनानुसार तुष्टि के विपर्यय (असन्तोष) अशक्ति के अवान्तर भेद हैं।

एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—एवम्, इतरस्याः ।

अर्थात्—ऐसे ही दूसरे (सिद्धि) के भेद (अशक्ति के अवान्तर भेद) हैं।

अन्य भाष्यकारों ने इन दो सूत्रों (३-४१, ४२) को विपर्यय और अशक्ति के अवान्तर भेद में कहा है। हमारे मत में नौ तुष्टियाँ और आठ सिद्धियाँ (विपर्यय में अशक्ति) के अवान्तर भेद कहे हैं।

आगे नौ तुष्टियों तथा आठ सिद्धियों के अवान्तर भेदों की गणना की है।

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—आध्यात्मिकादिभेदात्, नवधा, तुष्टिः ॥

अर्थात्—आध्यात्मिकादि भेद से नौ प्रकार की तुष्टि है।

तुष्टि के नौ प्रकार (ईश्वरकृष्ण की सां० का० ५० में) हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। उस कारिका में कहा है कि चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं और पाँच बाह्य हैं। आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं—(१) प्रकृति, (२) उपादान, (३) काल, और (४) भाग्य।

इन चारों का सम्बन्ध जीवात्मा से है, इस कारण इनको आध्यात्मिक कहते हैं। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। उपादान साधनों को कहते हैं। काल भी जीवात्मा से सम्बन्ध रखता है। भाग्य और काल परस्पर सम्बन्धित हैं।

बाह्य तुष्टियाँ पाँच प्रकार की हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ये विषय हैं शब्द, स्पर्शादि। इन पाँचों का विपर्यय अशक्ति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—ऊहादिभिः, सिद्धिः, अष्टधा।

अर्थात्—ऊहादि भेदों से सिद्धि आठ प्रकार की है।

इसी प्रकार सिद्धियों के अवान्तर भेद ईश्वरकृष्ण ने एक कारिका में वर्णन किए हैं—

अर्थात्—ऊह, शब्द, अध्ययन, दुःख-विघात (दुःख का नाश करनेवाले) तीन हैं। सुहृत्प्राप्ति, दान और तीन प्रकार के अंकुश—ये आठ सिद्धियाँ हैं।

यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि ये सिद्धियाँ हैं। अतः ये अशक्ति नहीं, शक्ति हैं। ऊहः से अभिप्राय है विद्वज्जनों से वार्तालाप करना।

शब्द का अर्थ है वेद-वचन सुनना और अध्ययन से अभिप्राय है शास्त्राध्ययन। ये दुःख का वध अर्थात् नाश करने से तुष्टि एवं सिद्धि हैं। इनका विपर्यय (सां० का० ४९) अशक्ति है।

इसी प्रकार सुहृत्प्राप्ति (किसी श्रेष्ठ मित्र का मिल जाना), दान में प्राप्त ज्ञान और तीन प्रकार के अंकुश हैं—ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, और प्रत्याहार।

स्वामी ओमानन्द जी भी उक्त कारिकाओं के भाष्य में कहते हैं—

(ये सिद्धियाँ हैं) इनसे उलटी आठ प्रकार की असिद्धियाँ हैं। वे बुद्धि की आठ प्रकार की अशक्तियाँ हैं।

जो बात हम सूत्र ३-३८ से ४४ के भाष्य में कह आए हैं, वह सूत्रकार स्वयं भी कहता है।

नेतरादितरहानेन विना ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—न, इतरात्, इतरहानेन, विना।

अर्थात्—नहीं होता दूसरे से दूसरी के हानि (विपर्यय) के बिना।

क्या नहीं होता? उनका अशक्तिरूप, अर्थात् दूसरे से तुष्टि और सिद्धि। सूत्रकार कहता है कि तुष्टि और सिद्धि से अशक्ति का रूप नहीं होता बिना उनके विपर्यय हुए। तुष्टि और सिद्धि का उलट है अतुष्टि और असिद्धि। असन्तोष और असिद्धि ही अशक्ति का रूप हैं।

सूत्रकार ने सूत्र ३-२२ में यह बताया है कि चैतन्य मद्य के नशे की भाँति नहीं। मद्य में उत्तेजना प्राकृतिक पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होती है, परन्तु वह चेतना का स्वरूप नहीं।

सूत्र ३-२३ में प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन आरम्भ होता है। जीवात्मा शरीर के बन्धन से ज्ञान के द्वारा छूटता है और इससे उलट (सूत्र ३-२४) अर्थात् अज्ञान से शरीर में बँधता है। इसके आगे सूत्र ३-२६ से ३-४५ तक जीवात्मा और शरीर के संयोग तथा वियोग, दोनों के विषय में कहा है।

इसके उपरान्त सूत्र ३-४६ से विषय बदल गया है। आगे सृष्टि-रचना के विषय में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा है। वैसे कार्यजगत् (प्रकृति के परिणाम) के विषय में पूर्व के अध्यायों में लिख चुके हैं। यहाँ प्राणी-सृष्टि का विषय आरम्भ किया जा रहा है।

दैवादिप्रभेदा ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—दैवादि, प्रभेदा।

अर्थात्—(सृष्टि) दैवादि भेदवाली है।

दैवादि से अभिप्राय है देवता, अर्थात् मनुष्य-इतर जीव-जन्तु। ऐसा भाष्यकार अर्थ कर रहे हैं। उनका अभिप्राय है कि ऐसे जीव जो मनुष्य से ऊँचे (उन्नत) प्राणी हैं। परन्तु यह भी माना जाता है कि प्राणियों में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। तब दैव से अभिप्राय होगा मनुष्य और 'आदि' से अभिप्राय होगा, मनुष्य से इतर जीव-जन्तु। यह उपनिषदादि ग्रन्थों में बार-बार कहा गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ कर्मों से देवलोक में जाता है और वहाँ वह कर्म नहीं करता, वरन् अपने पूर्व-जन्म के कर्मों का भोग ही करता है। देवलोक में प्राणी-सृष्टि अर्थात् प्राण से जीवित रहने वाली सृष्टि नहीं है। प्राण हों तो कार्य (कर्म) होता है। प्राण शक्ति है जिससे हिलना-डोलना होता है। अतः देव-सृष्टि प्राण-युक्त नहीं। कुछ भी हो, सूत्रकार का अभिप्राय यह हो सकता है कि विभिन्न प्रकार की सृष्टि होती है।

श्री उदयवीर शास्त्री दैव, तिर्यक् और मानुष, तीन वर्ग की सृष्टि दैवादि से लेते हैं। उनका कहना है कि देव आठ प्रकार के होते हैं, तिर्यक् पाँच प्रकार के और मानुष एक प्रकार का है। प्राणी-जगत् के ये चौदह विभाग मानने हैं। यह गणना शास्त्री जी ने 'तत्त्व समास' सूत्र-ग्रन्थ से ली है।

इस सूत्र का अर्थ यह भी हो सकता है—

दैव (भाग्य अर्थात् पूर्व-कल्प के कर्म-फल) से प्राणियों में भेद होते हैं, अर्थात् वर्तमान कल्प में प्रथम उत्पन्न प्राणियों में भेद उनके पूर्व-कल्प के विभिन्न कर्म-फल, जिनका भोग वे तब नहीं कर सके, के कारण हैं। हम दूसरे अर्थ को अधिक उपयुक्त समझते हैं।

प्राणी-सृष्टि का वर्णन आरम्भ करते हुए सूत्रकार का आदि-सृष्टि में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों के होने का कारण बताना उचित ही है। इन अर्थों का अगले सूत्र से पूर्वापर सम्बन्ध भी ठीक बैठता है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्, तत्कृते, सृष्टिः, आविवेकात्।

अर्थात्—ब्रह्म से स्थावर-पर्यन्त उस जीवात्मा के लिए सृष्टि-(प्राणी)-रचना होती है, विवेक होने तक।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति में सृष्टि-रचना ब्रह्म से स्थावर-पर्यन्त होती है जब तक अविवेक रहता है। विवेक होने पर यह प्राणी-भेद छूट जाता है। यह भेद जीवात्माओं में नहीं है। यह शरीरों में भेद होता है और यह भेद पूर्व के सूत्र में बताया है—पूर्व-कल्प के कर्म-फलों के कारण होता है। कर्म-फल से भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा को मिलते हैं।

ब्रह्म से अभिप्राय परमात्मा नहीं है। ...यह कि परमात्मा तो कर्मफल के अधीन जन्म नहीं लेता। ब्रह्म का अर्थ जीवात्मा भी नहीं है। कारण यह कि ये विभिन्न शरीर जीवात्मा के लिए निर्माण होते हैं। यह 'तत्कृते' शब्द से प्रकट होता है।

अतः हमारा मत है कि यहाँ ब्रह्म से अभिप्राय मूल प्रकृति है। उपनिषत्कार प्रकृति को भी ब्रह्म मानते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-९,१२) में 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' कहा है। अर्थात् जीवात्मा, प्रकृति और प्रेरणा देनेवाला परमात्मा तीन प्रकार का ब्रह्म है।

हमारा अभिप्राय यह है कि यहाँ ब्रह्म से अभिप्राय 'भोग्यं' (शरीर) है। प्रकृति से लेकर मानव-पर्यन्त सब शरीर प्रकृति से ही बने हैं और ये जीवात्मा के लिए है। ये जीवात्मा को मिलते रहते हैं जब तक उसे विवेक नहीं हो जाता।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥ ४८ ॥
तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥
मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥

हम ये तीन सूत्र एक-साथ दे रहे हैं। कारण यह कि तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

अर्थात्—ऊँचे (उन्नत) हैं सत्त्वगुण-प्रधान। तमोगुण-प्रधान हैं मूल (नीचे) की योनियों में, और मध्य में हैं रजोगुण-प्रधान।

यहाँ ऊँचे, मध्य और निम्न शब्दों से योनियों का अभिप्राय लिया जाता है। ऊँची योनियाँ मनुष्य इत्यादि हैं, मध्य की योनियाँ पशु-पक्षी इत्यादि हैं और निम्न योनियाँ हैं कीट-पतंगा इत्यादि।

कुछ भाष्यकार इनसे स्थावर-सृष्टि के तीन अंग लेते हैं—मूल में तमोगुण-प्रधान होता है, तने में रजोगुण-प्रधान और पत्तों, फल और फूलों में सतोगुण-प्रधान प्रकृति होती है।

कुछ-एक भाष्यकार इन तीन में दैवी दृष्टि, मानुषी सृष्टि और तिर्यक् सृष्टि लेते हैं।

तीनों ही अर्थ ठीक प्रतीत होते हैं। फिर भी हमारे मत में प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त हैं। ऊँची योनियों से अभिप्राय मनुष्य जानना चाहिए, मध्यम से पशु-पक्षी इत्यादि और निम्न से कीट-पतंगा इत्यादि।

यह नहीं कि इन सबमें तीनों गुण नहीं होते। सत्त्व, रजस् और तमस् तो सबमें प्रधान होता है और निम्न (कीट पतंगादि) योनियों में तमःगुण प्रधान रहता है।

कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—कर्म-वैचित्र्यात्, प्रधानचेष्टा, गर्भदासवत्।

अर्थात्—कर्मों की विचित्रता से प्रकृति की विभिन्न चेष्टाएँ (क्रियाएँ) होती हैं जैसे जन्म से दास की होती हैं।

कुछ लोग जन्म से ही दास-स्वभाव रखते हैं। वे सदा दूसरे की आज्ञा का पालन करते हैं। इन्हें 'गर्भदासवत्' कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति भी जीवात्मा की सेवा के निमित्त है, इस कारण इसको गर्भदास कहा है। प्रकृति की विभिन्न चेष्टाएँ अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर निर्माण करना जीवात्मा के कर्मों में विभिन्नता के कारण हैं। कर्मों से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर मिलते हैं।

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—आवृत्तिः, तत्रापि, उत्तरोत्तर-योनियोगात्, हेयः ।

अर्थात्—(जन्म-मरण) दोहराना वहाँ भी ऊपर और ऊपर जन्म लेना भी त्याज्य है। प्राणी-सृष्टि में उत्क्रमण करने की प्रकृति भी त्याज्य है, क्योंकि आगे कहा है—

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

पदच्छेद—समानम्, जरामरणादिजम्, दुःखम् ।

अर्थात्—(सब योनियों में) बुढ़ापा, मरण, आदि से उत्पन्न होनेवाला दुःख समान है।

जीवन का महान् दुःख बुढ़ापा तथा मरण है और ये सब ऊँची-से-ऊँची योनियों में भी होते हैं। इस कारण इन सबका त्याग ही करना चाहिए और मोक्ष-प्राप्ति का यत्न करना चाहिए।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

पदच्छेद—न, कारणलयात्, कृतकृत्यता, मग्नवत्, उत्थानात् ।

अर्थात्—नहीं है कारण में लय होने से कृतार्थता, डूबे के समान उठने से।

जैसे कोई डूबा प्राणी जल की किसी भी तह पर हो सकता है; यह विचारणीय नहीं कि वह जल-मग्न होकर तल पर चला गया अथवा जल में किसी ऊँचाई पर है। डूबा हुआ तो डूबा हुआ ही होता है। इसी प्रकार कारण में लिप्त हुआ मनुष्य कितना लिप्त है, यह विचारणीय नहीं होता। यहाँ कारण से अभिप्राय है प्रकृति। कारण-लय से अभिप्राय योनि के स्तर से है। एक जीवात्मा कीट-पतंग है, पशु-पक्षी है अथवा मनुष्य है, वह जब तक जन्म-मरण के बन्धन में है, समान स्थिति में ही है।

कारण में लय का अभिप्राय कुछ-एक भाष्यकार प्रकृति के गुण-अवगुणों की जाँच-पड़ताल में लगे मनुष्यों से लेते हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

"सूत्र में 'कारण' पद का अर्थ मूल प्रकृति है। यहाँ कारण में लय, परस्पर कार्य-कारण-भाव के आधार पर प्रतिपालन नहीं किया गया, क्योंकि आत्मा का कारण प्रकृति नहीं है। वस्तुतः आत्मा का कोई कारण नहीं है। आत्मा नित्य है। फिर कार्य-कारण-भाव के आधार पर कारण-प्रकृति में आत्मा के लय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए कारणलय का अभिप्राय है—मूल कारण-प्रकृति का साक्षात्कार करना। जो व्यक्ति सर्वात्मना लगकर प्रकृति-तत्त्वों का अनुसन्धान करते हैं और उनकी वास्तविकता को जान लेते हैं, यही उनका प्रकृति में लय होना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणलय का शाब्दिक अर्थ शास्त्रीजी तथा इसी प्रकार समझनेवाले अन्य भाष्यकारों के ठीक हैं, परन्तु भावार्थ अशुद्ध हैं।

कारण का अर्थ प्रकृति ही है; उसमें लीन होना अर्थात् लिप्त होना है। जो प्रकृति के रसों में लिप्त हुए हों, उनके उत्थान की आवश्यकता है, जैसे डूबे हुए मनुष्य को।

इसका प्रकृति के अनुसन्धान करने अथवा न करने से सम्बन्ध नहीं। अनुसन्धान करनेवाला प्रकृति के रसों में लिप्त भी हो सकता है और अलिप्त भी रह सकता है। यहाँ कारणलय से अभिप्राय मात्र प्रकृति के रसों में लिप्त होना, उसके मोह में फँसना है। यदि शास्त्रीजी की विवेचना ठीक मान लें तो वेद में कहे इस मन्त्र का क्या अर्थ होगा?—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ *(यजु० ४०-१४)*

अथवा

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्भेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ *(यजु० ४०-१४)*

अर्थात्—अविद्या के ज्ञान से यह संसार पार किया जा सकता है और विद्या तथा असम्भूति के ज्ञान से मोक्ष मिलता है। इस कारण वेद का कथन है कि दोनों, विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का ज्ञान आवश्यक है।

अतः सूत्रकार का यह मत नहीं हो सकता जो शास्त्रीजी ने व्यक्त किया है। सूत्र में कारणलय पद का अर्थ प्रकृति में लिप्त होना ही है।

कृतकृत्यता से अभिप्राय है कृतार्थता, अर्थात् कार्य में सिद्धि। सूत्र में कहा है कि कारणलयता से कृतकृत्यता नहीं होती। यदि कारणलयता का अर्थ लें मूल कारण-प्रकृति का साक्षात्कार कर लेना, तो यह कृतकृत्यता होगी। वेदानुसार अविद्या द्वारा मृत्यु से तरा जा सकता है।

सूत्रार्थ बनता है—प्रकृति के मोह में फँस जाना मुक्तावस्था की प्राप्ति में कृतार्थता नहीं, जैसे जल में मग्न मनुष्य उठ नहीं सकता। जल में तैरना जानकर वह मग्नावस्था से निकलने का साधन पा जाता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्॥ ५५॥

पदच्छेद—अकार्यत्वे, अपि, तत्-योगः, पारवश्यात्।

अर्थात्—(जीवात्मा के) अकार्य होने पर भी उस (प्रकृति) से सम्बन्ध दूसरे के अधीन होने के कारण है।

यह सूत्र पूर्वोक्त सूत्र (३-५४) की व्याख्या में ही है। जीवात्मा किसी का कार्य नहीं, फिर भी यह प्रकृति से सम्बन्धित होता है। यह शरीर धारण करता है। यह शरीर (प्रकृति) का ही अंश कहा जाता है। यह दूसरे के वश में होने से है।

यहाँ दूसरे से अभिप्राय है—कर्मफल, जिसका देनेवाला परमात्मा है। विवशता कर्म-फल की होती है। कर्म-फल परमात्मा के अधीन है। इस कारण परमात्मा के अधीन प्रकृति से सम्बन्ध कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ एक न्यायाधीश का उदाहरण लिया जा सकता है। अपराधी को दण्ड न्यायाधीश देता है, परन्तु वह दण्ड अपराधी के अपराध के अनुसार होता है। यही बात यहाँ है। शरीर से संयोग कर्म-फल का परिणाम है। परन्तु, क्योंकि फल देनेवाला परमात्मा है, इस कारण जीवात्मा का शरीर से संयोग परमात्मा के अधीन माना जाता है।

सूत्र में कहा है—तत् योगः = प्रकृति से सम्बन्ध होता है। पारवश्यात् = दूसरे के अधीन होने से। दूसरा कौन है ? उसकी व्याख्या अगले सूत्र में की है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ ५६ ॥

पदच्छेद—सः, हि, सर्ववित्, सर्वकर्त्ता।

अर्थात्—वह है सर्वज्ञ और सबका निर्माता।

अगला सूत्र है—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

पदच्छेद—ईदृशेश्वरसिद्धिः, सिद्धा।

अर्थात्—ईश्वर का होना स्वयं सिद्ध है।

अभिप्राय यह है कि वह, जो सबको कर्म-फल देनेवाला है, जो सर्वज्ञ है और जो सबका नियन्ता है, ऐसा ईश्वर युक्ति से सिद्ध होता है।[१]

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

पदच्छेद—प्रधानसृष्टिः, परार्थम्, स्वतः, अपि, अभोक्तृत्वात्, उष्ट्र-कुंकुमवहनवत्।

अर्थात्—प्रधान द्वारा सृष्टि-रचना दूसरे के लिए है। (प्रकृति) स्वयं अभोक्ता होने से ऊँट पर लदे केसर की भाँति है।

ऊँट की पीठ पर केसर लाद दिया जाए तो उसके लिए बोझा-मात्र ही है। वह ऊँट उसके गुणों को नहीं जानता। यही बात शरीर की है। शरीर जीवात्मा के कर्म-फलों का बोझ लादे हुए चला जाता है। फल का भोक्ता शरीर नहीं है। यह जीवात्मा है।

सूत्रकार कहता है कि प्रकृति परमात्मा के अधीन कार्य कर रही है, जैसे केसर से लदा ऊँट स्वामी के आदेश पर कार्य करता है।

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥ ५९ ॥

पदच्छेद—अचेतनत्वे, अपि, क्षीरवत्, चेष्टितम्, प्रधानस्य।

अर्थात्—प्रधान के अचेतन होने पर भी इसकी चेष्टा ऐसे ही होती है, जैसे माँ के दूध की चेष्टा होती है।

प्रधान (प्रकृति) अचेतन है। फिर भी यह चेष्टा करता है जैसे माँ के स्तन में दूध चेष्टा करता है। दूध दो प्रकार की चेष्टा करता है। एक तो वह बच्चे की पुष्टि करता है। दूसरे, माँ के स्तनों से स्रवित होता है। ठीक इसी प्रकार प्रधान की चेष्टा है। वह एक अन्य

१. देखें सूत्र १-१-२, ३, ४, ५ पर भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से भी है। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो दूध स्तनों में बनने लगता है और बच्चे के सम्मुख आने पर स्रवित होने लगता है।

प्रधान से कार्य-जगत् बनता है और साथ ही प्रधान के कार्यों से जीवात्मा को भोग प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों में तुलना की जा सकती है।

परमात्मा के अधीन होने से प्रकृति भी दोनों कार्य करती है।

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ॥ ६० ॥

पदच्छेद—कर्मवत्, दृष्टेः, वा, कालादेः।

अर्थात्—देखे जाने से क्रियाओं की भाँति और कालादि की भाँति।

ऊपर के सूत्र में कहा है कि प्रकृति की चेष्टा होती है दूध की भाँति। यहाँ इस सूत्र में कहा है कि प्रकृति की चेष्टा होती है कालादि से क्रियाओं की भाँति। अपने-अपने काल में क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार प्रकृति की क्रियाएँ होती हैं। उदाहरण के रूप में वर्षा ऋतु में वर्षा होती है, समय पाकर बीज फलता है और उससे वनस्पति उत्पन्न होती है; बच्चे के समय पर दाँत निकलते हैं, इत्यादि।

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानात् भृत्यवत् ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—स्वभावात्, चेष्टितम्, अनभिसन्धानात्, भृत्यवत्।

अर्थात्—स्वभाव से चेष्टा होती रहती है बिना किसी (अपने) प्रयोजन के, जैसे भृत्य कार्य करता है।

भृत्य स्वभाव से स्वामी के आदेश का पालन करता रहता है। उसका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं होता। यही बात प्रकृति की है। प्रकृति का अपना कुछ प्रयोजन नहीं होता। वह अपने स्वामी परमात्मा के आदेश से कार्य करती रहती है।

पहले के सूत्र में कहा है कि प्रकृति का कार्य होता है जैसे दूध की चेष्टा होती है अथवा काल पर कार्य होते हैं; इस सूत्र में कहा है कि प्रकृति का अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं होता, यह तो सेवक की भाँति परमात्मा का कार्य करती रहती है।

भृत्य के कार्य में कुशलता उसके गुणों के कारण होती है। फिर भी वह स्वामी के प्रयोजन के लिए कार्य करता है।

स्वामी जीवात्मा भी है और परमात्मा भी।

कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—कर्माकृष्टेः, वा, अनादितः।

अर्थात्—अथवा कर्मों का आकर्षण अनादि काल से है।

'वा' शब्द ऊपर के सूत्र के साथ सम्बन्ध बताने के लिए है। अभिप्राय यह है कि कर्म का आकर्षण (प्रभाव) अनादि काल से चला आता है।

जीवात्मा अनादि (नित्य) है। इस कारण इसके कर्म भी नित्य हैं। जीवात्मा एक क्षण के लिए भी कर्म के बिना नहीं रह सकता। इस कारण जीवात्मा और उसके कर्म तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म-फल भी नित्य ही हैं। कर्म-फल भोगने के लिए प्रकृति के बन्ध की आवश्यकता होती है, अतः प्रकृति से बन्ध भी नित्य है। इसे ही कर्म का आकर्षण कहा है।

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥ ६३ ॥

पदच्छेद—विविक्तबोधात्, सृष्टिनिवृत्तिः, प्रधानस्य, सूदवत्, पाके।

अर्थात्—विवेक (ज्ञान) हो जाने से प्रधान की रचना की निवृत्ति हो जाती है। रसोई पक जाने का कार्य हो जाने पर सूद (पाचक) की छुट्टी हो जाती है।

यहाँ कहा है कि सृष्टि-रचना का कार्य तो चलता रहता है, परन्तु उस व्यक्ति के लिए समाप्त हो जाता है, जिसको विवेक हो गया है।

इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—इतर, इतरवत्, तत्-दोषात्।

अर्थात्—दूसरे दूसरों के समान ही रहते हैं उनके दोष के कारण।

दूसरे अर्थात् जिनको विवेक नहीं हुआ, वे तो अपने अविवेक के कारण वैसे-के-वैसे ही रहते हैं जैसे सब हैं।

जिन जीवात्माओं को विवेक हो जाता है, उनके लिए प्रकृति का सृष्टि-सम्बन्धी कार्य नहीं रहता। अन्यों के लिए तो रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति कार्य करती रहती है। विवेकी जीवात्माओं के लिए प्रकृति का रचना-कार्य व्यर्थ हो जाता है। वे उससे प्रभावित नहीं होते। जीवात्मा के लिए सृष्टि से अभिप्राय है उसके शरीर में हो रहा घटन-विघटन। शरीर की ये क्रियाएँ तो चलती रहती हैं, परन्तु विवेकी आत्मा की इनके साथ रुचि अथवा अरुचि नहीं रहती।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—द्वयोः, एकतरस्य, वा, औदासीन्यम्, अपवर्गः।

अर्थात्—दोनों की अथवा उनमें से एक की उदासीनता अपवर्ग है।

उदासीनता का अभिप्राय है तटस्थता, रुचि न लेना, अथवा कार्य-मुक्त हो जाना। दोनों से अभिप्राय है प्रकृति और जीवात्मा, एकतरस्य—दोनों में एक का, अपवर्गः—यात्रा का अन्त है।

पूर्ण सूत्र का अर्थ यह है कि चाहे जीवात्मा कार्य से निवृत्त हो जाए अथवा प्रकृति निवृत्त हो जाए और चाहे दोनों ही हो जाएँ, यह अपवर्ग कहलाता है। यह अन्त है—किस बात का अन्त है? जीवात्मा-प्रकृति के संयोग का अन्त होता है। इसे यात्रा का भी अन्त कहते हैं। यात्रा में मनुष्य गाड़ी से मुक्त होकर चल पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति की गाड़ी से मुक्त होकर चल पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति की गाड़ी (कार्यरूप) में सवार होकर जन्म मरण की यात्रा पर चल पड़ता है।

दोनों (प्रकृति और पुरुष) अथवा दोनों में से एक (प्रकृति अथवा पुरुष) के अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य से निवृत्त होने पर अपवर्ग अर्थात् दोनों के संयोग का अन्त होता है।

अधिकांश भाष्यकारों ने अपवर्ग का अर्थ मोक्ष-प्राप्ति किया है। परन्तु क्या प्रकृति के कार्य से निवृत्त होने पर किसी को मोक्ष प्राप्त होता है? अर्थात् प्रलय-काल में प्रकृति कार्य से निवृत्त होती है। उस समय जीवात्माएँ सुषुप्ति अवस्था में हो जाती हैं। वे मुक्त नहीं होतीं, परन्तु कार्य समाप्त हो जाता है।

साथ ही अपवर्ग का अर्थ मोक्षावस्था नहीं है; अर्थ है अन्त—क्रिया-कलाप का अन्त, अथवा कार्य की समाप्ति। मुक्तावस्था का अर्थ है विवक्षित, ज्ञानयुक्त होना। मुक्तावस्था भी आत्मा की यात्रा का अन्त है। इस कारण अपवर्ग का अर्थ मोक्षावस्था लिया जाता है। अपवर्ग शब्द का वास्तविक अर्थ समाप्ति है।

अतएव सूत्रार्थ इस प्रकार है कि प्रकृति और पुरुष दोनों के अथवा दोनों में से एक के कार्य से निवृत्त होने पर दोनों का संयोग समाप्त हो जाता है। यह प्रलय-काल में भी होता है और जीवात्मा के मुक्ति प्राप्त करने पर भी होता है। कभी जीवन में भी होता देखा जाता है, जैसे जीवन-मुक्त व्यक्ति।

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः ॥ ६६ ॥

पदच्छेद—अन्यसृष्टि-उपरागे, अपि, न, विरज्यते, प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य, इव, उरगः।

अन्य सृष्टिमोह में (रत होनेवाला) भी विरत नहीं होता, रज्जु के तत्त्व का ज्ञान रखने वाले की भाँति (कि यह) साँप है।

अभिप्राय यह है कि अन्य (अर्थात् सूत्र ३-६३ में वर्णन किए) से दूसरा जो सूत्र ३-६३ में कहा है 'विविक्तबोधात्' अर्थात् आत्मा को ज्ञान हो जाने से। सूत्र ३-४ में शब्द है 'इतर' अर्थात् जिनको आत्मा का बोध नहीं हुआ। यहाँ इस सूत्र (३-६६) में 'इतर' के स्थान 'अन्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिप्राय यह है कि जिसको आत्म-बोध नहीं होता। अतः सूत्रार्थ यह है कि वह जो सृष्टि के राग में लिप्त है, वह भी विरत नहीं होता जैसे रज्जु का ज्ञान हो जाने पर भी, कि यह साँप (उरगः) है। उसे छोड़ते नहीं।

सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि यह ज्ञान हो जाने पर भी कि यह रज्जु नहीं वरन् साँप है, फिर भी इससे विरत नहीं होता अर्थात् यह जानते हुए भी कि संसार दुःखों का मूल है, लोग इसको छोड़ते नहीं, क्योंकि वे समझते हैं कि वे इतने चतुर हैं कि अपने जीवन के अन्त तक इसके दूषित प्रभाव से बच निकलेंगे।

प्रायः सपेरे यही समझते हैं और साँप को साँप जानते हुए भी उससे खेलते रहते हैं। आततायी राजा भी यही समझकर अपना राज्य चलाता है। ।

इस सूत्र का अर्थ अन्य भाष्यकारों ने निम्न प्रकार से किया है। उदाहरण के रूप में स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—'जिसने रस्सी के स्वरूप को नहीं जाना, उस पुरुष का (भ्रम) निवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार जिसको विवेक नहीं हुआ, उस अविवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति सृष्टि-रचना से विरक्त नहीं होती। विमोक्ष तो विवेक-प्राप्त को ही होता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी ने 'प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य' के स्थान 'अप्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य' कर दिया है। यह सांख्य की किसी भी प्रति में हमें नहीं मिला। इसके अतिरिक्त भी प्रश्न यह है कि रज्जु को साँप समझने पर भय का स्थान है, अथवा साँप को रज्जु समझने पर भय का स्थान है। आपने उक्त वाक्य का अर्थ किया है, उरग = सर्प, = रज्जुसर्प = रस्सी में सर्प-भ्रम। इन अर्थों पर ही हमारा पूर्वोक्त प्रश्न है।

इसी प्रकार श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है, "जो आत्मा मुक्त हो गए हैं, उनसे अन्य पुरुषों के लिए तो सृष्टि-रचना में प्रकृति विरक्त, उदासीन नहीं होती। वह बराबर कार्यरूप में परिणत होती रहती है। पर वस्तुतः जिनको विवेक-ज्ञान नहीं हुआ है, उनके लिए संसार वैसा ही चलता रहता है जैसे कतिपय व्यक्ति साथ चले जा रहे हों। सन्ध्या के झुटपुटे में उन्होंने मार्ग में पड़ी रस्सी को साँप समझ लिया। वे सब भय से घबराकर एक ओर को बचकर निकल गए। उनमें से एक व्यक्ति अगले दिन प्रातःकाल उसी मार्ग से निकला। उसने सूर्य-प्रकाश में देखा कि रात अँधेरे में जिसको मैं साँप समझता था, वह वास्तव में रस्सी है। उसका भ्रम एवं भय निवृत्त हो गया। पर अन्य व्यक्तियों को—जिन्हें साँप और रस्सी के विवेक का ज्ञान नहीं हुआ—भय आदि बराबर बना रहता है।"

हम समझते हैं कि दोनों विवेचनाएँ अशुद्ध हैं। यह इस प्रकार कि सूत्र में शब्द हैं—'सृष्टि-उपरागे'—सृष्टि के उपराग में (रत होनेवाला)। आगे है 'अपि न विरज्यते', अर्थात्—भी नहीं विरत होता। अर्थ स्पष्ट है कि अन्य, जो सृष्टि के मोह में फँसा हुआ है, वह विरत नहीं होता।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूत्रकार सूत्र ३-६३, ६४ में कह चुका है कि ज्ञान हो जानेवाले के लिए सृष्टि विरत हो जाती है और 'इतर' अर्थात् ज्ञान न हुए के लिए सृष्टि विरत नहीं होती। तब उसी बात को जो सूत्र ३-६४ में कही जा चुकी थी, पुनः कहने की क्या आवश्यकता थी? हमारा मत है कि सूत्रकार ने अपनी बात को पुनः दुहराया नहीं। यहाँ कहा है कि अविवेकी, जो सृष्टि के उपराग में फँसा हुआ है, वह जानता हुआ भी कि यह मूर्खता है, इस पर भी संसार को छोड़ता नहीं।

'रज्जुतत्त्वस्य' षष्ठि एकवचन है। अर्थ है रज्जु का तत्त्व, कि यह रज्जु नहीं वरन् साँप है। 'उरगः' प्रथमा एकवचन है। यह द्वितीया का एकवचन नहीं।

अतः रज्जु का तत्त्व कि यह साँप है, ज्ञान होने पर भी वह एक सपेरे की भाँति साँप से खेलता रहता है।

अतएव भाषा की दृष्टि से और भावार्थ से भी अर्थ वह नहीं बनता जो अन्य भाष्यकारों ने किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकारों ने नवीन वेदान्तियों द्वारा उद्धरित अशुद्ध उदाहरण, बिना यह विचार किए कि कपिल जैसे तार्किक से वैसी बात (अशुद्ध उक्ति) की आशा नहीं की जा सकती, यहाँ दे दिया है। नवीन वेदान्ती प्रायः उलटी बात ही कहते हैं। उनके कथन प्रायः अयुक्त होते हैं। तभी तो वे प्रतिष्ठित तर्क को भी अमान्य करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रार्थ इस प्रकार है कि सृष्टि के उपराग में (फँसा हुआ) अविवेकी मनुष्य रज्जु को साँप जानता हुआ भी उसे नहीं छोड़ता।

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥

पदच्छेद—च, कर्मनिमित्त-योगात्।

अर्थात्—और कर्म के निमित्त अर्थात् जिस निमित्त से कर्म किए, उस सम्बन्ध से।

उस सम्बन्ध से क्या? कर्म-फल ही मोह का कारण होता है उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। एक व्यक्ति झूठ बोलता है। झूठ बोलने के कर्म में उसको किसी प्रकार के लाभ की आशा होती है। वह उस लाभ के मोह में, यह जानता हुआ भी कि यह झूंठ है, झूठ बोलता है। यह है कर्म के निमित्त अर्थात् फल के कारण मोह में फँसा रहना।

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥ ६८ ॥

पदच्छेद—नैरपेक्ष्ये, अपि, प्रकृत्युपकारे, अविवेकः, निमित्तम्।

अर्थात्—निरपेक्ष्य होने पर भी प्रकृति का उपकार में (व्यक्ति के) अविवेक के निमित्त (कारण) है।

निरपेक्ष का अभिप्राय है प्रकृति न तो किसी को भोग के लिए कहती है और न ही वियोग करने के लिए कहती है। यह जड़ होने से निरपेक्ष है। फिर भी, क्योंकि इसका प्रयोजन ही है कि जीवात्मा इसका भोग करे, इस कारण इसका भोग उसके लिए बना रहता है जो विवेकहीन पुरुष है। अविवेकी के उपकार (भोग) बना रहता है।

अविवेकी के लिए निरपेक्ष (किसी की अपेक्षा न करनेवाली प्रकृति) का प्रयोग है।

नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥ ६९ ॥

पदच्छेद—नर्त्तकीवत्, प्रवृत्तस्य, अपि, निवृत्तिः, चारितार्थ्यात्।

अर्थात्—प्रवृत्त की भी निवृत्ति चरितार्थ होने से नर्तकी की भाँति ।

अभिप्राय यह है कि भोग में लगे हुए की भी निवृत्ति चरितार्थ होने से होती है, नर्त्तकी की भाँति। चरितार्थ का अर्थ है भोग से अघाना।

जब भोगों में प्रवृत्त व्यक्ति अघा जाता है, तब ही वह भोगों से निवृत्त हो जाता है, जैसे कोई नर्तकी का नृत्य देखने से अघाने पर नाच देखना छोड़ देता है।

यह बात यहाँ समझ लेनी चाहिए कि नर्त्तकीवत् से सूत्रकार का अभिप्राय नर्तकी के नाच से ऊब जाने की भाँति है। यदि 'नर्त्तकीवत्' पद ऐसा होता 'नर्त्तकी नृत्यवत्' तो अधिक स्पष्ट होता।

सूत्रकार का यही अभिप्राय है। संक्षेप करने के लिए 'नृत्य' शब्द नहीं दिया। पूर्व के सूत्र (३-६८) में प्रकृति में प्रकृति को नैरपेक्ष्य कहा है, अर्थात् इसका कार्य किसी विवेकी अथवा अविवेकी से सम्बन्ध नहीं रखता । इसका कार्य निरन्तर सबके लिए चलता रहता है। यह तो भोक्ता के चरितार्थ होने की बात है और वह ही अघा जाने पर निवृत्त होता है। नर्त्तकी निवृत्त नहीं होती। नर्त्तकी की उपमा प्रकृति के साथ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥ ७० ॥

पदच्छेद—दोषबोधे, अपि, न, उपसर्पणम्, प्रधानस्य, कुलवधूवत् ।

अर्थात्—प्रधान के दोष का कुलवधू के (दोष की) भाँति ज्ञान होने पर भी (जीवात्मा का) उपसर्पण नहीं होता ।

'प्रधान का दोष' से अभिप्राय है कि प्रधान के भोग करने से होनेवाले दोष का ज्ञान होने पर भी । यहाँ 'भी' का अभिप्राय 'और' है और सूत्र ३-६९ के साथ सम्बन्ध प्रकट करने के लिए है । ऊपर के सूत्र में कहा है कि चरितार्थ होने पर (अघाने पर) जीवात्मा प्रकृति के भोग से निवृत्त हो जाता है । यहाँ इस सूत्र में कहा है—और जीवात्मा को प्रधान के दोष का ज्ञान होने पर भी वह भोग से दूर हटता है जैसे कुलवधू के दोष का ज्ञान होने पर पति उसके भोग से दूर हटता है । शब्द है 'न उसर्पण'—समीप न आना, अर्थात् दूर हटना, भोग न करना ।

कुलवधू में दोष का अभिप्राय है उसके रजस्वला होने का ज्ञान होना । रजस्वला का ज्ञान होने पर पुरुष वधू का भोग नहीं करता । यही प्रकृति के भोग में दोष का ज्ञान होने पर होता है ।

परन्तु ये दोनों निवृत्त होने के उदाहरण विरक्त अथवा विवेकी होने के नहीं हैं । इन दोनों में भोग की लालसा बनी रहती है और पुनः प्रकृति के भोग के दोष का निवारण कर लेने पर भोग होता है, जैसे कुलवधू के रजस्वला का अवसर बीत जाने पर भोग होता है ।

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१ ॥

पदच्छेद—न, एकान्ततः, बन्धमोक्षौ, पुरुषस्य, अविवेकात्, ऋते ।

अर्थात्—नहीं है एक ही होना बन्ध और मोक्ष बिना अविवेक के ।

यहाँ 'अविवेक से' कहे जाने से इसका उलट 'विवेक से' भी लेना चाहिए । तब सूत्रार्थ इस प्रकार बन जाता है—बन्ध की स्थिति का अथवा मोक्ष की स्थिति का अकेला ही होना अविवेक के बिना अथवा विवेक के बिना नहीं है, अर्थात् बिना अविवेक के बन्ध नहीं हो सकता और बिना विवेक के मोक्ष नहीं हो सकता । बन्धमोक्षः = बन्ध से मोक्ष ।

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ॥ ७२ ॥

पदच्छेद—प्रकृतेः, आञ्जस्यात्, ससङ्गत्वात्, पशुवत् ।

अर्थात्—प्रकृति के अनायास संगवाला होने के कारण, पशु-समान है ।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा प्रकृति की संगति में आने पर अनायास (बिना किसी की प्रेरणा के) ऐसा व्यवहार करने लग जाता है जैसे पशु खुरली (नांद) के पास आने पर चारा-दाना इत्यादि खाने लगता है । पशुवत् जीवात्मा कहा है । यह प्रकृति नहीं । इसे (जीवात्मा को) पशुवत् इस कारण कहा है, क्योंकि यह अपने स्वभाववश भोग करने लगता है । पशु दाना खाना तब छोड़ता है जब वह अघा गया होता है, अथवा भोग-सामग्री में दोष देखकर । यह ऐसे समीप नहीं जाता जैसे कुलवधू के रजस्वला होने पर पति

CC-0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके पास नहीं जाता। यही पशु का व्यवहार होता है। यह दाना नहीं खाता जब अघा जाता है अथवा अपने मदीन के पास नहीं जाता जब उसमें वह दोष (अनुपयुक्तता) देखता है।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्
विमोचयत्येकेन रूपेण ॥ ७३ ॥

पदच्छेद—रूपैः, सप्तभिः, आत्मानम्, बध्नाति, प्रधानम्, कोशकारवत्, विमोचयति, एकेन, रूपेण।

अर्थात्—सात रूपों से प्रधान आत्मा को बाँधता है जैसे रेशम का कीड़ा अपने को चारों ओर से बाँधता है और केवल एक मार्ग से ही वह निकलता है।

रेशम का कीड़ा अपने चारों ओर कोश बनाकर अपने को कोश में बन्दी बना लेता है और तब एक छिद्र करके उसमें से बाहर निकलता है।

सात रूपों से अभिप्राय है सब ओर से। शरीर आत्मा को घेरे रखता है सात प्राणों से। मनुष्य इन सात प्राणों से ही सांसारिक भोगों में फँसा रहता है। ये सात प्राण हैं पाँच कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाला एक प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करनेवाले पाँच प्राण और एक मुख्य प्राण जो शरीर की नाड़ियों में कार्य करता है।

जब जीवात्मा ब्रह्मलोक को जानेवाला होता है तो यह ब्रह्मरन्ध्र में से निकलता है। जब केवल जीवात्मा एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर में जाता है, तब यह सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ शरीर के नौ द्वारों में से किसी भी द्वार से निकल जाता है।

सूक्ष्म शरीर प्राणों से युक्त होता है। इस कारण यह एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर में जाता है। केवल मुक्ति की अवस्था में ही यह ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से निकलता है। यहाँ इसकी कोशकार (रेशम के कीड़े) से तुलना की गई है।

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ॥ ७४ ॥

पदच्छेद—निमित्तत्वम्, अविवेकस्य, न, दृष्टहानिः।

अर्थात्—अविवेक का निमित्त होना (बन्ध में कारण) है, (अतः) जो देखा गया है उसमें हानि नहीं।

कई पाठों में इस सूत्र में विवेकस्य के उपरान्त 'इति' भी मिलता है। विज्ञानभिक्षु इति नहीं लिखते। हम समझते हैं कि इति होने से सूत्रार्थ ठीक बन जाते हैं।

'इति' से सूत्र के दो अंश हो जाते हैं। प्रथम अंश में यह कहा है कि अविवेक निमित्त होता है। किस बात का निमित्त होता है? बन्ध का। इस कारण जो देखा गया है वह हानि (भूल अथवा भ्रम) नहीं है।

अविवेक कैसे बन्ध का निमित्त (कारण) होता है? पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति (शरीर) में भेद न कर सकना अविवेक है। शरीर भोग भोगता है। जीवात्मा अपने को उन भोगों को भोगता हुआ मानता है। यही अविवेक है। ऐसा समझना ही बन्ध का कारण है। परन्तु, सूत्रकार कहता है कि यह समझना अथवा जो देखा जाता है कि शरीर ने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके साथ जीवात्मा ने भोग भोगा है, यह मानना भूल नहीं है।

यह जान लेने पर कि शरीर जीवात्मा नहीं है, शरीर का भोग जीवात्मा करता है, मान लेना हानि नहीं। यह ग़लत (भ्रम अथवा भूल) नहीं।

अतः सूत्रार्थ बनता है कि प्रकृति-पुरुष में भेद न मानना (अविवेक) निमित्त है बन्ध का। फिर भी यह जो कुछ देखा जाता है इसे स्वीकार करने में हानि नहीं, अर्थात् भोग भोगनेवाला जीवात्मा है, ऐसा स्वीकार करने में हानि नहीं। यह ग़लत भी नहीं।

इस सूत्र का अर्थ कुछ-एक भाष्यकार इस प्रकार भी करते हैं—

अविवेक का निमित्त होना है (मुख्य कारण बन्ध का), इस कारण कर्म का विरोध नहीं। दृष्ट कर्म को कहते हैं और अदृष्ट कर्म-फल को कहते हैं।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इसी सूत्र के भाष्य में कहते हैं—

'इसलिए विवेक-ज्ञान की प्राप्ति में धर्मादि अनुष्ठान का कोई विरोध नहीं।' यहाँ दृष्ट से अभिप्राय धर्मादि अनुष्ठान है।

सिद्धान्त से यह अर्थ भी ठीक ही है। इस पर भी हम ऊपर दिए अर्थों को ही ठीक मानते हैं।

हमने कहा है कि अविवेक (शरीर और जीवात्मा में भेद न मानना) बन्ध का कारण है। फिर भी भोग दोनों ही करते हैं। ऐसा मानने में हानि नहीं, भूल नहीं।

'भोग दोनों ही करते हैं' से अभिप्राय है कि भोग जीवात्मा और प्रकृति में मिलकर होता है। बिना एक के दूसरे का भोग हो नहीं सकता। भोग करते रहना ही बन्ध है।

यह मानने में हानि नहीं कि शरीर के भोग जीवात्मा के भोग ही हैं। इन अर्थों से ही अगले सूत्र का अर्थ ठीक बैठता है।

'विवेकस्य' के उपरान्त 'इति' शब्द लगने से अर्थ इस प्रकार बनते हैं।

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥ ७५ ॥

पदच्छेद—तत्त्वाभ्यासात्, न, इति, न, इति, त्यागात्, विवेकसिद्धिः।

अर्थात्—तत्त्व के अभ्यास से यह नहीं, यह नहीं, इसके त्याग से विवेक की सिद्धि होती है।

अभिप्राय यह है कि पुरुष एवं प्रकृति के तत्त्व को जान लेने से ही यह नहीं है कि जीवात्मा भोग नहीं करता। इस बात पर बल देने के लिए इसे दो बार कहा है। इस भोग के त्याग से विवेक की सिद्धि होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जीवात्मा और प्रकृति का योग हुए बिना जीवन चल नहीं सकता। इस कारण यह कथन निरर्थक है कि भोग करनेवाला जीवात्मा नहीं है। भोग का त्याग करने से ही विवेक की सिद्धि होगी।

वैसे यह बात विलक्षण प्रतीत होती है, परन्तु इसका अर्थ यह बनता है कि जीवात्मा वे सब कार्य करता है, जो शरीर करता दिखाई देता है। इस कारण इस बात को स्वीकार कर लेने से ही विवेक की सिद्धि (प्राप्ति) होगी कि शरीर के सब कार्य जीवात्मा ही करता है। यद्यपि शरीर जीवात्मा नहीं है, परन्तु शरीर के कार्य जीवात्मा के कार्य ही हैं। यह जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना विवेक सम्भव नहीं।

इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि योगाभ्यास से तत्त्व को जान लेने पर भी कि पुरुष-तत्त्व प्रकृति-तत्त्व नहीं है, यह कहना कि यह नहीं, अर्थात् कर्म करनेवाला जीव नहीं, कर्म करनेवाला जीव नहीं—क्योंकि आत्मा तो परमात्म तत्त्व ही है और वह कुछ नहीं करता—इस विचार का त्याग करके ही विवेक की सिद्धि सम्भव है। कर्म करनेवाला जीव ही है।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'आत्म-तत्त्व के अभ्यास से कि न तो विकार आत्मा है और न मूल प्रकृति आत्मा है, इस प्रकार के विचार से विवेक की सिद्धि होती है।'

अभ्यास से यह जान लेने पर कि आत्मा कार्य-जगत् (शरीर) नहीं है और यह मूल प्रकृति भी नहीं है, तो यह परमात्मा पर-ब्रह्म है, ऐसा भास होता है। यह सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध है। हम समझते हैं कि सूत्रकार का यह आशय नहीं है। न ही उसकी भाषा इतनी ढीली है कि इस प्रकार के अर्थ निकाले जा सकें।

पूर्व-सूत्र (३-७४) और इस सूत्र (३-७५) को इकट्ठा लें तो अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो जाएँगे।

सूत्र ३-७४ में कहा है कि यद्यपि पुरुष तथा प्रकृति को एक ही समझ लेने से बन्ध होता है, इस पर भी कर्म करने में दोनों के एक देखे जाने को स्वीकार करने में हानि नहीं, अर्थात् भूल अथवा भ्रम नहीं। और इस सूत्र में कहा है कि अभ्यास से यह जान लेने पर भी कि जीवात्मा-तत्त्व, शरीर अर्थात् प्रकृति नहीं, अतः कर्म करनेवाला जीवात्मा नहीं, यह विचार ग़लत है। इसको त्याग देने से ही विवेक हो सकता है।

जब कर्मों का उत्तरदायित्व जीवात्मा पर मान लिया जाएगा, तभी तो कर्म को सुधारने अथवा छोड़ने पर विचार किया जा सकेगा। यदि यह समझते रहेंगे कि कर्म जीवात्मा करता नहीं तो न विवेक की आवश्यकता रहती है और न ही मोक्ष की।

अगला सूत्र भी इन्हीं अर्थों का पोषक है।

अतएव सूत्रार्थ यह है कि योगाभ्यास से यह जान लेने पर भी कि जीवात्मा-तत्त्व, प्रकृति-तत्त्व से भिन्न है, यह समझना कि कर्म करनेवाला जीवात्मा नहीं, ग़लत है। इसका त्याग करने से ही विवेक की सिद्धि सम्भव है।

इस विचार को त्याग देना चाहिए कि जीवात्मा कर्म नहीं करता। गीता में भी कहा है—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ *(भ० गी० १८-२)*

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥ ७६ ॥

पदच्छेद—अधिकारि-प्रभेदात्, न, नियमः।

अर्थात्—अधिकारियों में भेद होने से नियम नहीं।

यहाँ अधिकारी से क्या अभिप्राय है, यही विचारणीय है। अन्य भाष्यकारों ने अधिकारी विवेक प्राप्त भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों को माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम समझते हैं कि अधिकारी से अभिप्राय है कर्म में लगा हुआ। जीवात्मा और प्रकृति दोनों कर्म में लगे हैं। दोनों कर्म करनेवाले दिखाई देते हैं। इन दोनों में भेद करने से यह नियम नहीं । इसका अर्थ है कि दोनों में से किसी एक को भी कर्म करता हुआ मानें—कुछ अर्थ नहीं, कारण यह कि प्रकृति जड़ होने से; कर्म करनेवाला तो जीवात्मा ही है। फल का भोक्ता वही है।

हमारा विचार है कि ये तीनों सूत्र (३-७४, ७५, ७६) अद्वैतवादियों के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए हैं। अद्वैतवादी यह मानते हैं कि जीवात्मा परमात्मा ही है; वह स्वयं कुछ नहीं करता। शरीर में उपस्थित मन और बुद्धि (चित्त) ही हैं जो कर्म की प्रवृत्ति देते हैं और कर्म करते हैं। जीवात्मा भूल से समझने लगता है कि वह कर्म-रत है।

इस मत का खण्डन ही इन तीनों सूत्रों में किया गया है।

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥ ७७ ॥

पदच्छेद— बाधितानुवृत्त्या, मध्य-विवेकतः, अपि, उपभोगः ।

अर्थात्—बाधित की अनुवृत्ति (पुनः होना अर्थात् बँध जाना) विवेक होने से मध्य में भी। इसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसे अभी विवेक हो रहा है, अर्थात् विवेक हो रहे व्यक्ति का भी उपभोग बना रहता है।

बाधित से अभिप्राय है कर्म-फलों से बँधा हुआ व्यक्ति, प्रारब्ध से जीवन भोग रहा व्यक्ति, विवेक-अवस्था के मध्य में भी उपभोग अर्थात् कर्म-फल को भोगता है।

अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति जो अभी पूर्व-कर्म के फल से बँधा हुआ है, वह विवेक प्राप्त करके भी, उन कर्मों का फल भोगता रहता है। कर्म-फल विवेक से निःशेष नहीं हो जाते। उनको भोगना ही पड़ता है।

मोक्षावस्था में प्रारब्ध कर्म, अर्थात् फल साथ नहीं जाते। इस कारण उनका भोग यहाँ हो जाना आवश्यक है। विवेक हो जाने पर भी जब कुछ प्रारब्ध-कर्मफल अभी शेष, हो, उनका भोग चलता रहता है।

जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

पदच्छेद—च, जीवन्-मुक्तः।

अर्थात्—और (वह) जीवित हुआ (ही) मुक्त है।

'च' वर्तमान सूत्र को ऊपर के सूत्र से सम्बन्धित करने के लिए है।

सूत्र ३-७७ में कहा है कि ऐसे विवेकी व्यक्ति को, जिसके प्रारब्ध-कर्मफल अभी समाप्त नहीं हुए, विवेक हो जाने पर भी कर्म-फल भोगने पड़ते हैं और उसका जीवन रहता है।

इस सूत्र में कहा है कि और ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त अर्थात् जीवित रहता हुआ ही मुक्त कहलाता है । वह इस संसार में जीवन चला रहा अर्थात् कर्म-फल भोगता हुआ भी मुक्त कहलाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥

पदच्छेद—उपदेश्योपदेष्टृत्वात्, तत्सिद्धिः ।

अर्थात्—उपदेश सुनने का और उपदेश देने का अधिकारी (दोनों के इकट्ठा होने से) मोक्ष की सिद्धि है ।

जीवन्मुक्त ही उपदेश देने का अधिकारी है ।

श्रुतिश्च ॥ ८० ॥

पदच्छेद—श्रुतिः, च ।

अर्थात्—श्रुति (वेद) में भी इस बात का उपदेश है ।

किस बात का उपदेश है ? यही कि कुछ जीवन्मुक्त लोग होते हैं । इस शरीर में रहते हुए भी विवेक प्राप्त कर लेते हैं । वास्तव में वे कर्म-फल भोगकर उनको समाप्त कर रहे होते हैं ।

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

पदच्छेद—इतरथा, अन्धपरम्परा ।

अर्थात्—अन्यथा (उक्त बात न मानने पर) अन्ध परम्परा चल पड़ेगी ।

संसार में जीवन्मुक्त व्यक्ति भी हो सकते हैं—ऐसा मानना पड़ेगा । यदि नहीं मानेंगे तो संसार में पथ-प्रदर्शक नहीं रहेंगे और संसार के अन्धकार में अन्धे ही मार्गदर्शक रह जाएँगे । कुछ लोग ऐसे होते हैं जो विवेक प्राप्त होने पर भी संसार में देखे जाते हैं । उनके कर्म कामनारहित हो जाते हैं । ऐसे कामनारहित व्यक्ति संसार को ठीक मार्ग पर ले-जाने में सफल होते हैं । इनके बिना तो अन्धे को अन्धा मार्ग दिखानेवाले की कहावत चरितार्थ हो जाएगी ।

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥ ८२ ॥

पदच्छेद—चक्रभ्रमणवत्, धृत, शरीरः ।

अर्थात्—(उन जीवन्मुक्त व्यक्तियों का) शरीर धारण किए रहना चक्र के घूमने की भाँति होता है ।

चक्र के घूमते रहने का अभिप्राय है, जैसे कुम्हार का चक्र कार्य (घड़ा बनाना) समाप्त हो जाने पर भी कुछ काल तक संवेग से घूमता रहता है ।

जीवन्मुक्त का जीवन-कार्य चलता रहना है, विवेक प्राप्त कर लेने पर भी, पूर्व-जन्म के कर्म-फलों के अधीन । जीवन-चक्र (निर्माण-कार्य) समाप्त हो जाने पर भी जीवन प्रारब्ध के संवेग से चलता रहता है ।

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥

पदच्छेद—संस्कारलेशतः, तत्-सिद्धिः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—संस्कारों के शेष अंश से उसकी सिद्धि है।

तत्-सिद्धि का अभिप्राय है ऊपर के सूत्र में चक्र के घूमने की भाँति जीवन का चलते रहना।

जीवन्मुक्त व्यक्ति का जीवन क्यों चलता है? यह इस कारण कि पूर्व-जन्म के कर्मों के संस्कारों का बचा अंश जीवन को चलाता जाता है। कुम्हार के चक्के पर बर्तन बन जाने और चक्के से उतार लेने पर भी चक्का घूमता रहता है क्योंकि बर्तन बनाते समय जो चक्के को घुमाने के लिए धक्का दिया जाता है, उस धक्के का अंश अभी शेष होता है और चक्का घूमता रहता है। इस घूमते रहने को 'तत्सिद्धिः' कहा है। चक्के के घूमते रहने का कारण वह धक्का है, जो पहले चक्के को चलाने के लिए दिया गया था।

यही बात जीवन्मुक्त व्यक्ति की है। उसका जीवन-कार्य (विवेक प्राप्त करना) तो समाप्त हो चुका होता है, परन्तु जीवन चल रहा है। यह पूर्व-जन्म के कर्मों के संस्कारों के धक्के से ही है। इसे हिन्दी में संवेग और अंग्रेज़ी में 'मोमेन्टम' कहते हैं।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥ ८४॥

पदच्छेद—विवेकात् निःशेषदुःखनिवृत्तौ, कृत-कृत्यता, न, इतरात्, न, इतरात्।

अर्थात्—विवेक होने से शेषरहित समस्त और अत्यन्त दुःखों की निवृत्ति (दुःखों का अन्त) हो जाने पर कृत-कृत्यता (लक्ष्य-प्राप्ति) हो जाती है, दूसरे (किसी उपाय) से नहीं, दूसरे (किसी उपाय) से नहीं।

विशेष विचारणीय

हमारे विचार में सांख्य दर्शन, जैसा कपिल मुनि ने रचा था, वह तीसरे अध्याय पर समाप्त है। यह हम इस कारण कहते हैं कि जिस उद्देश्य से ग्रन्थारम्भ किया गया था, वह उद्देश्य तीसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र (३-८४) में पूर्ण हो गया प्रकट कर दिया गया है।

सांख्य दर्शन के आरम्भ में ग्रन्थकार ने यह कहा था—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥

इस सूत्र का अभिप्राय जैसा हमने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है, यह है—अब तीन प्रकार के दुःखों से अतिशय (अर्थात् शेषरहित) निवृत्ति (छुटकारा पाने के लिए) अत्यधिक प्रयत्न (को बताने के लिए यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है)।

सांख्य दर्शन के तीसरे अध्याय का अन्तिम सूत्र (३-८४) इस प्रकार है—

विवेकान्निश्शेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥

इसका अभिप्राय है—विवेक से सब दुःखों की शेषरहित निवृत्ति होती है और कृत-कृत्यता (लक्ष्य-प्राप्ति) होती है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

इससे स्पष्ट है कि जिस उद्देश्य से ग्रन्थारम्भ किया गया था, वह पूर्ण हो गया है। पूर्ण ग्रन्थ का निष्कर्ष लिख दिया गया है कि विवेक से त्रिविध दुःखों की निवृत्ति होती है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि पुस्तक को अपूर्ण समझकर ग्रन्थकार ने कुछ अन्य कहना चाहा होता तो वह इस 'कृत-कृत्यता' लिखने से पहले ही लिख देता।

अन्य भाष्यकार भी कुछ ऐसा ही समझते हैं। वे मानते हैं कि इस अध्याय के पूर्व में कहे सिद्धान्तों की सिद्धि के साधनरूप कुछ ऐतिहासिक उदाहरण चतुर्थ अध्याय में दिए गए हैं।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री कथित चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में लिखते हैं—

'तीन अध्यायों में शास्त्रीय अर्थों का निरूपण किया गया है। अब चतुर्थ अध्याय में उसी के अनुसार शास्त्र तथा लोकप्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा विवेक-ज्ञान-साधनों को प्रस्तुत किया जाता है।'

प्रश्न यह है कि इन साधनों को कौन प्रस्तुत करता है? निस्सन्देह ये सूत्र कपिल मुनि के नहीं हैं। कारण यह कि इनमें कुछ तो संदिग्ध अर्थों वाले हैं। दूसरे, आख्यायिकाएँ, जैसी भाष्यकारों ने दी हैं, पुराणादि ग्रन्थों की हैं। पुराण सांख्यदर्शन के उपरान्त रचे गए थे। तीसरे यह कि सूत्रों में किसी भी आख्यायिका की ओर निर्देश नहीं और भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न आख्यायिकाएँ दी हैं। उदाहरण के रूप में सूत्र ४-५ (श्येनवत्सुख-दुःखी त्यागवियोगाभ्याम्) के भाष्य में श्री उदयवीर शास्त्री दो प्रकार की आख्यायिकाएँ देते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. 'श्येन एक पक्षी है, जिसे आज लोक-भाषा में 'बाज़' कहते हैं। इस विषय की आख्यायिका निम्नलिखित रूप में कही जाती है—

"एक व्यक्ति कभी मृगया (शिकार) के लिए जंगल में गया। वहाँ उसे एक श्येन-शावक (बाज़ का बच्चा) असहाय अवस्था में पड़ा दिखाई दिया। दयार्द्र-चित्त होकर उसने वह उठा लिया और घर ले आया। दाना-पानी देकर उसे पाला-पोसा। जब वह समर्थ हो गया, तो उस व्यक्ति ने यह सोचकर कि—मैं इसे अब बन्धन में क्यों रखूँ—उसे जंगल में ले-जाकर उसने छोड़ दिया। वह श्येन अब बन्धन से छुट जाने के कारण सुखी है, पर अपने पालक-पोषक व्यक्ति के साथ वियोग हो जाने के कारण दुःखी है।

'श्वेनवत्' दृष्टान्त की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी की जाती है। श्येन के पास चोंच में दबा हुआ जब कोई खाद्य पदार्थ रहता है, तो दूसरे बलवान् पक्षी—जिनके पास वह खाद्य नहीं है—उस पर टूट पड़ते हैं और बलपूर्वक उससे वह पदार्थ छीन लेते हैं। इस प्रकार खाद्य छिन जाने से श्येन दुःखी होता है, और संघर्ष में चोट खाता है। यह और भी दुःख का कारण है। यदि वह अपनी इच्छा से ही खाद्य पदार्थ का त्याग कर देता है, तो इन सब दुःख-कारणों से बच जाता है।"

ये कहानियाँ कहाँ तक उपयुक्त हैं और कहाँ तक नहीं, हमारा इससे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। हमारा केवल इतना ही कहना है कि ये आख्यायिकाएँ कपिल द्वारा नहीं कहीं हुईं।

इन आख्यायिकाओं में से कुछ तो सिद्धान्त-विरोधी हैं और कुछ इतनी फूहड़ हैं कि वे कपिल जैसे तार्किक द्वारा रचित नहीं हो सकतीं। हम प्रत्येक सूत्र के भाष्य पर विवेचना करते हुए अपना मत उस आख्यायिका के विषय में लिखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा निश्चित मत है कि सांख्य के किसी अध्यापक ने सांख्य में कहे सिद्धान्तों को अपने छात्रों को समझाने के लिए कुछ आख्यायिकाएँ गढ़ ली हैं। उसी अध्यापक ने छात्रों के स्मरण रखने के लिए उन आख्यायिकाओं को सूत्र-रूप में भी कह दिया है। वह अध्यापक कपिल नहीं हो सकता।

सूत्र कपिलकृत न होने के विषय में हम अपनी युक्तियाँ प्रत्येक सूत्र के अन्त में देंगे। कपिल तो 'लोकवत्' अथवा 'पुष्पमणिवत्' अथवा 'ऊष्ट्रवत्' कहकर स्थान-स्थान पर उदाहरण दे चुके हैं। यदि कपिल मुनि को ये आख्यायिकाएँ भी कहनी होतीं तो ऊपर कही कहावतों की भाँति सिद्धान्त के साथ ही कह देते।

हम सांख्य दर्शन के तीन अध्याय ही मानते हैं। इसका कारण हम भूमिका में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—राजपुत्रवत्, तत्त्वोपदेशात् ।

अर्थात्—राजपुत्रों की भाँति तत्त्व के उपदेश से ।

राजपुत्र का पालन-पोषण एक चाण्डाल द्वारा किए जाने पर वह अपने को चाण्डाल का पुत्र ही समझने लगा था । भाष्यकारों ने ऐसा कहा है ।

चाण्डाल की तुलना करनी थी तो राजपुत्र से क्यों की ? किसी विद्वान् ब्राह्मण से क्यों नहीं की ? चाण्डाल और राजा में अन्तर वही है जो एक कसाब और सूदखोर (ब्याज पर पलनेवाले) में है ।

यहाँ सिद्धान्त के विषय में आपत्ति नहीं है । मोक्ष-प्राप्त होता है और ऐसा जान लेने से वह प्रकृति के बन्ध से मुक्त हो जाता है । हमारा कहना तो यह है कि उदाहरण की आख्यायिका किसी अशिक्षित द्वारा दी गई है ।

आख्यायिका में शवर की तुलना प्रकृति से की गई है और राज्य-कार्य को ज्ञानवान् होने की । इस तुलना में कोई सार नहीं है । यह तो इस प्रकार है कि जैसे कोई कसाब का काम छोड़कर सूदखोर (ब्याज कमाने) के काम में प्रवृत्त हो । राजपुत्र होना ज्ञानवान् होना समझा गया है और शवर का पुत्र समझना जड़धर्मा माना गया है ।

क्या यह आख्यायिका सूत्रकार के मन में थी ? सब भाष्यकार अपने-अपने मन से कल्पना कर रहे हैं और कोई भी सांख्य-सिद्धान्त से ठीक नहीं बैठती । केवल कहने मात्र से चाण्डाल श्रेष्ठ नहीं हो सकता तथा चाण्डाल-स्वभाव का व्यक्ति धर्मात्मा नहीं हो सकता ।

ये केवल बच्चों को समझानेवाले बातें ही प्रतीत होती हैं ।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥

पदच्छेद—पिशाचवत्, अन्यार्थोपदेशे, अपि ।

अर्थात्—पिशाच की भाँति किसी दूसरे के लिए दिये गए उपदेश से भी (किसी को लाभ हो सकता है)

आख्यायिका इस प्रकार दी गई है—

एक आत्मज्ञानी गुरु अपने शिष्य को उपदेश देने, सुविधा के लिए उसे एकान्त जंगल में ले गया और वहीं निवास कर उसे आत्म ज्ञान का उपदेश देता रहा । एक पिशाच इस उपदेश को छुपकर सुनता रहा और उसके अनुसार आचरण करता हुआ वह कालान्तर में आत्मज्ञानी हो गया ।

सूत्रकार का कहना है कि घटनावश कर्णगोचर हुआ उपदेश भी कभी प्रभाव उत्पन्न कर सकता है । यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु यह घटना-मात्र ही हो सकती है, किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त को सिद्ध नहीं करती।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—आवृत्तिः, असकृत्, उपदेशात्।

अर्थात्—आवृत्तिः (दोहराना) बार-बार उपदेश से।

सूत्र का गठन ठीक नहीं है।

आवृत्तिः है प्रथमा विभक्ति में और उपदेश है पञ्चमी में। इस कारण सूत्र के अर्थ बन जाएँगे उपदेश से बार-बार दोहराना। बार-बार दोहराना क्या करता है और किस बात का दोहराना? यह कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक उपदेश दे रहा है कि बार-बार दोहराने से पाठ स्मरण हो जाता है। यह सांख्यदर्शन का आशय प्रतीत नहीं होता। किसी कर्म के उपदेश को बार-बार कहा जाए तो उपदिष्ट उस कर्म को करने लगता है। दोहराना उपदेश का है।

उपदेश षष्ठी विभक्ति में होना चाहिए और आवृत्ति प्रथमा में हो सकती है। यदि सूत्र इस प्रकार होता तो अधिक सार्थक हो सकता था—

उपदेशासकृदावृत्तेः।

इसका **पदच्छेद** होता—उपदेश, असकृत्, आवृत्तेः।

इसमें षष्ठी तत्पुरुष समास है। तब अर्थ होता—उपदेश के बार-बार दोहराए जाने से (ज्ञान होता है।)

यह सूत्र कपिल का कहा नहीं हो सकता।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—पितापुत्रवत्, उभयोः, दृष्टत्वात्।

अर्थात्—पिता और पुत्र के समान दोनों के देखे जाने से।

जब पिता-पुत्र का सम्बन्ध पता चल जाता है तब (वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है)।

बात वही है जो सूत्र ४-१ में कही है। इसमें नवीनता न होने से पुनरुक्ति-दोष है। इसके अतिरिक्त आपत्ति भी है। आख्यायिका इस प्रकार है—

'किसी समय एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपनी पत्नी को गर्भवती जानकर धन-संग्रह के लिए परदेश को चला गया। बहुत काल के अनन्तर जब वापस आया तो अपने गाँव में पहुँचने से पहले, रात्रि पड़ जाने के कारण किसी नगर की धर्मशाला में उसे रात्रि व्यतीत करनी पड़ी। उसके ग्राम से वह नगर इतनी दूरी पर था कि अगले दिन सुविधा से अपने घर पहुँच सकता था। धर्मशाला में उसके साथ के कमरे में ही अपनी माता के साथ एक रोगी किशोर बालक ठहरा हुआ था जो रोग के कारण रात-भर रोता-चिल्लाता रहा। उसके क्रन्दन से पथिक ब्राह्मण को बार-बार क्रोध आ रहा था और वह मन-ही मन उसे बुरा-भला कहने लगा। वह विचार करता था कि यहाँ यह दुष्ट कहाँ से आ गया है? यात्रा से क्लान्त मुझको शान्ति से सोने भी नहीं देता। दो-चार बार उसने अपने स्थान से धमकाया-सुनाया भी। बालक ने भी यह सुनकर अपनी माता से कहा कि यह बेकार क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किर-किर कर रहा है ? हमें तो कष्ट है, यह क्यों नहीं और जगह चला जाता ? जैसे-तैसे रात बीती और प्रभात हुआ। प्रातःकाल के प्रकाश में बालक की माता ने अपने भर्त्ता पथिक ब्राह्मण को पहचाना और उसे बुलाकर कहा कि यह जो रात-भर रोता-चिल्लाता रहा है, आपका पुत्र है। और पुत्र से कहा कि रात जिसे तुम यहाँ से चले जाने के लिए कह रहे थे, तुम्हारा पिता है। उसके उपदेश से पिता-पुत्र दोनों ने वास्तविक स्थिति को समझा। उनके लिए पहले अन्य-भाव नष्ट हुआ, तदनन्तर वास्तविक अनुकूल भावना जागी।'

वस्तुस्थिति के ज्ञान से भाव बदलते हैं, यह तो ठीक है। यही बात सूत्र ४-१ में कही गई है, यही यहाँ कह दी है; और फिर पिता-पुत्र की तुलना किससे दी है ? सूत्र ४-१ में तो शबर की तुलना प्रकृति से और राजा की तुलना परमात्मा से की गई थी, क्या यहाँ भी वही तुलना है ?

यदि वही है तब तो बात भयंकर हो जाएगी। पिता अर्थात् परमात्मा को भी अज्ञान होता है ? अतः तुलना मिथ्या है। यहाँ तुलना प्रकृति की भी नहीं हो सकती। कारण यह कि प्रकृति-पुरुष में सम्बन्ध पिता-पुत्र का नहीं है। किसी नौसिखिया ने यह सूत्र गढ़ दिया प्रतीत होता है।

यदि पिता-पुत्र की तुलना परमात्मा-जीवात्मा की मानी जाए, तब भी प्रश्न है कि क्या परमात्मा भी अज्ञान में फँस जाता है ?

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—श्येनवत्, सुख-दुःखी, त्यागवियोगाभ्याम्।

अर्थात्—बाज़ के समान सुख-दुःखवाला होता है त्याग और वियोग से।

आख्यायिका इस प्रकार है। एक बाज़ किसी पक्षी को मुख में लिये हुए उड़ा जा रहा था कि किसी शिकारी ने उसे देख लिया। वह शिकारी बाज़ के मुख का पक्षी पाना चाहता था। बाज़ का मांस तो खाया नहीं जाता।

यह जानकर यदि बाज़ मुख के पक्षी का त्याग कर देता तो स्वयं न मारा जाता।

बात ठीक थी, परन्तु बाज़ त्याग तथा वियोग तब कर सकता था, जब व्याध उसे समझाता कि मेरे लिए यह पक्षी छोड़ दो। तब वह न छोड़ता तो त्याग और वियोग की बात आ सकती थी। बाज़ अपना भोजन लिये जा रहा था। व्याध बलशाली था। इस कारण बाज़ मारा गया।

इसमें त्याग और वियोग की बात कहाँ से आ गई ?—इसमें तो दुर्बल होना पाप हो गया है।

वैचित्र्य यह है कि श्री उदयवीर शास्त्री इस आख्यायिका का भावार्थ इस प्रकार निकालते हैं—'अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह सदा दुःख होता है—।'

बहुत खूब ! यह कैसे पता लगा कि पक्षी बाज़ के लिए अनावश्यक था और व्याध के लिए आवश्यक ?

यह उदाहरण अनर्गल है, तर्कहीन है, कपिल मुनि के नाम को कलंकित करने वाला है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अहिनिर्ल्वयिनी-वत् ।

अर्थात्—साँप की केंचुली के समान ।

जैसे साँप अपनी केंचुली को हेय समझकर बिना किसी हील-हुज्जत के छोड़ देता है, इसी प्रकार जीवात्मा शरीर को हेय समझकर छोड़ देता है और पुनः शरीर में आने की इच्छा नहीं करता ।

यह उदाहरण भी उपयुक्त नहीं है । कारण यह कि साँप तब केंचुली छोड़ता है जब उसको नई केंचुली मिल जाती है । इसकी तुलना एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर में जाने के साथ हो सकती है; किसी भी शरीर में न जाने अर्थात् मोक्ष पाने के समान नहीं हो सकती ।

भाष्यकारों की कल्पना अशुद्ध है । साथ ही भाष्यकारों की आख्यायिकाओं में अन्तर है ।

छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

पदच्छेद—छिन्नहस्तवत्, वा ।

अर्थात्—कटे हाथ की भाँति ।

बात वही है जो केंचुली की है । कटा हाथ भी तब फेंक दिया जाता है जब वह पुनः प्रयोग के योग्य नहीं रह जाता । न ही हाथ कट जाने से कोई शेष-शरीर को छोड़ने के लिए तैयार होता है । इन बातों का ज्ञान तथा विवेक के साथ सम्बन्ध नहीं है । केंचुली का त्याग तथा कटे हाथ का परित्याग विवशता है । वह वैराग्य अथवा विवेक नहीं ।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—असाधन, अनुचिन्तनम्, बन्धाय, भरतवत् ।

अर्थात्—भरत के समान बन्धनवाला होता है असाधन के बार-बार चिन्तन करने से ।

जो व्यवहार आत्म-ज्ञान में सहायक नहीं होता, उसका बार-बार चिन्तन बन्धन में कारण होता है भरत की भाँति ।

सिद्धान्ततः यह ठीक है । परन्तु हमारी आपत्ति आख्यायिकाओं पर है । इसमें जो आख्यायिका दी जा रही है वह इस प्रकार है । श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

'पुराणों में एक कथा आती है । सतयुग में भरत नाम का एक राजर्षि आत्मज्ञानी हो गया था । वह जीवन्मुक्त था । एक बार जंगल में उसने देखा कि हिरणी बच्चा जनने के उपरान्त मरणासन्न पड़ी है । बच्चे के लिए ऋषि के मन में तीव्र करुणा का भाव उत्पन्न हो गया । ऋषि उस बच्चे का पालन-पोषण करने लगा । धीरे-धीरे वह उसमें इतना आसक्त हो गया कि उसके पीछे-पीछे फिरता रहता, उसे खिलाता-पिलाता और उसकी इच्छाओं की पूर्ति करता रहता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कथा है कि वह जीवन्मुक्त ऋषि मरने के उपरान्त हिरण की योनि में जन्म पा गया।

यह कथा पुराणों की है। हम कपिल को पुराणों के लिखे जाने के काल से पूर्व-काल का मानते हैं।

वास्तव में उसे वैराग्य नहीं हुआ था। अनुराग का संश्लेष उसके मन में उपस्थित था। घटनावश वह अनुराग हिरण के बच्चे से हो गया। वह किसी अन्य के लिए भी हो सकता था।

यह आत्म-ज्ञान के न होने की बात है। यह जीवन्मुक्त था ही नहीं। अतः कथा कहनेवाले ने इस मुनि को जीवन्मुक्त जो कहा, वह अशुद्ध है।

यह कहा जा सकता है कि वह मोक्ष-मार्ग का राही था और मार्ग में भटक गया। कारण जो सूत्र में बताया है, ठीक ही है।

योगी को उन बातों में रुचि नहीं लेनी चाहिए, जो उसे उसके उद्देश्य से विचलित करनेवाली हों।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—बहुभिः, योगे, विरोधः, रागादिभिः, कुमारी-शंखवत्।

अर्थात्—बहुतों से मेल बाधा डालनेवाला होता है राग आदि के द्वारा, किसी लड़की के शंखों की भाँति।

कहानी लड़की और शंख की है। शंख के भूषण लड़कियाँ पहनती हैं। उनसे मोह हो जाने पर लड़की को शारीरिक कष्ट और उसके कार्य में बाधा होती है। यह किनकी और कहाँ की प्रथा है?

बहुत लोगों अथवा वस्तुओं से मेल रखने से तो ध्यान लगाने में बाधा होती है। परन्तु शंख के भूषणों में क्या विशेषता है, समझ में नहीं आया। किसी प्रकार के भी भूषण से मोह होने पर यह छिनेगा तो दुःख होगा ही। अतः भूषण ध्यान विखण्डित करता है। परन्तु शंख ने कौन-सा विशेष पाप किया है?

रवीन्द्र बाबू ने एक कविता में कहा है—

'मत पहिनो भूषण वसन पिय, मिलन में बाधा होगी।'

परन्तु शंख में विशेषता पर ही विस्मय होता है। कदाचित्, इन सूत्रों का रचयिता ही विशेषता लिये हुए है। वह किसी वनवासी जाति का प्रतीत होता है जिनकी स्त्रियाँ कौड़ियाँ, घोंगे, सीप तथा शंख के बने आभूषण पहनती हैं। यह किसी ऋषि की लड़की की उक्ति प्रतीत नहीं होती।

शंख की उपमा स्त्रियों की ग्रीवा से भी दी जाती है। नाभि के वैवर्त से भी शंख की उपमा दी जाती है, परन्तु इस उपमा का 'बहुभिः योगे' से सम्बन्ध नहीं।

इस विषय पर मतभेद नहीं कि मेल-मिलाप रखनेवाला व्यक्ति साधना, चिन्तन इत्यादि नहीं कर सकता, परन्तु इस सिद्धान्त की सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा रहा। सन्देह तो 'कुमारी शंखवत्' के पद के कपिल द्वारा कहे जाने पर हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वाभ्यामपि तथैव ।। १० ।।

पदच्छेद—द्वाभ्याम्, अपि, तथैव ।

अर्थात्—दो के द्वारा भी वैसा है ।

अभिप्राय यह कि पूर्व-सूत्र में जो बहुतों से 'योग' (मेल-मिलाप) को बाधक माना है, यहाँ दो से योग भी बाधक माना गया है ।

हम समझते हैं कि 'दो' की बात विशेष रूप से कहे जाने में प्रयोजन दाम्पत्य जीवन से है । कोई व्यक्ति यह समझ रहा है कि दाम्पत्य जीवन ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होता है । हम समझते हैं कि यह सांख्य-सिद्धान्त नहीं है । सांख्यदर्शन में प्रकृति से संसार की रचना का वर्णन कर संसार की जीवात्मा से पृथक्ता का ज्ञान कराया है । परन्तु हमें प्रथम तीन अध्यायों में कहीं यह कहा नहीं मिला कि नियमित गृहस्थ-पालन विवेक-प्राप्ति में बाधक है ।

इसके साथ ही जनक, भगवान् कृष्ण, महर्षि याज्ञवल्क्य इत्यादि ऐतिहासिक उदाहरण इस सिद्धान्त के विरुद्ध विद्यमान हैं ।

बहुत लोगों से योग (सूत्र ४-९) का तो अभिप्राय सामाजिक जीवन से है । वह एक सीमा तक मनुष्य का ध्यान विखण्डित करने में कारण बनता है, परन्तु दाम्पत्य जीवन उसी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।

हमारा मत है कि यह सूत्र सांख्य-सिद्धान्त से असम्बन्धित है ।

निराशः सुखी पिङ्गलावत् ।। ११ ।।

पदच्छेद—निराशः, सुखी, पिङ्गलावत् ।

अर्थात्—आशारहित व्यक्ति सुखी रहता है जैसे पिंगला ।

पिंगला कौन थी ? महर्षि कपिल को उसके विषय में क्या ज्ञात था ? यह सब इतना अनुपयुक्त है कि दर्शन-शास्त्र में इसका उल्लेख विस्मयजनक है ।

कुछ भाष्यकारों का मत है कि पिंगला एक वेश्या थी । वह अपने प्रेमी के आने की रात-रातभर प्रतीक्षा करती थी । जब वह इस प्रतीक्षा के जीवन से ऊब गई, तब वह आशा छोड़कर सुखपूर्वक रहने लगी ।

तनिक बुद्धि से विचार करें तो क्या पिंगला वेश्या का उदाहरण देने की अपेक्षा अनिष्ठावान् पति और पतिव्रता स्त्री का उदाहरण अधिक उपयुक्त नहीं था ? इससे उदाहरण देनेवाले की विकृत मनोवृत्ति का ही दर्शन होता है । वेश्या का उल्लेख ही मन की विकृति को प्रकट करने लगता है ।

श्री भर्तृहरि की पत्नी का नाम पिंगला था । यह भी सम्भव है कि इस सूत्र के रचयिता का संकेत उसकी ओर हो । यदि ऐसा है तब भी यह सूत्र कपिल का रचित नहीं हो सकता । भर्तृहरि का काल महाभारत के काल के उपरान्त का है और कपिल महाभारत-काल से पूर्व-काल के ऋषि हैं । गीता में और महाभारत के कथानक में कपिल का उल्लेख है । इसका अभिप्राय यह है कि कपिल पूर्व-काल के हैं ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri Siddhanta eGangotri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अनारम्भे, अपि, परगृहे, सुखी, सर्पवत् ।

अर्थात्—बिना आरम्भ किए भी दूसरे घर में साँप की भाँति सुखी हो जाता है।

यह उपमा इतनी अनर्गल है कि किसी दार्शनिक के मुख से शोभा नहीं देती।

चूहा बिल खोदता है। साँप उसको खा जाता है और उसके द्वारा बनाए बिल में रहता है। वह सुखी होता है अथवा नहीं, यह तो इस सूत्र के कहनेवाला ही बता सकता है। हमारी समझ में यह आता है कि यह उदाहरण विवेक-प्राप्ति और विवेक से मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपयुक्त नहीं है

यह मूर्खतापूर्ण उपमा है। किसी योगी को यह उपमा देना योग भ्रष्ट करनेवाला होगा।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—बहुशास्त्र-गुरूपासने, अपि, सारादानम्, षट्पदवत् ।

अर्थात्—बहुत-से शास्त्रों तथा बहुत-से गुरुओं की संगति से सार ग्रहण करना मधुमक्खी की भाँति।

यह उपमा उचित है। इस पर हमारी कुछ भी विवेचना नहीं है।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—इषुकारवत्, न, एक-चित्तस्य, समाधि-हानिः ।

अर्थात्—तीर बनानेवाले की भाँति चित्त की एकाग्रता न होनेवाले की समाधि नहीं होती।

अथवा तीर चलानेवाले की भाँति एक चित्तवाले की समाधि में हानि नहीं होती।

भाष्यकारों ने इस सूत्र के दो प्रकार के अर्थ किए हैं। प्रथम में अशुद्ध बात यह है कि तीर बनानेवाले के लिए चित्त की एकाग्रता अनिवार्य नहीं है। इस कारण उसकी समाधि अर्थात् सफलता पर उसके चित्त विचलित होने से कुछ विशेष हानि नहीं होगी। वैसे इषुकार के स्वाभाविक अर्थ यही हैं अर्थात् तीर बनानेवाला।

दूसरे अर्थ में इषुकार के अर्थ तीर चलानेवाला किया गया है। इसे श्री ब्रह्ममुनि इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

इषुकार—इषुप्रक्षेप्ता—इषु-प्रयोगकर्त्ता। 'कृ विक्षेपे' (तुदादि गण) 'कृञ करणे' (तनादि गण) 'कृञ्—निक्षेपणे चापि वर्तते कटे कुरु घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते' (महाभाष्य व्याकरण १-३-१)। इससे इषुकार इषुप्रक्षेप्ता···

इस प्रकार अर्थ करने से सूत्र के अर्थ समझ में आते हैं। परन्तु अर्थ करने में खींचातानी की गई है। सूत्र की भाषा ठीक नहीं। इषुकार के स्थान पर इषु-प्रक्षेप्ता लिखना चाहिए था, जिससे भ्रम उत्पन्न न हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतनियमलंघनादानर्थक्यं लोकवत् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—कृतनियम-लंघनात्, आनर्थक्यम्, लोक-वत् ।

अर्थात्—स्वीकृत नियम के न पालन करने से अनिष्ट होता है जैसे लोक में (सांसारिक कामों में होता है)।

जब किसी नियम को स्वीकार कर लिया जाए, तब उसकी अवेहलना भारी हानि पहुँचानेवाली होती है। संसार में, चिकित्सादि में, व्यापार में, साँझेदारी में, भाई-भाई में अथवा पड़ोसी-पड़ोसी में नियत नियमों का पालन करना ठीक रहता है। इसी प्रकार अध्यात्म के विषय में भी है।

यहाँ स्वीकृत नियम से अभिप्राय है जो संकल्प कर लिया है। विवेक प्राप्त करने में जब किसी विषय का संकल्प कर लिया जाए तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

यह कथन अशुद्ध है। जब तक स्वीकृत नियम विवेक उत्पन्न करनेवाला अर्थात् जो प्रकृति-पुरुष का भेद बताकर प्रकृति से विरक्त करनेवाला न हो, तब तक मोक्ष की आशा नहीं हो सकती और उसका पालन करना नहीं, वरन् उसका उल्लंघन करना अर्थयुक्त होगा और पालन करना अनर्थ होगा।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—तत्, विस्मरणे, अपि, भेंकी-वत् ।

अर्थात्—तत् (कृतनियम = स्वीकार किया नियम) भूल जाने पर भी भेकी की भाँति।

भेकी का अर्थ हैं मेंडकी। मेंडकी की एक कथा वर्णन की जाती है—

एक बार एक राजा मृगया के लिए जंगल में गया। वहाँ उसे एक सुन्दरी कन्या दिखाई दी। राजा उस पर मोहित हो गया। उसने उससे विवाह करने का प्रस्ताव किया। कन्या ने एक शर्त पर विवाह स्वीकार किया । शर्त यह थी कि राजा उसे किसी जलाशय के समीप न ले-जाए; यदि ले-जाएगा तो वह उसे छोड़ जाएगी। राजा ने शर्त स्वीकार कर ली और विवाह हो गया। एक समय रानी प्यासी थी। उसने राजा को अपनी इच्छा बताई। राजा शर्त भूलकर उसे एक जलाशय के पास ले गया। जल देखते ही उस राजा की रानी जल में घुस गई। वह मेंडकी थी।

आशय तो ठीक है, परन्तु इस आख्यायिका को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि हितोपदेश की कोई कहानी लिखी जा रही है। इसी कारण हमने यह कहा कि किसी पाठशाला के अध्यापक ने अपने बालक-पाठकों को पाठ समझाने के लिए कुछ कहानियाँ कह दी हैं। ये कपिल मुनि के कहे सूत्र नहीं हैं।

यदि कोई दार्शनिक इस विषय पर कोई उदाहरण देता तो वह इस प्रकार कहता—"किसी धनलोलुप वैश्य की लड़की से कोई ब्राह्मणकुमार विवाह करे तो उसे चाहिए कि वह अपनी पत्नी को धन-वैभववाले स्थानों पर न ले-जाए; ले-जाएगा तो धन की लोभी लड़की निर्धन का झोपड़ा छोड़ जाएगी। ऐसी कोई कहानी बनायी जा सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्वाभाविक कथा की कल्पना करने से रचयिता ने अपने को सत्य कल्पना करने में अशक्त सिद्ध कर दिया है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—न, उपदेश-श्रवणे, अपि, कृतकृत्यता, परामर्शात्, ऋते, विरोचनवत्।

अर्थात्—उपदेश सुनकर भी सफलता नहीं होती बिना विचार-विनिमय अथवा मनन के, जैसे विरोचन को नहीं हुई।

अभिप्राय यह है कि उपदेश सुनकर उपदेश के अर्थों पर चिन्तन नहीं किया अथवा उपदेश में समझ में न आनेवाली बात को किसी से समझा नहीं तो वैसी अवस्था होती है जैसी विरोचन की हुई थी। विरोचन की कथा छान्दोग्य उपनिषद् में कही गई है।

विरोचन असुरों का नेता था और इन्द्र देवताओं का नेता था। एक बार दोनों ब्रह्मा के पास गए और अध्यात्म-ज्ञान की याचना करने लगे।

ब्रह्मा ने दोनों को जल-पात्र में उनके मुख दिखा दिए। विरोचन जल में अपनी परछाईं, सुन्दर भूषण से भूषित मुख पर लालिमा देख प्रसन्न हो चला गया। परन्तु इन्द्र ने जब अपने इस स्वरूप पर चिन्तन किया तो इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह पुनः ब्रह्मा के पास गया। वहाँ से पुनः कुछ उपदेश लेकर आया। इस पर भी जब सन्तोष नहीं हुआ तो उसे ब्रह्मा ने फिर समझाया। अन्त में वह शरीर में आत्म-तत्त्व को जान गया।

सूत्रकार का यही आशय है कि उपदेश सुनकर परामर्श (चिन्तनरूपी शंका-समाधान) करने से मूल सत्य तक पहुँचा जा सकता है।

इस सूत्र में आख्यायिका किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की दी गई है और वह अर्थयुक्त भी है। परन्तु ऐसा अन्य अनेक ऊपर दी गई आख्यायिकाओं के विषय में नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह आख्यायिका छान्दोग्य उपनिषद् की है, जिसका रचना-काल कपिल के उपरान्त का है।

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥ १८ ॥

पदच्छेद—दृष्टः, तयोः, इन्द्रस्य।

अर्थात्—उन दोनों में इन्द्र का (विवेक) देखा गया है।

पहले कहे सूत्र की पूर्ति में ही यह सूत्र कहा गया है। विरोचन तो सत्य ज्ञान को पा नहीं सका था, परन्तु इन्द्र को विवेक प्राप्त गया, क्योंकि उसने शंकाओं का समाधान कराया था।

इन्द्र ने परामर्श किया था और वह तत्त्व को पा गया था। परामर्श का अभिप्राय मनन, चिन्तन और दूसरे से विचार-विनिमय है।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥ १९ ॥

पदच्छेद—प्रणति-ब्रहामचर्योपसर्पणानि, कृत्वा, सिद्धिः, बहुकालात्, तद्-वत्।

अर्थात्—तद्-वत् (इन्द्र की भाँति) प्रणाम कर ब्रह्मचर्य धारण कर समीप जाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत काल में (उपदेश से) सिद्धि होती है।

अभी भी छान्दोग्य उपनिषद् की कथा का उदाहरण दिया जा रहा है। इन्द्र आत्म-ज्ञान को पा गया था, क्योंकि उसने बार-बार ब्रह्मा के पास जाकर नम्रभाव से उपदेश सुना था।

न कालनियमो वामदेववत् ॥ २० ॥

पदच्छेद—न, काल-नियमः, वामदेव-वत्।

अर्थात्—(बहुत) काल (लगने) का नियम नहीं है, वामदेव की भाँति।

कथा यह है कि वामदेव माँ के पेट से निकलते समय ही ज्ञानवान् था। इस कारण सूत्रकार ने अपने पूर्व-सूत्र में कही 'बहुकालात्' की बात का खण्डन कर दिया है। इन सब अव्यवस्थित सूत्र-रचनाओं से भी यही प्रतीत होता है कि ये सूत्र किसी उत्कट विद्वान् के रचे हुए नहीं थे।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥ २१ ॥

पदच्छेद—अध्यस्तरूपोपासनात्, पारम्पर्येण, यज्ञोपासकानाम्, इव।

अर्थात्—अध्यस्त रूप-उपासना से परम्परा से (क्रमशः), यज्ञ के उपासकों की भाँति।

यज्ञोपासकानामिव के अर्थ है याज्ञिक यज्ञ करनेवालों की भाँति। भाव यह है कि यज्ञ में संलग्न याज्ञिक को क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार बार-बार यज्ञ करने से अध्यस्त रूप प्राप्त होता है, अर्थात् गुरु के शास्त्र द्वारा किए उपदेश के अनुसार उपासना करने से भी ज्ञान क्रमशः होता है।

परन्तु सूत्र-संख्या ४-१९ में यही बात कही जा सकती थी। सूत्र ४-२० में क्रमशः का अपवाद भी बताया है वामदेव की भाँति, और फिर ४-२१ में वही बात कह दी है जो ४-१९ में कही है। यह परस्पर-विरोधी बात क्यों? सूत्रकार यह समझता है कि अच्छे कर्म करने से स्वाध्याय तथा गुरु के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने से कोई अन्य उपाय है जिससे तुरन्त ज्ञान प्राप्त होता है। उसने उदाहरण दिया है वामदेव का। परन्तु वामदेव के विषय में तो यह कहा जाता है कि वह माँ के पेट में ज्ञानी था। अभिप्राय यह कि पूर्व-जन्म के कर्मों से ज्ञानवान् था। यह भी तो क्रम-वार ही है। यह क्रम कई जन्मों में हुआ था।

अतः, हमारा यह विचार है कि सूत्रकार ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझा ही नहीं। ज्ञान सदा कार्य-जगत् (अविद्या) से आरम्भ होता है। इसी से वृद्धि पाता-पाता कई जन्मों में वह परिपक्व हो पाता है। यह सदा क्रमशः होता है। संसार में कुछ भी जादू की भाँति नहीं होता। सब क्रम-वार गति से चल रहे हैं। किसी भी प्रकार से हो, विवेक क्रमशः अर्थात् बार-बार के अभ्यास से ही होता है।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—इतरलाभे अपि आवृत्तिः पञ्चाग्नियोगात् जन्म-श्रुतेः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—दूसरे (लोकों) के प्राप्त होने पर भी लौटना होता है। पाँच अग्नियों के योग से यह जन्म सुना जाता (कहा जाता) है।

दूसरे लोकों से अभिप्राय है इस प्राणी-जगत् के अतिरिक्त दूसरे रहने के स्थानों से। दूसरे रहने के स्थान तीन हैं। मनुष्य-योनि तो है ही। मनुष्य के अतिरिक्त भी योनियाँ (पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि) हैं। ऊपर के स्थान भी हैं। एक देवलोक है और दूसरा ब्रह्मलोक है।

इन सब लोकों से लौटना होता है। निम्न योनियों से जिनको यमलोक कहा जाता है, तब लौटना होता है, जब कर्म-फलों का भोग समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार देवलोक से भी कर्म-फल भोगने के उपरान्त मानवलोक में जीवात्मा आते हैं। ब्रह्मलोक से भी लौटना होता है। वहाँ से तब लौटना होता है, जब ज्ञान, जिस कारण मोक्ष (ब्रह्मलोक) प्राप्त होता है, मिट जाता है। ज्ञान जीवात्मा पर संस्काररूप से स्थित होता है और संस्कार भी काल व्यतीत होने के साथ क्षीण होते जाते हैं। एक समय ये सब क्षीण हो जाते हैं, जब जीवात्मा पुनः मानवलोक में आने की इच्छा करने लगता है।

पंचाग्नि का अभिप्राय बृहदारण्यक (६-२) में समझाया गया है। वहाँ कहा है कि अग्नि पाँच प्रकार की है। इन पाँचों प्रकार की अग्नियों के योग से प्राणी का जन्म होता है। यही वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (५-४-१ से ९ तक) में आया है।

पाँच अग्नियाँ इस प्रकार हैं—(१) द्युलोक की अग्नि। इसका स्थान द्युलोक है। यह सूर्य से उत्पन्न होती है। (२) दूसरी अग्नि का स्थान मेघ है। यह मेघ से अन्न में आती है। (३) तीसरी अग्नि भूमि है, जिस पर अन्न उत्पन्न होता है। वर्षा भूमि पर होती है और दोनों के योगदान से अन्न उत्पन्न होता है। (४) पुरुष शरीर अग्नि है जो अन्न खाकर प्राण के रूप में प्रकट होती है। (५) पाँचवीं अग्नि स्त्री शरीर है। इसमें पुरुष-वीर्य सिंचन करता है और उसमें शरीर बनता है। इन्हीं अग्नियों के योग को जन्म कहते हैं।

मरने पर पाँचों अग्नियाँ अग्नियों में मिल जाती हैं शरीर तो भस्म हो जाता है, जीवात्मा शरीर को छोड़ जाता है।

यहाँ किसी प्रकार की कहानी नहीं कही गई। सिद्धान्त का उल्लेख-मात्र है। कहा है दूसरे (ब्रह्म) लोक से भी लौटना होता है। पंचाग्नियों के योग से जन्म होता सुना जाता है।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—विरक्तस्य, हेयहानम्, उपादेयोपादानम्, हंस-क्षीर-वत्।

अर्थात्—हेय (निम्न कोटि की) स्थिति का हान (त्याग) [विरक्त] के उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को ग्रहण करना हंस का क्षीर के समान है।

यह कहा कि हंस दूध और जल में से दूध ग्रहण कर लेता है और जल छोड़ देता है। वैसे ही विरक्त पुरुष ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेता है और जो ग्रहण करने योग्य नहीं होता, उसे त्याग देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लब्धातिशययोगात् तद्वत् ॥२४॥

पदच्छेद—लब्धातिशय, योगात्, तद्-वत् ।

अर्थात्—प्राप्त के अतिशय योग से तत् (उस) की भाँति ।

हंस जब दूध पीकर अघा जाता है, तब दूध लेना भी छोड़ देता है । इस प्रकार विरक्त व्यक्ति जब ग्रहण करने योग्य पदार्थों को भी व्यर्थ समझता है, तब उनको भी छोड़ देता है ।

इस उदाहरण में सार्थकता प्रतीत नहीं होती । विरक्त व्यक्ति अतिशय ग्रहण करने पर त्याग नहीं करता । वह भोग-पदार्थों को व्यर्थ समझकर छोड़ता है । यह नहीं कि उसका पेट भर जाता है, वरन् यह कि उसे उन पदार्थों का भोग व्यर्थ अथवा हानिकर प्रतीत होने लगता है । अतिशय लेने का अभिप्राय है कि भोग करते-करते थक जाता है । तब वैराग्य हुआ नहीं कहा जा सकता । वैराग्य मन की स्थिति है, जिसमें भोग-पदार्थों को हेय समझकर छोड़ता है; और अतिशय भोग इन्द्रियों के भोग करते-करते थक जाने की स्थिति को प्रकट करता है ।

हम समझते हैं कि यहाँ उपमा अनुपयुक्त दी गई है । इसी कारण हमारा मत है कि ये सूत्र किसी सांख्य-सिद्धान्त को न समझनेवाले ने कहे हैं ।

इस सूत्र का अर्थ एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है । अतिप्रयत्न (योगाभ्यास) से प्राप्ति (ग्रहण करने योग्य से न ग्रहण करने योग्य को पृथक् करने) की सामर्थ्य आती है, जैसे हंस में यह आती है ।

ये अर्थ कुछ सीमा तक सिद्धान्तानुसार हैं । इसमें भी यह सन्देह है कि हंस ने कौन-सी साधना की है कि उसमें यह सामर्थ्य आयी है ? यह स्पष्ट दिखाई नहीं देता । उसमें यह सामर्थ्य, यदि है तो इस कारण है कि उसके शरीर की बनावट ऐसी है, न कि उसने किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त की है ।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—न, कामचारित्वम्, रागोपहते, शुक-वत् ।

अर्थात्—रागों से दबे हुए को व्यर्थ इधर-उधर नहीं जाना चाहिए जैसे शुक को ।

शुक तोते को कहते हैं । क्या तोता राग (भोगों) में दूसरे पक्षियों से अधिक लिप्त होता है ? इसका कोई प्रमाण नहीं है । सब पशु भोगों में आसक्त घूमते हैं । उनमें बुद्धि और मन दुर्बल होने से वे इन्द्रियों की लालसा को दबा नहीं सकते । ऐसे ही एक शुक है ।

इस दृष्टि से यह उदाहरण तब सार्थक हो सकता था, जब यह कहा होता कि तोता कबूतर से अधिक अथवा किसी भी पक्षी से अधिक विषयासक्त होता है । अतः यह भी एक अनुपयुक्त उदाहरण है । इस सूत्र के एक अन्य अर्थ भी हो सकते हैं ।

राग-रंग सजावट को भी कहते हैं । इसका अर्थ है सौन्दर्य से युक्त व्यक्तियों को इधर-उधर आना-जाना नहीं चाहिए । अन्यथा तोते की भाँति, जो अपने सुन्दर रंग-रूप के कारण अथवा मनुष्य-बोली बोल सकने की सामर्थ्य के कारण पकड़ लिया जाता है, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी फँस सकता है।

उपमा तो ठीक बैठती है, परन्तु इसमें मुसलमानों की इस प्रथा की प्रशंसा प्रतीत होती है कि स्त्रियों को पर्दे में रहना चाहिए अथवा बुर्का पहनकर घर से बाहर जाना चाहिए।

अतः दोनों प्रकार के अर्थों से शुकवत् की उक्ति अनुपयुक्त प्रतीत होती है। सुन्दर पुरुषों के अथवा भोगों की लालसा से दबे हुए के, कुछ भी अर्थ करो, यह उदाहरण किसी मीमांसक (तार्किक विद्वान्) का प्रतीत नहीं होता।

गुणयोगाद् बन्धः शुकवत् ॥ २६ ॥

कुछ संस्करणों में इस सूत्र को ऐसा भी कहा गया है—

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥

दोनों में अर्थ-भेद नहीं है।

पदच्छेद—गुणयोगात्, बन्धः (बद्धः), शुकः-वत्।

अर्थात्—गुणों से युक्त होने के कारण बन्धन में आ जाता है तोते की भाँति।

ऊपर के सूत्र का दूसरा अर्थ ही सूत्रकार के मन में प्रतीत होता है, अर्थात् सुन्दर व्यक्ति को इधर-उधर नहीं आना-जाना चाहिए। वह तोते की भाँति बहेलिए द्वारा पकड़ लिया जाएगा। इस अर्थ में दोष हम ऊपर के सूत्र-भाष्य में बता चुके हैं।

यही दोष इस सूत्र में भी है कि गुणों के कारण दूसरे फँसा लेंगे। यह फँसनेवाले का दोष नहीं है। इसका अभिप्राय है कि गुणी पुरुष को अपने गुणों को छुपाकर रखना चाहिए, अन्यथा उसके गुणों को देखकर कोई आततायी अथवा कोई अन्य प्रबल शक्ति उसे घेर दबाएगी।

यहाँ विरक्त अथवा आसक्त में भेद नहीं बताया। यहाँ आततायी और संसार के अन्य लोगों की मनोवृत्ति का ही उदाहरण दिया है। फँसनेवाला अपने गुणों को छुपाकर रखे, कुछ ऐसा अभिप्राय है। यह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता।

होना यह चाहिए कि विरक्त व्यक्ति को अपने गुणों को (शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक) दूसरों के हित में प्रयोग करना चाहिए; उनका न्याययुक्त प्रयोग करना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि यह आसक्त व्यक्ति के लिए कहा है। वह यदि तोते की भाँति सुन्दर हो तो उसे छुपकर रहना चाहिए। इससे क्या वैराग्य उत्पन्न होगा? यह संदिग्ध है।

कुछ भी हो, यह उदाहरण किसी अज्ञानी द्वारा दिया हुआ है।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—न, भोगात्, रागशान्तिः, मुनि-वत्।

अर्थात्—नहीं होती भोग से राग की शान्ति (सौभरि) मुनि की भाँति।

कोई सौभरि मुनि था। वह मरणपर्यन्त भोगों की इच्छा करता रहा था। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंवदन्ति ठीक हो सकती है। परन्तु सूत्र (४-२४) में तो इससे विपरीत बात कह आए हैं। वहाँ कहाँ है कि अतिशय (भोगों) की प्राप्ति से अधाकर ग्रहण करने योग्य को भी ग्रहण करना छोड़ देता है।

इसके अतिरिक्त भी सौभरि मुनि भोग करता हुआ भी क्या मुनि ही था? मुनि से क्या अर्थ है? मननशील व्यक्ति को मुनि कहते हैं। क्या जीवन के अन्त तक भोगों की लालसा करनेवाला मुनि की उपाधि के योग्य था? किसी मूर्ख ने उसे मुनि कह दिया है। सौभरि को मुनि कहने से मुनि शब्द को अर्थहीन कर दिया है और कहनेवाले ने अपने को मूर्ख सिद्ध किया है।

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—दोषदर्शनात्, उभयोः ।

अर्थात्—दोनों में दोष देखे जाने से।

किन दोनों में? निस्सन्देह उन दो में जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। ऊपर दो उदाहरण दिए हैं—एक शुकवत् और दूसरा मुनिवत्। वर्तमान युग के भाष्यकारों ने मुनिवत् से अभिप्राय लिया है सौभरि की भाँति। हमारा मत है कि इन दोनों से ही अभिप्राय हो सकता है। यह नहीं कि संसार की कोई दो वस्तुओं अथवा व्यक्तियों की तुलना करने लगें। अन्य भाष्यकारों ने कुछ ऐसा ही किया है। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

'आत्मा और विषय दोनों से सम्बद्ध दोष देखने से वैराग्य होता है।' इन सूत्रों में आत्मा और विषयों का वर्णन तो है, परन्तु वह तो पूर्ण अध्याय में ही है। ऊपर के सूत्रों में शुक और मुनि के उदाहरण ही लिये गए हैं।

श्री ब्रह्ममुनि 'दोनों से' अभिप्राय लेते हैं भोक्ता और भोग्य पदार्थ। ये अर्थ कुछ ठीक प्रतीत होते हैं, यद्यपि इसकी ओर संकेत नहीं है। साथ ही भोग्य पदार्थ का क्या दोष है? वह तो जड़वत् है। हाँ, यदि कुछ दोष कहा जाए तो भोग्य पदार्थ को भोगनेवाले का हो सकता है।

अर्थात् जीवात्मा और जगत्-रचना करनेवाले परमात्मा में दोष देखे जाने से। यह सब व्यर्थ का प्रलाप प्रतीत होता है।

हमारा मत है कि दोनों का अभिप्राय दोनों उदाहरणों से ही है। एक तो यह कि सुन्दर हो तो उसे सावधान रहना चाहिए कि वह किसी आततायी (बहेलिया) के पंजे में न फँस जाए, और दूसरी बात कही है 'मुनिवत्', अर्थात् कोई कहा जानेवाला मुनि था और वह जीवन के अन्त तक भोगों में आसक्त रहा था।

इन दोनों उदाहरणों में दोष देखे जाने से क्या? वैराग्य न होने का ज्ञान होता है। ये युक्तियाँ इतनी ढीली हैं कि इनका दर्शन-शास्त्र में उल्लेख ही निरर्थक है।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—न, मलिनचेतसि, उपदेशबीज-प्ररोहः, अजवत्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—मलिन चित्त में उपदेशरूप बीज का अंकुरित होना नहीं होता अज की भाँति।

जिसका चित्त मलिन हो उस पर उपदेश फलीभूत नहीं होता, अज की भाँति। सिद्धान्त तो ठीक ही है, परन्तु आख्यायिका संदिग्ध है। अज कई हुए हैं। उनमें से किस अज से अभिप्राय है, पता नहीं चलता। जहाँ तक विख्यात अजों का सम्बन्ध है, कोई मलिन चित्त था, ऐसा कहीं लिखा मिला नहीं। साथ ही पौराणिक आख्यायिकाओं का कपिल के सांख्य में होना हम स्वीकार नहीं करते।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्॥ ३०॥

पदच्छेद—न, आभासमात्रम्, अपि, मलिन, दर्पण-वत्।

अर्थात्—आभासमात्र भी नहीं होता मलिन दर्पण की भाँति।

मलिन चित्त में उपदेश का प्रभाव दिखाई नहीं देता, जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता।

सूत्र सिद्धान्त-रूप में ठीक है, परन्तु इस सूत्र में किसी आख्यायिका का वर्णन अथवा संकेत नहीं है।

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत्॥ ३१॥

पदच्छेद—न, तज्जस्य, अपि, तत्, रूपता, पङ्कज-वत्।

अर्थात्—उसमें से उत्पन्न का भी उसके रूप का होना नहीं, पंकज की भाँति।

उससे अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न की प्रकृति की-सी रूपता नहीं होती, जैसे पंकज की।

पंकज कीचड़ में उत्पन्न होता है, परन्तु इसका रूप-रंग कीचड़ की भाँति नहीं होता।

प्रश्न यह है कि सूत्रकार इससे क्या सिद्ध करना चाहता है? इससे पूर्व के सूत्रों में लिखा है कि मलिन चित्त पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता।

अब कहा है कि उससे उत्पन्न होनेवाले का रूप उसके समान नहीं होता, जिससे वह उत्पन्न हुआ है।

उससे क्या अभिप्राय है? सूत्र में दो बार 'तत्' शब्द आया है। 'तत्' का अर्थ प्रकृति लें तो अभिप्राय यह बनेगा कि प्रकृति से उत्पन्न होने पर भी प्रकृति के समान उसका रूप नहीं होता, जैसे पंकज का कीचड़ के समान रूप नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति से क्या उत्पन्न होनेवाले की बात हो रही है? ऊपर चित्त और उपदेश, दो का ही वर्णन आया है। अभिप्राय बनेगा कि प्रकृति से उत्पन्न हुए चित्त का रूप प्रकृति के समान नहीं होता, अथवा प्रकृति से उत्पन्न हुए उपदेश का रूप-रंग प्रकृति के समान नहीं होता।

इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उपदेश देनेवाले के समान उपदेश का रूप नहीं होता, जैसे कीचड़ के समान कमल नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा निश्चित मत है कि यह युक्ति सर्वथा अनर्गल है। सूत्रकार को ज्ञात ही नहीं कि वह क्या कह रहा है।

तनिक भाष्यकारों की सुन लें। श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

(तज्जस्य-अपि) प्रकृति-सहयोग से प्रादुर्भूत की भी (तद्रूपता) संसार-रूपता (न) नहीं, (पंकजवत्) कीच से प्रादुर्भूत (कमल) के समान।

प्रकृति से क्या उत्पन्न होता है? निस्सन्देह यहाँ चित्त का वर्णन है, अर्थात् चित्त सदा निर्मल होता है, जैसे कमल निर्मल होता है। पहले तो कहा है कि मलिन चित्त में उपदेश का प्रभाव नहीं होता। यह परस्पर-विरोधी बात हो गई है।

श्री ब्रह्ममुनि इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

(तज्जस्य-अपि) तद्भव का—जो बोआ उससे उत्पन्न हुए की भी (तद्रूपता न) उस जैसी रूपता नहीं होती (पंकजवत्)। जैसे उत्तम बीज कीचड़ में बो देने से वैसा उत्तम गुण-रूप नहीं होता। अतः रागलिप्त मलिनचित्त में उत्तम उपदेश का भी अन्यथाभाव हो, वह उलटा समझता है।

श्री ब्रह्ममुनि ने पंकज का अर्थ कमल नहीं किया; कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला किया है। यहाँ भी सूत्र ४-१४ की भाँति खींचातानी ही है।

कुछ भी हो, शब्द 'पंकज' का अर्थ कमल करें तो अर्थ सर्वथा असंगत होता है और 'कीचड़ में उत्पन्न हुआ' करें तो शब्द का दुरुपयोग कहा जाएगा।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत्॥ ३२॥

पदच्छेद—न, भूति-योगे, अपि, कृतकृत्यता, उपास्य-सिद्धि-वत्, उपास्य-सिद्धिवत्।

अर्थात्—विभूति (सांसारिक वैभव) प्राप्त करने पर भी कृत-कृत्यता (जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति) नहीं होती जैसी उपासना से प्राप्त होती है।

उपासना का अभिप्राय है कि समीप बैठ के ज्ञान प्राप्त करना। उपास्यसिद्धिवत् को दुहराने से अध्याय की समाप्ति का ज्ञान का है। यहाँ कोई उदाहरण तथा आख्यायिका नहीं है।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ॥ १ ॥

पदच्छेद—मङ्गलाचरणम्, शिष्टाचारात्, फलदर्शनात् , श्रुतितः, च, इति ।

अर्थात्—शिष्टाचार (शिष्ट जनों के आचरण) से फल के दर्शन से और वेद से मंगल आचरण किया जा रहा है ।

इसका अभिप्राय है कि शिष्ट जनों के आचरण का अनुशीलन करने से और फल के देखने से अथवा श्रुति के कथन से मंगल-कामना है, अर्थात् इन तीनों के देखने से हित होता है । ऐसे ही होता है, जैसे किसी शुभ आचरण से होता है ।

इस ग्रन्थ (कपिल के सांख्यदर्शन) के लिखने का उद्देश्य इस प्रकार वर्णन किया है । दर्शनकार ने तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा है । अतः मंगलाचरण भी उसी उद्देश्य की पूर्ति में मानना होगा ।

अतः हमने मंगलाचरण का अभिप्राय यह लिखा है—हित की कामना । हित का अर्थ ही है 'उत्क्रमण' । उत्क्रमण का अर्थ यात्रा की अन्तिम सीढ़ी की ओर जाना है । वहाँ पहुँचना अथवा न पहुँच सकना एक पृथक् प्रश्न है ।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में एक विकल्पात्मक अर्थ भी देते हैं । आप कहते हैं—

'इसके अतिरिक्त कपिल का यह सूत्र मंगलाचरण के स्वरूप का भी निर्देश करता है । प्रत्येक ऐसा आचरण जो (शिष्टाचारात्) न्याय, पक्षपातरहित, (फल-दर्शनात्) सत्य, तथा (श्रुतितः) वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा के अनुसार यथावत् सर्वत्र और सदा अनुष्ठान में आये, उसी को मंगलाचरण कहना चाहिए । किसी भी कार्य के आरम्भ से अवसानपर्यन्त उक्त रूप में उसका पूर्ण किया जाना मंगलाचरण का वास्तविक स्वरूप है ।'

शुभ कर्मों में ईश्वर का चिन्तन करके कार्य के पूर्ण होने के लिए प्रार्थना करना मंगलावरण होता है । यह ठीक है, परन्तु यह तो पुस्तक के आरम्भ में आना चाहिए । क्या शास्त्री जी का यह विचार है कि सांख्यदर्शन समाप्त हो चुका है और कोई नवीन ग्रन्थ यहाँ से आरम्भ हो रहा है ?

अतः 'मंगलाचरणम्' से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाएगी कि कपिल मुनि द्वारा लिखा ग्रन्थ तीसरे अध्याय के साथ समाप्त हो चुका है और जो कुछ उसके बाद लिखा गया है वह एक नवीन ग्रन्थ है और उसके लिखनेवाला कपिल से कम योग्य दार्शनिक है ।

चतुर्थ अध्याय के विषय में हम पहले लिख चुके हैं ।

अतः सूत्रार्थ बनता है कि शिष्ट जनों के व्यवहार, फल के दर्शन और वेद के अनुसार आचरण के लिए मंगलाचरण किया जा रहा है ।

इससे स्पष्ट है कि किसी ने सूत्र-निर्माण का अभ्यास करते-करते यह और छठा अध्याय लिख दिये हैं और सांख्यदर्शन के साथ जोड़ दिये हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

पदच्छेद—न, ईश्वराधिष्ठिते, फलनिष्पत्तिः, कर्मणा, तत्सिद्धेः ।

अर्थात्—ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर फलों की सिद्धि नहीं है; यह कर्मों के द्वारा होती है।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस पूर्ण संसार का अधिष्ठाता परमात्मा ही है और कर्म-फल भी उसके अधीन ही है, फिर भी फल की सिद्धि कर्मों से ही होती है।

तत्-सिद्धि का अर्थ मोक्ष-प्राप्ति अर्थात् दुःखों की निवृत्ति माना है। हम इससे फल-सिद्धि ही लेते हैं। चाहे तो फल इस प्राणी-लोक में मिलनेवाले हों और चाहे ये ब्रह्मलोक में प्राप्त होनेवाले हों, फल कर्मों के ही होंगे। इसमें यह समझ लेना चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करना भी कर्म ही है। साथ ही विवेक प्रकृति-पुरुष में भेद के ज्ञान को ही कहते हैं।

शंकराचार्य समझते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति कर्मों से नहीं होती। वह गीता के अपने भाष्य में कहते हैं—

मोक्षस्य च अकार्यत्वात् मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम्।

(भ० गी० शं० भा० उपोद्घात अध्याय ३)

अर्थात्—मोक्ष अकर्म होना है। इस कारण मोक्ष की इच्छा करने वाले के लिए कर्म व्यर्थ है।

शंकर अपने कथन का निष्कर्ष इस प्रकार निकालते हैं—

तस्मात् केवलाद् एव ज्ञानान् मोक्ष इति एषः अर्थो निश्चितो गीतासु सर्वोपनिषत्सु च।

(भ० गी० शं० भा० उपोद्घात ३ अध्याय)

अर्थात्—सब उपनिषदों और गीता का यह सुनिश्चित मत है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

यह गीता और उपनिषदों का मत है अथवा नहीं, यह इस स्थान पर बताना अभीष्ट नहीं।[१]

यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि वर्तमान सूत्र का प्रवक्ता यह नहीं मानता। वह कहता है कि कर्म से ही 'तत् सिद्धि' (उसकी सिद्धि) होती है; ईश्वर की कृपा से भी नहीं।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—स्वोपकारात्, अधिष्ठानम्, लोकवत्।

अर्थात् —अपने (अर्थात् अपनों के) उपकार (की भावना) से अधिष्ठित होना है। जैसा सामान्य लोग करते हैं।

इस सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि परमात्मा अपने भक्तों के उपकार के हेतु अधिष्ठित मानें तो यह स्वार्थी संसार की भाँति हो जाएगा।

१ इसकी विवेचना के लिए लेखक की रचना 'अद्वैत मीमांसा' पृ० २४ देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—ऐसा नहीं है। पूर्व के सूत्र (५-२) के अनुसार ही होना चाहिए। वहाँ कहा है कि ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर भी कर्म से ही सिद्धि होती है।

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥ ४ ॥

पदच्छेद—लौकिकेश्वरवत्, इतरथा।

अर्थात्—संसार में होनेवाले स्वामियों (राजा-रईसों) की भाँति होना।

अन्यथा यदि परमात्मा अपने भक्तों का ही उपकार करे तो लौकिक (सांसारिक) राजा-रईसों की भाँति हो जाएगा। सूत्रकार का कहना है कि ऐसा नहीं होता।

पारिभाषिको वा ॥ ५ ॥

पदच्छेद—पारिभाषिकः, वा।

अर्थात्—अथवा पारिभाषिक हो जाएगा।

पारिभाषिक का अभिप्राय है कहने-मात्र का। कहने-मात्र का क्या हो जाएगा? कहने-मात्र का परमात्मा रह जाएगा। उसमें और किसी लौकिक राजा में अन्तर नहीं रह जाएगा।

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—न, रागात्, ऋते, तत्सिद्धिः, प्रतिनियतकारणत्वात्।

अर्थात्—रागादि (सांसारिक पदार्थों से मोह) के बिना उसकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्येक के नियत कारण होने से।

तत् का अर्थ है कार्य की कुशलता। लग्न के बिना कार्य सिद्ध नहीं होता। परमात्मा की कृपा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। नियत कारण है कर्म में लग्न।

इस सूत्र में 'रागादृते' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। राग का अर्थ लगाव, मोह इत्यादि है। यदि सामान्य भाषा में कहें तो यह कहना पड़ेगा कि कोई भी कार्य लग्न के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। यह संसार की रीति है।

अब आगे एक पृथक् बात कह दी है। वह यह कि प्रत्येक कार्य को करने के लिए उसमें कारण ढूँढना पड़ता है। उस कारण को जानने पर ही कार्य हो सकता है।

अतः सूत्र का अभिप्राय द्विगुण है—एक कार्य में लग्न और दूसरा कार्य में कारण। कार्य सम्पन्न होने में जहाँ लग्न की आवश्यकता होती है, वहाँ कार्य का कारण भी जानना आवश्यक होता है।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

पदच्छेद—तत्, योगे, अपि, न नित्यमुक्तः।

अर्थात्—उस (रागादि) के योग होने पर भी नित्य मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

सूत्र १ से ६ तक तो सूत्रकार कुछ ठीक ही कहता आया है, परन्तु ठीक कहता-कहता यहाँ उलट बात कहने लगा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नित्य मुक्ति' का क्या अभिप्राय है ? क्या कोई अनित्य-मुक्ति भी होती है ? यदि है तो दोनों में क्या अन्तर है ? मुक्ति या तो नित्य हो सकती है या अनित्य। सूत्रकार अपनी अयोग्यता के कारण अथवा किसी नियत उद्देश्य से ऐसा कह रहा है जो स्पष्ट नहीं। नित्यमुक्त तो केवल परमात्मा ही होता है। नित्य से कदाचित् सूत्रकार का मत है कि जीवात्मा परमात्मा हो जाता है। यह अवैदिक मत है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि निष्काम भाव से कर्म करते हुए मुक्ति हो सकती है।

श्री उदयवीर शास्त्री ने सूत्र ५-६ में 'न' को सूत्रार्थ से पृथक् कर पूर्व के कथन के विरोध में बताया है और सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि रागादि के बिना उसकी सिद्धि हो जाती है नियत कारणों से।

यदि यह अर्थ ठीक मानें तो सूत्र ५-७ के अर्थ बनेंगे कि रागादि के बिना भी नित्य मुक्ति नहीं होती। यहाँ 'अपि' शब्द का क्या प्रयोजन है ? 'भी' से दोनों सूत्रों में एक ही बात कही गई मानी जाएगी। शास्त्री जी के अर्थों से 'भी' शब्द निरर्थक हो जाएगा। साथ ही सूत्र ५-७ सूत्र ५-६ की पुनरुक्ति हो जाएगी। रागादि के बिना उसकी सिद्धि है। फिर कहा है कि रागादि के योग के बिना भी मुक्ति नहीं। तब 'अपि' शब्द निरर्थक है और एक ही बात को पुनः कहा गया हो जाएगा यद्यपि परस्पर विरुद्ध हैं।

र. ार्थ वही है जो हमने किया है। वह यह कि यह बात सांसारिक पदार्थों से रागादि क विषय में कही गई है। बिना खींचा-तानी के यही अर्थ निकलते हैं। कहा है कि सांसारिक पदार्थों से लग्न के बिना भी उनकी प्राप्ति में सिद्धि नहीं है और उन पदार्थों से लग्न करने से नित्य मुक्त नहीं हुआ जा सकता। जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।

इससे यह प्रतीत होता है कि प्रक्षेपक जीवात्मा को ही नित्यमुक्त (परमात्मा) होना मान रहा है। यह कपिल के कथन और वेद-मत के विरुद्ध है।

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—प्रधान, शक्तियोगात्, चेत्, सङ्गापतिः ।

अर्थात्—प्रधान और शक्ति के योग से यदि कहो तो संग की आपत्ति है।

प्रधान का अभिप्राय प्रकृति है और शक्ति से अभिप्राय है परमात्मा का तेज, जिससे परमाणुओं में गुणों की साम्यावस्था भंग होकर सृष्टिरचना होती है।

कहा है कि इन दोनों के योग से भी नहीं। क्या नहीं ? सिद्धि अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति। कारण यह बताया है कि इसके मानने से 'सङ्गापत्तिः' (परमात्मा का काम में लिप्त होना) दोष आ जाएगा।

इस सूत्र में 'प्रधानशक्ति' समास का अर्थ, अन्य प्रकार से भी किया गया है—प्रधान की शक्ति। यह अर्थ इस कारण ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान की कुछ भी शक्ति नहीं। प्रधान शक्तिविहीन है। एक दूसरा अर्थ किया जाता है, प्रधानरूपी शक्ति। इसका यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो परमात्मा की मुख्य शक्ति तेज, क्योंकि शक्ति शक्तिमान् की इच्छा के बिना कार्य नहीं कर सकती। इस कारण प्रधान-रूपी शक्ति का अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा ही होगा। इस विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि वह कर्म करने में हस्तक्षेप नहीं करता।

श्री उदयवीर शास्त्री 'प्रधान शक्ति' का अर्थ करते हैं 'प्रधान का उपादान कारण।' यह वाक्य निरर्थक है। प्रधान स्वतः उपादान कारण है, न कि प्रधान में उपादान कारण कुछ उससे पृथक् वस्तु है।

अतः हम समझते हैं कि 'प्रधान-शक्ति' से अभिप्राय प्रधान और परमात्मा की शक्ति ही है। दोनों के सहयोग से भी सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) नहीं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो परमात्मा का सहयोग अच्छे-बुरे कर्मों में माना जाएगा। यह तो सूत्रकार ऊपर भी कह चुका है। अतः पुनरुक्ति ही है।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—सत्तामात्रात्, चेत्, सर्वैश्वर्यम्।

अर्थात्—परमात्मा की केवल सत्ता से यदि कहो तो सब ऐश्वर्यवान् (हो जाएँगे)।

पूर्वोक्त सब सूत्रों से इस सूत्र में कुछ भिन्न बात कही है। पर कहा है कि परमात्मा यदि अपनों का उपकार करे तो सांसारिक व्यवहार हो जाएगा। इसी की पुष्टि में सब-कुछ (सूत्र ५-२ से लेकर सूत्र ५-८ तक में) कहा है। परन्तु इस सूत्र में कहा है कि परमात्मा किसी का भला-बुरा चाहे अथवा न चाहे, उसकी सत्ता-मात्र से अर्थात् उसके होने-मात्र से ही सबका भला हो जाता है—यह कहें तो सूत्रकार कहता है कि ऐसा भी नहीं। यदि ऐसा मानेंगे तो सब-कुछ ऐश्वर्यवान् ही हो जाएगा।

एक बात माननी पड़ेगी। सूत्रकार भी मानता है कि कर्म ही (अच्छे अथवा बुरे) कर्म-फल उत्पन्न करते हैं। परमात्मा का सृष्टि का अधिष्ठाता होना कर्म मानने का भी विरोध नहीं करता।

प्रमाणाभावात् तत्सिद्धिः ॥ १० ॥

पदच्छेद—प्रमाणाभावात्, न, तत्सिद्धिः।

अर्थात्—प्रमाण के अभाव (न होने) से उसकी सिद्धि नहीं होती।

सिद्धि से अभिप्राय वही है जो हमने सूत्र ५-२ में बताया है, अर्थात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् मोक्षावस्था की प्राप्ति।

दुःखों की निवृत्ति पूर्वोक्त लिखी किसी भी स्थिति में नहीं होती। यहाँ कहा है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

सांख्य की दृष्टि में प्रमाण तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहाँ प्रमाण से अभिप्राय प्रत्यक्ष प्रमाण से है। यह हम इस कारण कहते हैं कि अनुमान-प्रमाण की इस विषय में साक्षी न होना अगले सूत्रों में कहा है। शब्द-प्रमाण इस विषय में आवश्यक नहीं।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रमाण का अभाव कह देने से प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण तीनों ही समझे जा सकते हैं। इसके उपरान्त सूत्र ५-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरर्थक होगा। इससे हमारे सन्देह की पुष्टि होती है कि यह (पाँचवाँ) अध्याय कपिल जैसे तार्किक का लिखा हुआ नहीं है। ग्रन्थ को सूत्रवत् लिखने का प्रयोजन ही वह होता है कि व्यर्थ का एक शब्द भी न लिखा जाए और जो कुछ लिखा जाए वह स्पष्ट अर्थ बताने वाला हो और साथ ही अतिसंक्षेप में हो।

अभी तक दुःखों से छुटकारा पाने के विषय में लिखा है कि—

(१) राग छूटे बिना, (२) प्रकृति से सम्बन्ध रहते, (३) शक्ति एवं प्रकृति अर्थात् कार्य-जगत् के सहयोग से, (४) केवल परमात्मा के तेज से—इन अवस्थाओं में दुःखों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इतना लिख देने के उपरान्त यह कहा है कि इन स्थितियों में दुःखों से छुटकारा पाने का कोई प्रमाण भी नहीं। प्रत्यक्ष तो यह है ही कि इन सब स्थितियों में भी दुःख की स्थिति हो जाती है और हो सकती ही है।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—सम्बन्धाभावात्, न, अनुमानम्।

अर्थात्—सम्बन्ध के अभाव से अनुमान (प्रमाण) भी नहीं है।

अनुमान-प्रमाण में प्रत्यक्ष की किसी स्थिति से सम्बन्ध होना आवश्यक होता है, जैसे अग्नि-धुएँ के उदाहरण में धुआँ प्रत्यक्ष है और ऐसा देखा जा चुका है। अतः प्रत्यक्ष दर्शन से अग्नि का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष में पूर्वोक्त परिस्थितियों में और दुःखों की निवृत्ति में कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इससे अनुमान-प्रमाण का भी अभाव है।

यह सूत्र भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि ऊपर के सूत्र हैं। इससे भी यही कहा जा सकता है कि यह व्यर्थ की पुनरुक्ति ही है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ १२ ॥

पदच्छेद—श्रुतिः, अपि, प्रधानकार्यत्वस्य।

अर्थात्—वेद भी प्रधान के कार्य का (उल्लेख करता है)।

यह हम आगे चलकर बताएँगे कि वेद में प्रकृति के कार्यों के विषय में कहाँ और क्या कहा है? पहले तो यह विचारणीय है कि प्रधान के कार्य से दुःखों के होने अथवा न होने का क्या सम्बन्ध है? सांख्य के रचयिता कपिल यह कहते आए हैं कि जीवात्मा स्वभाववश प्रकृति में लिप्त होता है और दुःख पाता है। इसमें प्रकृति का दोष नहीं है। कारण यह कि जीवात्मा प्रकृति के कार्य के रहते भी उसमें लिप्त होता है तो अपनी दुर्बलता के कारण होता है। प्रकृति तो ईश्वरीय नियमानुसार कार्य करती रहती है।

अतः प्रधान के कार्य के उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं थी। साथ ही यह उल्लेख यह भ्रम उत्पन्न कर सकता है कि यदि प्रधान का यह कार्य न हो तो जीवात्मा दुःखों में नहीं फँसेगा।

यह हमारे सन्देह की पुष्टि ही करता है कि यह पाँचवाँ अध्याय कपिल मुनि, जिसके प्रथम तीन अध्याय लिखे हुए हैं, द्वारा रचित नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ॥ १३ ॥

पदच्छेद—न, अविद्या-शक्तियोगः, निःसङ्गस्य ।

अर्थात्—नहीं है अविद्यारूपी शक्ति के साथ योग असङ्ग का ।

असङ्ग का अभिप्राय परमात्मा है । अविद्यारूपी शक्ति से परमात्मा का संयोग नहीं है । संयोग न होने से ही यह निःसङ्ग कहा जाता है ।

योग का अर्थ है प्रकृति के कार्य में योगदान अथवा सम्बन्ध । पहले प्रकृति के कार्यत्व अर्थात् कार्य करने की सामर्थ्य का उल्लेख आया है, अतः यहाँ यही अभिप्राय है जो प्रकृति के कार्यत्व से उपर्युक्त सूत्र में लिया गया है ।

हमारे विचार में यदि सूत्र का अर्थ वही है जो हमने किया है तो सूत्र सांख्य-सिद्धान्त के विपरीत है । अविद्या है कार्य-जगत् का ज्ञान—यजुर्वेद (४०-१४) में ऐसा कहा है । अविद्या-शक्ति का अभिप्राय है कार्य-जगत् की लिप्त करने की शक्ति । इसमें सांख्य का विरोध यह है कि प्रकृति के परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् की असाम्यावस्था परमात्मा की शक्ति से ही उत्पन्न होती है । तो फिर परमात्मा का योग अविद्या की उत्पत्ति में तो है ही ।

(न अविद्या शक्ति योगः) अविद्यारूपी शक्ति में योग (सम्बन्ध) परमात्मा का नहीं है—यह ग़लत है । ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार का अभिप्राय है कि परमात्मा प्रकृति से उत्पन्न कार्य-जगत् की लिप्त करने की शक्ति में योगदान नहीं देता । हम यह कहते हैं कि प्रकृति लिप्त नहीं करती, वरन् जीवात्मा अज्ञानता के कारण लिप्त होता है । अतः यह सूत्र भी कपिल मुनि द्वारा रचित प्रतीत नहीं होता ।

परमात्मा की बनाई सृष्टि में जीवात्मा के लिप्त होने में न परमात्मा का सम्बन्ध है और न प्रकृति का । सूत्रकार ठीक बात कह नहीं सका ।

इस अयुक्तियुक्त सूत्र को समझाने का यत्न भाष्यकारों ने किया है । पहले तो निःसङ्ग का अर्थ अपरिणाम कर दिया है । फिर ऐसे अपरिणामी परमात्मा का अविद्या-शक्ति से योग का अर्थ समानता कर दिया है ।

इस प्रकार भाष्यकार यह अर्थ निकालते हैं कि अपरिणामी परमात्मा में और परिणामी प्रकृति में समानता नहीं है । हम समझते हैं कि सूत्र का यह अर्थ बनता नहीं ।

परमात्मा का अविद्यारूपी शक्ति से योग नहीं है, अर्थात् कार्य-जगत् में जो लिप्त करने की सामर्थ्य है, उसमें परमात्मा का योग (सम्बन्ध) नहीं है ।

कार्य-जगत् में रस है । यह रस है सत्त्व, रजस्, और तमस् गुणों के कारण, और यह प्रकृति का गुण होते हुए भी इनका प्रकटीकरण तब होता है जब परमाणुओं में गुणों की साम्यवास्था भंग होती है, जो केवल परमात्मा ही कर सकता है । अतः कार्य-जगत् की लिप्त करने की सामर्थ्य परमात्मा द्वारा निर्मित है । यदि परमात्मा सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग न करता तो प्रकृति में रस उत्पन्न नहीं होता ।

अतः परमात्मा का अविद्यारूपी शक्ति के प्रकट होने से सम्बन्ध तो है, परन्तु लिप्त होता है जीवात्मा अपनी अज्ञानता के कारण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम् ।। १४ ।।

पदच्छेद—तद्-योगे, तत्-सिद्धौ, अन्योन्याश्रयत्वम् ।

अर्थात्—तत् (अविद्यारूपी शक्ति) का योग (सम्बन्ध) तत् (उसकी) सिद्धि, अभिप्राय यह है कि दुःखों की निवृत्ति मानें तो अन्योन्य-आश्रय (दोष) उत्पन्न हो जाता है।

अन्योन्य-आश्रय का अभिप्राय है एक-दूसरे के आधार पर मानना और यह दोषयुक्त है।

प्रथम 'तत्' शब्द का अर्थ है अविद्यारूपी शक्ति। यह इस कारण कि पूर्व के सूत्र में इसका उल्लेख है। दूसरे 'तत्' शब्द के अर्थ दो हो सकते हैं—एक तो परमात्मा, जिसे पूर्व के सूत्र में निःसङ्ग कहा है और दूसरा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। यह अर्थ इस कारण लिया जा सकता है क्योंकि इसी की सिद्धि का वर्णन हो रहा है।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि अविद्यारूपी शक्ति अर्थात् कार्य-जगत् में जो लिप्त करने की शक्ति है—इसका सम्बन्ध यदि दुःखों की निवृत्ति में मानें तो अन्योन्य-आश्रय (दोष) हो जाएगा।

हमारी इस पर विवेचना यह है कि अविद्यारूपी शक्ति का सम्बन्ध दुःखों की निवृत्ति से यह है कि इसके द्वारा दुःखों की निवृत्ति होती ही नहीं।

यह ऊपर कहा है कि यह होना प्रमाणरहित है। अतः दुखों की अत्यन्त निवृत्ति और अविद्यारूपी शक्ति का सम्बन्ध अन्योन्य-आश्रय नहीं हो सकता।

इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूत्र पूर्व-पक्ष अथवा संशय-रूप में है। श्री उदयवीर शास्त्री भी ऐसा मानते हैं। आप लिखते हैं—

'इस मान्यता में अनवस्था-दोष की उद्भावना भी होती है। अन्य वस्तु में अन्य आकार की प्रतीति—अविद्या विकार है। उसकी उत्पत्ति के लिए ब्रह्म के साथ योग होने (एक अन्य अविद्या) को स्वीकार करना होगा। वह अविद्या भी विकार-रूप है। तब उसके लिए भी अन्य कारण (अविद्या) की कल्पना करनी होगी। उसके लिए भी और अविद्या का; इस प्रकार अनवस्था-दोष भी इस मान्यता में उत्पन्न होता है।'

इस पूर्ण तर्क का अभिप्राय यह है कि उक्त सिद्धान्त कि अविद्या-शक्ति का सम्बन्ध दुःखों की निवृत्ति से है, यह वस्तुस्थिति के विपरीत है। यही हमने लिखा है। परन्तु शास्त्री जी कहते हैं कि यह अन्योन्य-आश्रय दोष है। हमारा कहना है कि अन्योन्य-आश्रय है ही नहीं। दोनों असम्बन्धित बातें हैं।

यही सूत्रकार कहता है।

न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ।। १५ ।।

पदच्छेद—न, बीज-अङ्कुरवत्, सादिसंसार-श्रुतः।

अर्थात्—नहीं है (पूर्वोक्त कथनानुसार अन्योन्य-आश्रय) बीजांकुर के समान संसार उत्पन्न होनेवाला वेद में वर्णन किए गए के अनुसार। अभिप्राय यह है कि वेद में संसार की उत्पत्ति जैसी वर्णन की है, वह बीजांकुरवत् नहीं है। परन्तु उक्त बात ऐसी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद (ऋ० १०-१९०-१, २, ३) में तो स्पष्ट कहा है कि प्रकृति से यह जगत् (सूर्य, चन्द्रादि) बार-बार बनते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। इससे मूल प्रकृति और अविद्या-शक्ति (कार्य-जगत् में लिप्त करनेवाली शक्ति) अन्योन्याश्रय नहीं, वरन् एक से दूसरा उत्पन्न होना और दूसरे से पहला उत्पन्न होना चलता रहता है। यह परमात्मा के करने से होता है। प्रकृति के ये रूप एक-दूसरे के आश्रय नहीं।

यह सब ठीक है, परन्तु इस सबका इस अध्याय के विषय से कुछ सम्बन्ध है, यह भी विचारणीय है।

यह अध्याय आरम्भ किया गया है इस कथन से कि कार्यारम्भ में मंगलाचरण का अभिप्राय यह होता है कि यह शिष्टाचार है और कर्म-फल के दर्शन की अभिलाषा, अर्थात् आरम्भ किए जानेवाले कार्य के शुभ-फल पाने की कामना की जाती है।

हमारे विचार में यहाँ से नए ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। इसी कारण यह सूत्र है।

इस अध्याय अथवा नवीन ग्रन्थ का विषय आरम्भ होता है : कर्म-फल की प्राप्ति ईश्वर के (इस संसार में) अधिष्ठाता होने के कारण नहीं, वरन् (कर्मणा) कर्म करने से ही होती है। तत्-सिद्धि का अर्थ दुःखों की निवृत्ति भी हो सकती है। यह इस कारण कि सांख्यदर्शन का लक्ष्य दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति अथवा मोक्ष-प्राप्ति है।

आगे कहा है कि यदि यह मानें कि परमात्मा अपनों (अपने भक्तों) के हित के लिए अभिष्ठित है तो यह स्वार्थी संसार की भाँति हो जाएगा, अर्थात् ऐसा नहीं है।

यह भी कहा है कि (यदि कर्म-फल कर्मानुसार) नहीं मानें तो परमात्मा की स्थिति राजा-रईसों की भाँति हो जाएगी।

इसके उपरान्त कहा है कि रागादि के बिना कार्य-सिद्धि नहीं होती, अर्थात् कार्य-सिद्धि के लिए उस कार्य में राग (लग्न) आवश्यक है; क्योंकि प्रत्येक कर्म का कारण होता है।

आगे कहा है—

उस (लग्न से कार्य करने) पर भी नित्य मुक्ति (कर्म से मुक्ति) नहीं। अभिप्राय यह कि संसार में कर्म करने से फल मिलता है, परन्तु इससे कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती। कर्म→फल→कर्म→फल के चक्कर में मनुष्य पड़ जाता है। इस चक्कर से छूटने का उपाय गीता में बतलाया है। निष्काम भाव से कर्म करने से कर्म बाँधता नहीं।

आगे कहा है—

प्रधान और शक्ति के योग से यदि कर्म-फल से मुक्ति (निवृत्ति) कहो तो राग-दोष की प्राप्ति होती है, क्योंकि शक्ति परमात्मा की है। इस कारण परमात्मा अच्छे-बुरे कर्म करने में सहायक माना जाएगा। परमात्मा निःसंग है।

आगे कहा है कि यदि परमात्मा की सत्ता-मात्र से मुक्ति अथवा दुःखों से निवृत्ति हो सकती है तो सब ऐश्वर्यवान् अर्थात् सब ईश्वर ही के सुहृद् हो जाएँगे। ऐसा नहीं होता।

सब ऐश्वर्यवान् नहीं हैं। यह न प्रत्यक्ष-प्रमाण से और न अनुमान-प्रमाण से सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति में भी प्रधान का कार्य कहा है। यह मोक्ष दिलवाना अथवा दुःखों से छुटकारा दिलवाना नहीं है।

अविद्यारूपी शक्ति के योग से भी नहीं। क्योंकि परमात्मा, जिसकी शक्ति कार्य-जगत् में है, दुःखों की निवृत्ति नहीं करेगा। परमात्मा जिसकी शक्ति कार्य-जगत् में कार्य करती है, वह निःसंग है। संसार में पृथक् रहता हुआ वह केवल साक्षी-मात्र है।

उत्पत्तिवाला संसार बीज-अंकुरवत् नहीं है, यह अन्योन्य-आश्रय है—यह तो ठीक है, परन्तु यह प्रकृति दो रूपों (व्यक्त और अव्यक्त) में परिवर्तन-मात्र है।

हम यही कह रहे हैं कि इन सूत्रों के रचनेवाला असंगत बात कह रहा है। निःसंग तो परमात्मा है और यह बीज-अंकुरवत् कर्म ही प्रकृति के सत्-असत् रूप में है। बात ठीक होते हुए भी विषय के साथ असंगत है।

प्रकृति कर्मफल देनेवाली नहीं। यह जीवात्मा को लिप्त करने में कारण भी नहीं। न ही परमात्मा कारण है। रागादि से लिप्त, जीवात्मा अपनी अज्ञता के कारण होता है। इस विषय के साथ प्रकृति के बीज-अंकुरवत् होने का सम्बन्ध कुछ नहीं।

जगत्-रूपी शक्ति और दुःखों की निवृत्ति अन्योन्य-आश्रय नहीं। जो यह कहा है कि इनका सम्बन्ध मानने से अन्योन्य-आश्रय-दोष आ जाएगा, अशुद्ध है।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—विद्यातः, अन्यत्वे, ब्रह्म-बाध-प्रसंगः।

अर्थात्—विद्या से अन्य अर्थात् अविद्या; ब्रह्म-बाध-प्रसंग से अभिप्राय है ब्रह्म में (सृष्टि के रचनेवाला मानने में) रुकावट है।

विद्या (मूल प्रकृति) से अविद्या (कार्य-जगत्) का बनना तो सर्वमान्य है, परन्तु ऐसा मानने से परमात्मा को रचयिता मानने में बाधा क्यों होगी? यह समझ में न आ सकने वाली बात है।

हाँ, यदि यह कहा जाता कि विद्या से स्वतः अविद्या की सृष्टि होती है तो 'ब्रह्म-बाध-प्रसंगः' उपस्थित हो सकता था। परन्तु सूत्र में इसका अर्थात् इस रचना-कार्य के स्वतः होने की ओर संकेत नहीं। इस कारण हम समझते हैं कि विद्या से अविद्या, सत् से असत् मानने में परमात्मा के रचयिता होने में बाधा नहीं है। परमात्मा इसमें कर्त्ता है।

सूत्र को सार्थक करने में आवश्यक शब्द था 'स्वतः'। वह सूत्र में नहीं दिया। इन्हीं कारणों से यह सिद्ध होता है कि पुस्तक का यह अध्याय कपिल मुनि के सांख्यदर्शन का अंश नहीं है।

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अबाधे, नैष्फल्यम्।

अर्थात्—बाधा न होने पर निष्फल होना (होगा।)

पूर्व के सूत्र में विद्या से अविद्या की रचना होने पर ब्रह्म के अस्तित्व को मानने में बाधा बतायी है। अतः 'अबाधेः' से अभिप्राय है कि यदि बाधा न मानें, अर्थात् इस पर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा के अस्तित्व को मानें तो निष्फल होगा, अथवा परमात्मा को मानने का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाएगा और कार्य-जगत् की व्यर्थता (प्रयोजनरहित) होगी।

यह भी उसी अवस्था में होता, जब यह कहा जाता कि विद्या से अविद्या की रचना स्वतः होती है। यदि यह मान लेते तो परमात्मा को मानने की आवश्यकता न रहती। सूत्रकार यह सिद्ध करने का यत्न करता प्रतीत होता है कि परमात्मा को मानने के लिए यह मानना होगा कि विद्या से अविद्या (स्वतः) नहीं बनी।

ईश्वर को सिद्ध करने की यह युक्ति नहीं है। एक तो सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'स्वतः' शब्द सूत्र में नहीं दिया। यदि दिया भी होता अथवा दिया हुआ मान लें, तब भी ईश्वर की सिद्धि के लिए यह युक्ति नहीं है। वास्तव में यह युक्ति है ही नहीं।

ईश्वर की सिद्धि में युक्ति यह है कि प्रकृति (विद्या) जड़ है और जड़ स्वतः गति में आता, जब तक कोई महान् शक्ति इसे गति न दे। जड़, निश्चल, अन्धकारमय, मृत प्रकृति को गति देनेवाली शक्ति परमात्मा (ब्रह्म) कहलाती है।

इसी से हमारा यह कहना है कि पुस्तक का यह अंश कपिल जैसे तार्किक का कहा हुआ प्रतीत नहीं होता।

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—विद्याबाध्यत्वे, जगतः, अपि, एवम्।

अर्थात्—विद्या द्वारा बाधा होने पर जगत् की भी ऐसी ही है।

विद्या द्वारा बाधा का अभिप्राय है कि विद्या से जगत्-रचना हुई ही नहीं; ऐसा मानें तो जगत् की रचना मानने में बाधा होगी।

यदि हम मानें कि मूल प्रकृति से जगत् बना ही नहीं तो फिर यह मानना होगा कि जगत् बना ही नहीं। तब तो गौड़पादाचार्य की बात माननी पड़ जाएगी। गौड़पदाचार्य ने कहा है—

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥

(गौ० का० १-१७)

अर्थात्—प्रपंच यदि होता तो निवृत्त हो जाता, इसमें सन्देह नहीं । यह द्वैत तो माया-मात्र है। वास्तविक अर्थों में अद्वैत ही है।

यह युक्ति निराधार है। कारण यह कि जगत् तो प्रत्यक्ष है। यह भ्रम नहीं है। ऐसा सिद्ध नहीं किया गया; केवल कहा है । इसी प्रकार इसके मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता—जगत् सत्य है, प्रत्यक्ष है। यह भ्रम कैसे नहीं है, सिद्ध नहीं किया गया।

सूत्रकार कहता है कि मान लो कि विद्या से अविद्या के बनने में बाधा है, अर्थात् नहीं बनी तो क्या होगा? होगा वही जो अद्वैतवादी कहते हैं। यहाँ सूत्रकार कहता है कि जगत् को मानने में बाधा होगी।

यह ठीक कहा है कि जगत् तो है; यह प्रत्यक्ष है। इसके होने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्रूपत्वे सादित्वमँ॥ १९ ॥

पदच्छेद—तत्, रूपत्वे, सादित्वम्।

अर्थात्—उस (जगत्) का रूप होने से उसका आरम्भ होना सिद्ध है।

ऊपर के सूत्र में तो यह कहा है कि मूल पदार्थ की बाधा (रुकावट) होने पर जगत् भी वैसा ही है। वह सूत्र सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध था। वर्तमान सूत्र ऊपर के सूत्र के विपरीत बात कहता है। यह संकेत कहीं नहीं है कि ऊपर का सूत्र पूर्व-पक्ष में है।

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्॥ २० ॥

पदच्छेद—न, धर्मापलापः, प्रकृतिकार्य-वैचित्र्यात्।

अर्थात्—प्रकृति के कार्य के विचित्र होने से धर्म की उपेक्षा नहीं है।

धर्म की उपेक्षा का अभिप्राय है प्रकृति के धर्मों अर्थात् उन नियमोपनियमों की अवहेलना नहीं की जा सकती, जिनके अनुसार प्रकृति कार्य करती है, यह देखकर भी कि प्रकृति की विचित्र प्रकार की गतियाँ हैं।

प्रकृति कार्य-जगत् में अनेकानेक प्रकार से कार्य करती दिखाई देती है। इस विविधता के होने पर भी इसके धर्मों की अवहेलना नहीं की जा सकती। हमें इसके नियमों के अनुसार ही व्यवहार रखना पड़ता है।

भाष्यकार इसका अर्थ एक अन्य प्रकार से भी करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य के धर्म अथवा अधर्म-कर्मों में प्रकृति साधन जुटा रही है। अतः उन धर्म-अधर्मों में प्रकृति को निमित्त मानना ही होगा। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

"सूत्र में 'धर्म' पद अधर्म का भी उपलक्षण—संग्राहक है। इसलिए पुरुष जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसके परिणामस्वरूप धर्म और अधर्म के द्वारा उसे सुख या दुःखरूप फल भोगना होता है। उसी के अनुसार उसके लिए अनुकूल तथा प्रतिकूल साधन जुट पाते हैं।

उन साधनों की विविधता में इसी आधार पर धर्म का निमित्त होना अपेक्षित रहता है।"

हम समझते हैं कि यह भाव इस सूत्र में नहीं है। यह भाव ठीक होते हुए भी इस सूत्र से प्रकट नहीं होता।

धर्म का अभिप्राय मनुष्य का धर्म अथवा अधर्म नहीं है। पूर्व के सूत्रों में अविद्यारूपी शक्ति अर्थात् कार्य-जगत् में हो रहे कार्य की शक्ति का उल्लेख सूत्र ५-१४ में आया है। फिर सूत्र ५-१५ में कहा है कि यह कार्य-जगत् बीजांकुरवत् नहीं है, अतः यहाँ अन्योन्य-आश्रय की स्थिति नहीं। यहाँ भी प्रकृति के कार्य का ही वर्णन है। आगे सूत्र ५-१६ में कहा है कि प्रकृति से कार्य-जगत् का होना स्वतः मानें तो परमात्मा के अस्तित्व मानने में बाधा होगी। यहाँ भी विद्या (मूल प्रकृति) से अविद्या (कार्य-जगत्) का स्वतः होना मानें तो परमात्मा को मानने की आवश्यकता नहीं रहती। यद्यपि युक्ति उलटे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढंग से की गई है, परन्तु है यह प्रकृति के कर्म के विषय में ही। फिर सूत्र ५-१७ में कहा है कि परमात्मा के मानने में बाधा न भी मानें, तब भी कार्य-जगत् फल रहित होगा। इसमें भी जगत् के कर्मों का ही उल्लेख है। सूत्र ५-१८ में कहा है कि यदि मूल प्रकृति से संसार- रचना में बाधा मानें तो जगत् की निष्फलता हो जाएगी। यहाँ भी प्रकृति के व्यवहार का ही वर्णन है। कार्य-जगत् (५-१९) स्पष्ट है, इसके मानने में बाधा नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इतना कहने के उपरान्त मनुष्य के धर्म-अधर्म की बात असंगत प्रतीत होती है। यह अयुक्तियुक्त भी है। शब्द है 'न धर्मापलापः', अर्थात् धर्म की अपेक्षा नहीं। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के धर्म अर्थात् उसके कार्य को भूला नहीं जा सकता, उसको विस्मरण नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य प्रकृति के नियमों पर, जहाँ तक उसका वश चलता है, शासन करता है। हम नित्य यह करते हैं। एक सुन्दर वस्तु की स्वाभाविक इच्छा प्रकृति के नियमानुसार है। इस पर भी मनुष्य अनेक स्थानों पर, इसका अनुभव करते हुए भी, इसका विरोध करता है। भू-आकर्षण के कारण जल नीचे को गिरता है। परन्तु आवश्यकता होने पर हम इस आकर्षण को जान, इसका विरोध करते हैं। जल को पम्प द्वारा ऊँचाई पर ले जाते हैं।

'न धर्मापलापः' का अर्थ है हम इसको भूल नहीं सकते। परन्तु अधर्म के लिए प्रकृति के साधनों की विविधता में इसी आधार पर धर्म का निमित्त होना अपेक्षित है।

हमारे विचार में सूत्र का अर्थ इतना मात्र है कि प्रकृति की गतियाँ अनेक तथा विचित्र हैं, फिर भी इसके धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम इस पृथिवी पर प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं।

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—श्रुतिलिङ्गादिभिः, तत्-सिद्धिः।

अर्थात्—वेद के कथन से प्रकृति के लिंगों से तत् (उसके धर्म की) सिद्धि होती है।

यहाँ यह कहा है कि प्रकृति के धर्म, जिनकी ऊपर के सूत्रों में उपेक्षा न कर सकने की बात कही है, वेद के कथन और कार्य-जगत् के लिंगों से सिद्ध होते हैं।

कार्य-जगत् के लिंग तो नित्य देखने में आते हैं। उदाहरण के रूप में अग्नि वस्तुओं को जला देती है, भू का आकर्षण है, जल वस्तु को गला देता है, वायु की ऑक्सीजन अग्नि को तीव्र करती है, इत्यादि। वेद में पग-पग पर अग्नि इत्यादि के गुणों का, स्तुति के रूप में वर्णन किया गया है।

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—न, नियमः, प्रमाणान्तरावकाशात्।

अर्थात्—प्रमाणों के अतिरिक्त (किसी दूसरे साधन से) स्थिति सिद्ध हो सकती है, यह नियम नहीं।

अभिप्राय यह है कि कार्य-जगत् के धर्मों की सिद्धि प्रमाण से सिद्ध तो होती है, प्रमाणों के अतिरिक्त किसी प्रकार से सिद्ध करने का नियम नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री ब्रह्ममुनि प्रमाण से अभिप्राय प्रत्यक्ष-प्रमाण ही लेते हैं। यदि यह मानें तो 'न नियमः' का अर्थ हो जाएगा अनुमान तथा शब्द-प्रमाण से सिद्ध करने का नियम नहीं। यह आशय नहीं। यह सांख्य-विपरीत भी है।

प्रमाण से सब प्रकार के प्रमाण लेने चाहिएँ और उनसे अतिरिक्त कार्य-जगत् के नियमों की सिद्धि नहीं की जा सकती—ऐसा कहा है।

उभयत्राप्येवम् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—उभयत्र, अपि, एवम्।

अर्थात्—दोनों अवस्थाओं में भी ऐसा ही है।

दो अवस्थाएँ हैं विद्या और अविद्या की। अभिप्राय यह है कि मूल-प्रकृति और कार्य-जगत् की अवस्था, दोनों में भी प्रकृति के धर्मों को श्रुति तथा लिंगों (प्रमाणों) से जाना जाता है।

अर्थात् सिद्धिश्चेत, समानमुभयोः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—अर्थात्, सिद्धिः, चेत्, समानम्, उभयोः।

अर्थात् प्रकृति के धर्मों की सिद्धि दोनों अवस्थाओं (मूल-प्रकृति और कार्य-जगत्) में यदि सिद्धि की बात कहो तो समान रूप में होती है। अभिप्राय यह कि श्रुति और लिंगों से दोनों अवस्थाओं से सिद्धि समान रूप में होती है, अर्थात् तीनों प्रकार से प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त) प्रकृति के दोनों रूपों में प्रयोग हो सकते हैं।

प्रकृति के दो रूप हैं : सत् तथा असत्, व्यक्त तथा अव्यक्त, विद्या तथा अविद्या। इन दोनों रूपों में प्रकृति की सिद्धि समान रूप में होती है। सूत्र ५-२१ में कहा है कि श्रुति, लिंगादि (प्रत्यक्षादि प्रमाणों) से होती है। वर्तमान सूत्र (५-२४) में कहा है कि यह सिद्धि दोनों रूपों में होती है।

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अन्तःकरणधर्मत्वम्, धर्मादीनाम्।

अर्थात्—धर्मादि का अन्तःकरण के धर्म होना (मान्य) है।

मनुष्य के धर्म-अधर्म कर्म अन्तःकरण के धर्मों के कारण हैं। सूत्रकार का कहना है कि यह उसके ही धर्म अर्थात् गुणों के कारण मनुष्य धर्म-अधर्म करता है।

वास्तव में इन सूत्रों का रचयिता आरम्भ से ही एक बात को स्पष्टता से समझ रहा प्रतीत नहीं होता। वह यह कि प्रकृति के गुण जो सत्त्व, रजस्, तमस् के कारण आविर्भाव में आए हैं, वे पुरुष (जीवात्मा) के लिए हैं। फिर भी उनके अधीन जीवात्मा कार्य करे अथवा न करे, उसकी इच्छा के अधीन है। यह इस प्रकार है जैसे किसी के पास रत्नजड़ित भूषण हों, परन्तु वह उन भूषणों को पहने अथवा न पहने, यह उसके अधीन है; और फिर वह उनसे धर्म करे अथवा अधर्म करे, यह भी उसके अधीन है। इस अध्याय का लिखने वाला या तो इस बात की जान-बूझकर उपेक्षा कर रहा है अथवा वह यह जानता नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण वह जीवात्मा की स्वतंत्रता की अवहेलना कर रहा है।

सांख्य का सिद्धान्त यह नहीं कि जीवात्मा प्रकृति द्वारा धर्मादि करने में विवश किया जाता है। प्रकृति अपने गुणों द्वारा उत्पन्न जगत् को इस जीवात्मा के सम्मुख उपस्थित करती है। जीवात्मा जो कुछ धर्माधर्मादि करता है अपने स्वभाव के कारण करता है और यह कपिल मुनि १-१८ में लिख चुके हैं कि आसक्ति (बन्ध में आने) का स्वभाव प्रकृति के कारण नहीं बनता। इसका बन्ध में आना किसी अन्य कारण से है। इन सूत्रों का रचयिता इससे विपरीत बात कह रहा है।

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥

पदच्छेद—च, गुणादीनाम्, न, अत्यन्त, बाधः।

अर्थात्—और (अन्तःकरण के) गुणादि को नहीं है अत्यधिक बाधा (रुकावट)।

इसका अभिप्राय है कि अन्तःकरण के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के कार्य करने में बहुत अधिक रुकावट नहीं है; अर्थात् कुछ है। इसका स्पष्ट अर्थ यह बनता है कि अन्तःकरण जीवात्मा से कुछ तो उलटे-सीधे कर्म करा ही सकता है। यह बात, जैसाकि हमने पूर्व के सूत्र के भाष्य में कहा है, सांख्य-सिद्धान्त के विपरीत है। प्रकृति कुछ नहीं कराती; क्योंकि यह (सूत्र १-१८ के अनुसार) जड़ है। करनेवाला जीवात्मा है और जीवात्मा की इच्छा बहुत बड़ी बाधा है अन्तःकरण की प्रेरणा में।

चतुर्थ अध्याय की ही भाँति पूर्ण पंचम अध्याय कपिल मुनि के अतिरिक्त किसी अन्य का लिखा हुआ है। भाष्यकार इस अयुक्त वर्णन को कपिल मुनि का लिखा हुआ सिद्ध करना चाहते हैं।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री 'अत्यन्त बाधः' का अर्थ 'थोड़ा भी अनुपयोग' करते हैं। अनुपयोग अर्थात् उपयोग के बिना, भी सिद्धान्त का विरोध ही करेगा। परन्तु यह अर्थ सूत्र का सिद्धान्त के विरोध को छुपाने का प्रयास प्रतीत होता है।

(अन्तःकरण के) गुणादि थोड़े भी उपयोगहीन नहीं हैं। यह इस बात को कहने का टेढ़ा-मेढ़ा ढंग है कि अन्तःकरण के गुण (पुरुष के धर्मादि में) सब प्रकार से उपयोगी हैं।

हम समझते हैं कि सूत्र के अर्थ सरल और सीधे हैं कि अन्तःकरण के गुणों के मार्ग में बहुत अधिक मात्रा की भी बाधा (रुकावट) नहीं, अर्थात् ये ही जीवात्मा से कर्म कराते हैं।

इस कथन में और कपिल के इस कथन में कि —'संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य' (१-६६) बहुत अन्तर है। एक में कहा है कि प्रकृति के कार्य में रुकावट नहीं और दूसरे में कहा है कि प्रकृति अपने भोग पुरुष के लिए उपस्थित करती है।

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥ २७ ॥

पदच्छेद—पञ्चावयव-योगात्, सुख-संवित्तिः।

अर्थात्—पाँच अवयवों के योग से सुख की अनुभूति है।

पाँच अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन। ये अवयव (अंग) हैं कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सिद्धि के। जब इन पाँचों का योग होता है तो सुख अनुभव होता है।

यहाँ भी शास्त्री जी ने अर्थ और व्याख्या ठीक नहीं की। आप लिखते हैं—

'पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से सुखादि का अनुभव होता है।'

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तःकरण के पाँच अवयवों के समान हैं—यह अप्रमाणित बात है। अन्तःकरण के अवयव ये नहीं हैं। वास्तव में सूत्र क्रम में ठीक स्थान पर नहीं है। इस सूत्र का विषय पूर्व के सूत्र (५-२६) से सम्बन्ध नहीं रखता।

जो अर्थ हमने लिखे हैं, उन अर्थों का ज्ञान शास्त्री जी को है, परन्तु उन्होंने उनको अमान्य किया है और अमान्य करने में आप लिखते हैं—

'अनेक व्याख्याकारों ने सूत्र के 'पञ्चावयव' पद का अनुमान के पाँच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन अर्थ किए हैं। सुखादि की अनुभूति या संवित्ति में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का कोई उपयोग तो नहीं है, पर आत्मा को सुखादि की अनुभूति के प्रतिपादन से सुखादि के कारणभूत सत्त्व आदि गुणों का अनुमान द्वारा अस्तित्व सुतरां सिद्ध हो जाता है।'

यह घोड़े के आगे गाड़ी लगानेवाली बात है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिज्ञा, हेतु इत्यादि आत्मा के निश्चय करने के कार्य हैं और जब इनसे योगादि कार्य की सिद्धि होती है तो आत्मा को सुख प्राप्त होता है। कार्य है अन्तःकरण द्वारा प्रस्तुत गुणों का रस। इनको स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना आत्मा का कार्य है; और जब प्रतिज्ञादि क्रिया के योग से जीवात्मा कोई कार्य करने में सफल होता है तो वह सुख अनुभव करता है। पंच ज्ञान (ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान) भी तब ही सुखकारक होता है जब वह प्रतिज्ञादि अवयवों द्वारा सिद्ध हो जाए।' इन कारण ज्ञानेन्द्रियाँ तो गौण हैं। वास्तविक बात है आत्मा द्वारा प्रतिज्ञादि के कार्य का परिणाम।

सूत्रकार ने अशुद्ध बात कही है और शास्त्रीजी ने उसे सिद्ध करने के लिए अशुद्ध युक्ति दी है।

न सकृद्ग्रहणात्सम्बन्धसिद्धिः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—न, सकृत्-ग्रहणात्, सम्बन्ध-सिद्धिः।

अर्थात्—नहीं है एक बार (सबके) ग्रहण से सम्बन्ध (व्याप्ति) की सिद्धि।

किनके एक बार इकट्ठे ग्रहण करने की बात कही है? ऊपर कहे प्रतिज्ञादि अवयवों को इकट्ठा लेने से व्याप्ति (सम्बन्ध) सिद्ध नहीं होती।

जब सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति की बात आयी तो अनुमान की ही बात कही मानी जाएगी। ऊपर कहे अवयव अनुमान-प्रमाण के ही समझे जाएँगे। सूत्रकार कह रहा है कि ऊपर के सूत्र (५-२७) में कहे प्रतिज्ञादि अवयवों को एक बार देखने से परिणाम का निश्चय नहीं होता, अर्थात् बार-बार (कई बार) और सम्बन्ध को भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखने से व्याप्ति की सिद्धि मानी जाती है।

अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि और धुएँ का सम्बन्ध है। कभी एक बार किसी एक स्थान पर दोनों को देख लेने से सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ। इनका सम्बन्ध अनेक बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अनेक स्थानों पर देखने से सिद्ध होता है। धुआँ बिना अग्नि के नहीं देखा जाता। तब ही हम धुएँ से अग्नि का अनुमान लगाते हैं।

इस सूत्र में बात ठीक कही है, परन्तु यह तो सूत्रकार कपिल पहले कह चुके हैं (देखें सूत्र १-६० और १-१००)। यहाँ कुछ भाष्यकारों ने व्याख्या अधिक अवश्य की है, परन्तु यह वहाँ भी की जा सकती थी।

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥ २९ ॥

पदच्छेद—नियत-धर्मसाहित्यम्, उभयोः, एकतरस्य, वा, व्याप्तिः ।

अर्थात्—नियत धर्म का इकट्ठा रहना (देखा जाना) व्याप्ति है, दोनों का है अथवा दोनों में से एक का है।

एक व्याप्ति है 'कृतकृत्व और अनित्यत्व'। अभिप्राय यह कि जो बना है वह अनित्य भी है। दूसरी व्याप्ति है साधन-साध्य की, अर्थात् कारण-कार्य की, जैसे अग्नि से धुएँ का उत्पन्न होगा। सूत्रकार ने कहा है कि दोनों प्रकार की व्याप्ति में नियत धर्मों का साथ-साथ होना होता है। यह तो कपिल पहले ही कह चुके हैं।

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ ३० ॥

पदच्छेद—न, तत्त्वान्तरम्, वस्तु-कल्पना-प्रसक्तेः ।

अर्थात्—नहीं है दूसरा (पृथक्) तत्त्व मानना, (क्योंकि) वस्तु की कल्पना प्रसक्त होने से।

सूत्रकार कुछ ऐसा कहता प्रतीत होता है कि व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध कोई पृथक् तत्त्व नहीं। सम्बन्ध तो एक स्थिति है। यह वस्तु नहीं है। उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। अग्नि और धुएँ का सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के व्यापक होने के विचार से यह व्याप्ति समझी जाती है। सूत्रकार कहता है कि यह कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

कार्य-कारण दोनों से अतिरिक्त कुछ नहीं। यदि इसे कोई अतिरिक्त तत्त्व मानेंगे तो एक कल्पना-मात्र हो जाएगी, जिसका कोई अस्तित्व नहीं। यह युक्ति नहीं।

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—निज-शक्ति-उद्भवम्, इति, आचार्याः ।

अर्थात्—आचार्यों का ऐसा मत है, अपनी शक्ति का प्रकट होना (व्याप्ति है)।

यह कथन इस कारण किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त सूत्र में बात स्पष्ट नहीं हुई थी। यह स्पष्ट नहीं था कि तत्त्व से सूत्रकार क्या अभिप्राय लेता है। वस्तुस्थिति को भी तत्त्व कहा जा सकता है। तत्त्व के शाब्दिक अर्थ हैं 'तत्-त्व', अर्थात् ऐसा होना। यह स्थिति (सम्बन्ध के लिए) भी आ सकती है।

इस भ्रम को दूर करने के लिए वर्तमान सूत्र की सृष्टि हुई है। कहा है कि अपनी शक्ति का प्रकट होना ही व्याप्ति है, यह अग्नि और धुएँ में कोई पृथक् तत्त्व (वस्तु) नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र में अन्य भाष्यकारों के लिए विवेच्य शब्द 'आचार्याः' है। यह 'आचार्याः' शब्द किन आचार्यों के लिए आया है? अर्थात् सूत्रकार अपने कथन पर दृढ़ युक्ति नहीं दे सका, इस कारण दूसरों की साक्षी दे रहा है। इस ग्रन्थ (सांख्य दर्शन) में वेद-प्रमाण की साक्षी तो दी गई है, परन्तु अन्य आचार्यों के मत की दुहाई नहीं दी गई।

श्रुति से भी भाष्यकार कहीं-कहीं उपनिषद्-ग्रन्थों की साक्षी उपस्थित करते रहे हैं, परन्तु इतिहास-पुराणादि के कथन से कपिल प्राचीन आचार्य माने गए हैं और उपनिषदों के रचनेवाले तो बहुत बाद में हुए हैं। अतः सांख्यदर्शन में श्रुति से अभिप्राय उपनिषद्-ग्रन्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस सूत्र में आचार्याः शब्द से किनका अभिप्राय है, विचारणीय हो गया है।

श्री उदयवीर शास्त्री इस शब्द का प्रयोग कपिल के अपने लिए ही मानते हैं। परन्तु आचार्याः शब्द बहुवचन है। इस कारण यह केवल एक ऋषि के लिए नहीं हो सकता। यह अनेक ऋषियों के लिए ही है। अतः शास्त्रीजी की यह मान्यता अशुद्ध है।

इस शब्द का इस ग्रन्थ में पहली बार ही प्रयोग होने से दो बातों का पता चलता है। एक यह कि आचार्य कपिल के अतिरिक्त, साथ ही सूत्रकार के अतिरिक्त किन्हीं अन्य आचार्यों के लिए यह शब्द है। दूसरी बात यह है कि सूत्रकार को अपने कथन की युक्ति पर सन्देह है और वह दूसरों के कथन का प्रमाण दे रहा है।

अन्य प्रमाणों के आधार पर भी हमारा यही कहना है कि यह पाँचवाँ अध्याय कपिल मुनि का अपना लिखा नहीं है। यह किसी अन्य का लिखा है।

ये सब सूत्र युक्ति में शिथिल हैं। लिखनेवाले को स्वयं भी अपने कहे पर विश्वास प्रतीत नहीं होता।

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—आधेयशक्तियोगः, इति, पञ्चशिख : ।

अर्थात्—आधेय शक्ति का सम्बन्ध है ऐसा पञ्चशिख कहते हैं।

आधेय का अर्थ है किसी आधार पर आधारित वस्तु अथवा विचार। सूत्रकार कह रहा है कि अग्नि-धुएँ का सम्बन्ध आधेय शक्ति का है, अर्थात् आधारित सम्बन्ध है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने कथन से अभी भी सन्तोष न होने पर पंचशिख की दुहाई दी जाने लगी है।

पंचशिख का नाम इस कारण लिया गया है क्योंकि यह कपिल के प्रशिष्य कहे जाते हैं। केवल आचार्याः शब्द कहकर सन्तोष नहीं हुआ।

श्री उदयवीर शास्त्री का कहना है कि पंचशिख का नाम कपिल ने ही कहा है। यह अपने योग्य शिष्य के प्रति उनके वात्सल्य के कारण है।

यह अयुक्त कथन है। पंचशिख कपिल मुनि का प्रशिष्य था। अपनी युक्ति का प्रमाण अपने प्रशिष्य के कथन से देना विस्मयजनक ही है। वस्तुस्थिति यह है कि सूत्रकार व्याप्ति-सम्बन्ध के विषय में ऊहापोह कर रहा है। वह अपनी युक्ति से स्वयं सन्तुष्ट न होने पर दूसरों की साक्षी देने लगा है। पहले उसने अन्य आचार्यों की साक्षी दी है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र में पंचशिख की साक्षी प्रस्तुत की है।

इससे यह स्पष्ट ही है कि इन सूत्रों के लिखनेवाला कपिल नहीं है। श्री उदयवीर शास्त्री अपने एक अन्य ग्रन्थ में बहुत यत्न से यह कह चुके हैं कि सांख्यदर्शन और षष्टि-तन्त्र एक ही ग्रन्थ है। यह कथन सूत्रों से असिद्ध होता प्रतीत होता है।

ये दोनों सूत्र (५-३१, ३२) इस बात का अकाट्य प्रमाण हैं कि ये सूत्र कपिल मुनि द्वारा लिखे नहीं।

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—न, स्वरूप-शक्तिः, नियमः, पुनर्वाद-प्रसक्तेः।

अर्थात्—स्वरूप का प्रसंग से शक्ति, अर्थात् समान स्वरूप होना (व्याप्ति का) नियम नहीं।

अभिप्राय यह है कि पुनरुक्ति-व्याप्ति-सम्बन्ध में कारण-कार्य में स्वरूप-समानता होने पर व्याप्ति नहीं मानी जा सकती। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति का स्वरूप किसी बालक से मिलता हो तो यह कहना ठीक नहीं कि दोनों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, अथवा स्वरूप-समानता न होने पर यह कहना कि पिता-पुत्र-सम्बन्ध नहीं, भी ठीक नहीं हो सकता।

यदि स्वरूप-शक्ति (स्थिति) को व्याप्ति मानेंगे तो पुनरुक्ति ही होगी। इसमें पुनरुक्ति कुछ भी नहीं। यह व्यर्थ का वाक्य है।

शास्त्रीजी इस कथन की उपयुक्तता इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"सूत्र में 'नियम' पद का अर्थ व्याप्ति है। स्वरूप-शक्ति ही व्याप्ति है, अर्थात् 'वह्नि' में धूम की व्याप्ति धूम का स्वरूप ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे पुनर्वाद अर्थात् पुनरुक्ति की प्रसक्ति होगी। व्याप्ति का धूम का स्वरूप मानने पर दोनों का एक ही अर्थ होगा।"

शास्त्रीजी एक असिद्ध वस्तु को सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं। सूत्र में पुनर्वाद शब्द व्यर्थ है।

सूत्र का पूर्वांश स्पष्ट है कि स्वरूप की समानता-व्याप्ति नहीं और उससे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। स्वरूप-शक्ति का अभिप्राय है स्वरूप की सामर्थ्य से हर दो वस्तुओं में व्याप्ति-सम्बन्ध मानना नियम नहीं, अर्थात् स्वरूप के आधार पर दोनों वस्तुओं में व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है। यह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह ठीक है, परन्तु इसको मानने में पुनरुक्ति कहाँ है? यह समझ से बाहर की बात है। यदि यह कहें कि धुआँ तथा अग्नि में स्वरूप के आधार पर व्याप्ति है तो पुनरुक्ति-दोष कहाँ है?

हमारा मत है कि इस सूत्र का रचयिता निराधार कथन कर रहा है। सूत्र में ठीक बात कहकर भी उसने कुछ ऐसा कह दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह अयुक्त बात कह रहा है।

अन्य भाष्यकारों की बात समझ में आती है। उन्होंने एक ग़लत बात को स्वीकार कर लिया है कि यह पंचम अध्याय सांख्यदर्शन का अंग है। परन्तु यह अध्याय इतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयुक्त है कि एक सामान्य अध्यापक का वचन ही कहा जा सकता है । उसने सांख्य-सिद्धान्तों को विद्यार्थियों को समझाने के लिए कुछ कहा है जिसमें न केवल अशुद्धियाँ हैं, वरन् अयुक्त कथन भी है ।

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—विशेषण-अनर्थक्य, प्रसक्तेः ।

अर्थात्—विशेषणों की अर्थहीनता प्रसक्त होने से ।

यह सूत्र पूर्व के सूत्र (५-३३) की पुनरुक्ति है । स्वरूप भी वस्तु का विशेषण ही होता है । यह पहले बताया जा चुका है कि स्वरूप से व्याप्ति सिद्ध नहीं होती । अतः यह सूत्र पूर्व-सूत्र के भाव का ही भिन्न शब्दों में कथन है । इसके लिए नया सूत्र लिखने की आवश्यकता नहीं थी ।

जब हम कहते हैं कि यह चौकोर वस्तु अमुक अन्य चौकोर वस्तु से उत्पन्न होती है तो हम स्वरूप के आधार पर व्याप्ति को आधारित करने का यत्न करते हैं और व्याप्ति अर्थात् व्यापक-सम्बन्ध नहीं है । वास्तव में हम वस्तुओं के विशेषण के आधार पर ही व्याप्ति सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं । सूत्रकार इसको सूत्र ५-३३ में पहले ही असिद्ध कर चुका है ।

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—च, पल्लवादिषु, अनुपपत्तेः ।

अर्थात्—और पत्ते आदि में (व्याप्ति मानना) अयुक्त है ।

कहीं किसी वृक्ष के पत्तों को देखकर वहाँ वृक्ष का अनुमान लगाना अयुक्त है । मान लीजिए किसी के घर के बाहर पीपल के पत्ते पड़े हों तो इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वहाँ पीपल का वृक्ष है अथवा था ।

यह युक्ति ठीक है । परन्तु जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसको ध्यान में रखते हुए यह उदाहरण अथवा युक्ति बचकानी (बच्चों की-सी) है । यह कपिल मुनि जैसे गम्भीर चिन्तक द्वारा नहीं कही जा सकती ।

जब एक सिद्धान्त व्यापक रूप में कह दिया कि देश और काल के विच्छेद से दो वस्तुओं अथवा घटनाओं का व्यापक सम्बन्ध व्याप्ति होती है और उस सम्बन्ध से अनुमान लगाया जा सकता है, तो इतना कह देने के उपरान्त इन सूत्रों के कहने का अर्थ एक ही प्रतीत होता है कि कोई सांख्याचार्य अल्प आयु अथवा अल्प बुद्धि के लोगों को ठीक अथवा गलत उदाहरण देकर समझाने का यत्न कर रहा है ।

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—आधेय-शक्तिसिद्धौ, निजशक्तियोगः, समानन्यायात् ॥

अर्थात्—आधेय की शक्ति सिद्ध हो जाने पर निज शक्ति का सम्बन्ध समान युक्ति से (अनुमान से) सिद्ध होता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह है कि आधार और आधारित का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर अनुमान सत्य सिद्ध होता है।

सूत्रकार ने अपने पूर्व कहे सूत्रों (५-३२ से ५-३५ तक) का निष्कर्ष इस सूत्र में बताया है। यह बताना कितना अशुद्ध और अयुक्त है—यह हम उन सूत्रों के भाष्य में कह चुके हैं। यहाँ भी कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है। समान न्यायात् के अर्थ हैं समान युक्ति से। तो असमान युक्ति क्या होती है? मूल रूप में सब युक्तियों का आधार प्रत्यक्ष में होता है।

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—वाच्यवाचकभावः, सम्बन्धः, शब्दार्थयोः ।

अर्थात्—वाच्यवाचक-भाव (होना) सम्बन्ध होता है (जैसे) शब्द और अर्थ का।

वाच्य का अर्थ है जिसके विषय में कहा गया है। मोनियर विलियम्ज़ इसका अर्थ करता है—to be spoken, stated, expressed etc.

इसका अर्थ है बोला जानेवाला, कहा जानेवाला, जो कहा गया हो अथवा अभिव्यक्त किया गया हो इत्यादि।

वाचक का अर्थ है—speaker, reciter etc. कहनेवाला, जिसने कहा है।

अतः सूत्र का अभिप्राय निकलता है कि कहा गया और कहनेवाला शब्द और अर्थ।

सूत्र में दोष इस प्रकार हैं—(१) शब्द कहता है और अर्थ कहा जाता है। यही वाच्य और वाचक है। फिर शब्द बदल देने से किसी प्रकार की स्पष्टता आ गई है? यह ऐसे होगा जैसे कोई कहे कि नर और नारी का होना ऐसे ही है जैसे 'मेल' और 'फ़ीमेल' होते हैं। भाषा बदली है, किसी सांख्य-सिद्धान्त का निरूपण नहीं हुआ।

(२) दूसरा दोष है कि तुलना करने में क्रम बदल गया है। वाच्य की तुलना है अर्थ से और वाचक की तुलना है शब्द से। यह भाषा का दोष है । इतना होने पर भी सांख्य के विवेचन में कुछ लाभ नहीं हुआ।

(३) एक अन्य दोष भी है। भाव शब्द के दो अर्थ हैं । एक जो हमने ऊपर किया है और दूसरा अर्थ है अभिप्राय। दोनों में कौन-से अर्थ से सूत्रकार का अभिप्राय है, स्पष्ट नहीं।

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—त्रिभिः, सम्बन्धसिद्धिः ।

अर्थात्—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निश्चय तीन प्रकार के साधनों द्वारा होता है—

(१) आप्तोपदेश; (२) वृद्धव्यवहार; (३) प्रसिद्ध पद के समान रूप में समझे जानेवाले अभिप्राय से।

आप्तोपदेश से अभिप्राय है उस व्यक्ति का कथन जो विषय का विशेषज्ञ हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृद्ध-व्यवहार का अभिप्राय है अनुभवी व्यक्ति का कथन। प्रसिद्ध पद का अभिप्राय है कि जो अर्थ प्रचलित हो।

न कार्ये नियम उभयथादर्शनात् ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—न, कार्ये, नियमः उभयथा-दर्शनात्।

अर्थात्—कार्य में नियम नहीं, दोनों प्रकार से देखे जाने से।

उभयथा का अर्थ है दोनों प्रकार से। किन दो प्रकार से ? यह स्पष्ट नहीं है। प्रथा है कि जब यह शब्द (उभयथा) आता है तो किन्हीं ऐसे दो का अभिप्राय होता है जो पूर्व-सूत्र में वर्णित हो। पूर्व-सूत्र में तीन का उल्लेख है। उन तीन में से किन दो का यहाँ अभिप्राय है, कहा नहीं जा सकता।

सूत्र का पूर्वांश ठीक है। इसका अभिप्राय यह है कि जब किसी वाक्य में किसी क्रिया का उल्लेख हो तो कथन-मात्र से क्रिया होती नहीं। कथन तो कथन-मात्र ही है। इससे क्रिया सम्पन्न नहीं होती।

इन सूत्रों का अभी तक किसी भी सांख्य-सिद्धान्त से सम्बन्ध प्रकट नहीं हुआ। शब्द का तीन साधनों से अर्थ-बोध होता है, अथवा क्रिया का शब्दार्थ से सम्बन्ध नहीं। ये सूत्र भला किस प्रकार सांख्यदर्शन के किसी सिद्धान्त का निरूपण करते हैं? हमारा निश्चित मत है कि ये सांख्यदर्शन के सूत्र नहीं हैं। किसी अध्यापक ने विद्यार्थियों को भाषा के पाठ के लिए उनको सूत्रवत् कर विद्यार्थियों को स्मरण कराए हैं।

इसी (भाषा) के विषय में सूत्रकार आगे कहता है—

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—लोके, व्युत्पन्नस्य, वेदार्थ-प्रतीतिः।

अर्थात्—(जैसे) लोक में ज्ञानी का (ज्ञान, वैसे ही) वेदार्थ-ज्ञान (की प्रतीति होती है)।

सूत्र ३८ में जो 'त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः' कहा है, उसी के विषय में यहाँ कहा है कि यह लौकिक भाषा के शब्दों का अर्थ जानने के लिए है। साथ ही यह भी कह दिया है कि वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का ज्ञाता वेदार्थ भी वैसे ही समझ सकता है।

सूत्रकार ने यह पूर्व-पक्ष की बात कही है और इसको ठीक न समझ इसका उत्तर स्वयं ही दे दिया है, यद्यपि इसके पूर्व-पक्ष में होने का संकेत इस सूत्र में नहीं दिया।

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—न, त्रिभिः, अपौरुषेयत्वात्, वेदस्य, तदर्थस्य, अपि, अतीन्द्रियत्वात्।

अर्थात्—नहीं है तीन प्रकार से (अर्थ प्रकट होना) वेदों के अपौरुषेय होने से और उसके अर्थ अतीन्द्रिय होने से।

ऊपर अर्थ जानने के जो तीन उपाय बताए हैं, वे सूत्रकार के मत से वेदार्थ जानने में सहायक नहीं होते। यह ठीक है, परन्तु इसमें जो कारण बताया है वह अशुद्ध है। वेदों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ जानने में ऊपर कहे गए जो तीन उपाय सहायक नहीं होते, वह इस कारण नहीं कि वेद अपौरुषेय हैं, प्रत्युत इस कारण कि मानवी भाषा में परिवर्तन और ह्रास हुआ है। मानवी भाषा वह नहीं रही जो वैदिक काल में थी। इस कारण यह भाषा अथवा इस भाषा के विद्वानों की सहायता वेदार्थ जानने में अर्थहीन है।

इसी प्रकार वेद के अतीन्द्रिय होने से क्या अभिप्राय है? वेद का विषय अतीन्द्रिय नहीं है। अतीन्द्रिय शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक है इन्द्रिय-गोचर न होना। वेदार्थ और वेद शब्द मानवी भाषा में कहे गए हैं। सब भाष्यकार और व्याख्याकार यही तो करते रहे हैं। अतः इस विचार से यह अशुद्ध कथन है। यह बात भी अशुद्ध है कि वेद का विषय इन्द्रिय-गोचर नहीं। इस विचार से—अतीन्द्रिय के अर्थ इसमें परा विद्या का होना ही है, ऐसी बात भी नहीं। वेद में दोनों प्रकार की विद्याएँ हैं—परा भी और अपरा भी।

यजुः ४०-८ परा विद्या का उदाहरण है और ऋ० १०-८५-३६ अपरा विद्या का उदाहरण है।

यजुः ४०-८ में परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन है। ऋ० १०-८५-३६ में पति द्वारा पत्नी को ग्रहण करने के विषय का वर्णन किया गया है।

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्॥ ४२॥

पदच्छेद—न, यज्ञादेः, स्वरूपतः, धर्मत्वम्, वैशिष्ट्यात्।

अर्थात्—नहीं है यज्ञादि का स्वरूप से धर्म होना विशेषता होने से।

क्या नहीं है? कुछ भाष्यकारों का मत है कि 'नहीं है वेद का इन्द्रिय-गोचर होना'; परन्तु अधिक सम्भव यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार कह रहा है कि 'नहीं हैं वेदार्थ को जानने के तीन साधन'।

कारण बताया है कि यज्ञादि में कर्म के स्वरूप से विशेषता होती है। विशेषता यह होती है कि यज्ञ के कर्म का स्वरूप वेदार्थ समझने में सहायक होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के रूप में शतपथ ब्राह्मण में यह पाठ है—

अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति।
देवानामसि वह्नितमँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।

(श० ब्रा० १-१-२-१२)

अर्थात्—अब (यज्ञ) में डण्डे को छूता हुआ यजुर्वेद के इस मंत्र को पढ़े—

देवानामसि वह्नितमँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।

इस मंत्रांश का अर्थ है—तू देवताओं को वहन करनेवाला है, शुद्ध करनेवाला है, पालन करनेवाला है और सबका प्रेमपात्र है।

यज्ञ में डण्डे को छूकर यह वेद-मन्त्र पढ़ने के लिए कहा है, अर्थात् यज्ञ का डण्डा इस कार्य के लिए है।

इस प्रकार सूत्रकार कहता है कि वेदार्थ यज्ञ के स्वरूप से पता नहीं चलता। यहाँ एक बात विचारणीय हो गई है कि कपिल मुनि का [illegible] और यज्ञों का विचार कब

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था? मुण्डकोपनिषद् (१-२-१) में इस बात का संकेत मिलता है कि यज्ञों का चलन त्रेता युग में हुआ था और ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन भी त्रेता अथवा द्वापर में ही हुआ था। कपिल मुनि इस काल से पहले हुए थे।

श्री उदयवीर शास्त्री अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से सिद्ध करते हैं कि कपिल मुनि आदि त्रेता युग में हुए थे। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि कपिल ऋषि कर्दम और देवहूति, जो मनु के परिवार में से थी, का पुत्र था।

परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ, जिनमें मन्त्रों का स्वरूप यज्ञों के विधि-विधान में प्रकट किया गया, बहुत बाद के काल में लिखे गए थे। सम्भवतः ये त्रेता युग में लिखे गए हैं। शतपथ ब्राह्मण के विषय में तो यह कहा जाता है कि यह महाभारत के काल से कुछ ही पहले लिखा गया था।

यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस अध्याय का लिखनेवाला सांख्य का आदि-प्रवक्ता कपिल नहीं है।

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—निज-शक्तिः, व्युत्पत्त्या, व्यवच्छिद्यते।

अर्थात्—(वेद-शब्दों) की स्वाभाविक शक्ति (अर्थ) व्युत्पत्ति से पृथक्-पृथक् कर पदच्छेद से पता चल जाती है।

व्युत्पत्ति का अर्थ है शब्द का धातु से सम्बन्ध समझकर। इसे 'निर्वचन' भी कहते हैं।

सूत्रकार का कहना है कि जैसे लोकभाषा में शब्दों के अर्थ व्युत्पत्ति और पदच्छेद से पता चल जाते हैं, इसी प्रकार वेद-भाषा के अर्थ भी जाने जाते हैं। अर्थ करने का विधि-विधान एक है। इस पर भी इसका अभिप्राय यह नहीं कि शब्द के जो अर्थ लोक-भाषा में हैं, अवश्य ही वही अर्थ भाषा में भी होंगे। यहाँ अर्थ पता करने की विधि के विषय में ही कहा है।

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—योग्यायोग्येषु, प्रतीतिजनकत्वात्, तत्सिद्धिः।

अर्थात्—योग्य और अयोग्यों में ज्ञान-उत्पादक शक्ति से (अर्थों की) सिद्धि होती है।

योग्य का अर्थ है जो इन्द्रिय-गोचर है, अभिप्राय है लोक-भाषा के शब्द; और अयोग्यों से अभिप्राय है अतीन्द्रिय शब्द। अपौरुषेय शब्दों से ज्ञान-उत्पादक शक्ति ही अर्थ की सिद्धि होती है।

यथार्थ में यहाँ पूर्व के सूत्र में कही बात को दोहराया गया है।

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—न, नित्यत्वम्, वेदानाम्, कार्यत्वश्रुतेः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—नहीं है नित्यत्व वेदों का (उच्चारण), कार्य होना सुना जाने से।

उच्चारण शब्द हमने लिखा है। सूत्र-पाठ में नहीं है।

इस सूत्र के कहने से सूत्रकार का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि उच्चारण आदि-काल से नहीं है। अर्थ अनादि नहीं है।

नित्य ज्ञान है। यास्क का भी यही मत है। वहाँ कहा है कि शब्द भी नित्य है। इस पर भी उच्चारण जो वाक् इन्द्रिय से किया जाता है वह अनित्य है।

हम समझते हैं कि दोनों मतों में अन्तर नहीं। उच्चारण से अभिप्राय ध्वनि है। ध्वनि तो बोलने के उपरान्त नहीं रहती, शब्दार्थ बना रहता है। शब्दार्थ ही वास्तव में शब्द है। यही यास्क का मत है।

जहाँ तक सूत्रकार का सम्बन्ध है, उसका कथन तो मात्र इतना है कि वेदों का नित्यत्व नहीं है। 'वेदानां' शब्द की विवेचना हमने यास्कादि आचार्यों के मत से की है। सूत्रकार का मत यदि शब्दार्थ से लें तो अशुद्ध है।

इससे संशय उत्पन्न होता है कि वास्तव में सूत्रकार कहीं सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं कह रहा?

हमारा मत है कि सूत्रकार प्रक्षेपक के मस्तिष्क में विभ्रम अवश्य है। इसी कारण वह सांख्य के विषय को छोड़कर असम्बद्ध विषय पर चर्चा करने लगा है और फिर उसमें भी वह यह नहीं समझ रहा कि वह सिद्ध क्या करना चाहता है।

ऊपर सूत्र ५-२६ में कहा है कि प्रकृति अथवा अन्तःकरण के गुणादि की किंचित् मात्र भी बाधा नहीं, अर्थात् रुकावट नहीं कहकर सूत्रकार जीवात्मा के सुखादि के अनुभव पर विचार व्यक्त करने लगा है। इसमें अवयव के सम्बन्ध की बात आ गई। पंच अवयव क्या हैं? यह सूत्रकार कह तो गया, परन्तु इसका सम्बन्ध सुख की अनुभूति और अन्तःकरण के गुणों से नहीं था। इसी कारण विचार-शृंखला चली नहीं और टूटी-सी दिखाई दी है।

अवयव अनुमान-प्रमाण से सम्बन्ध रखनेवाले हैं और ज्ञानेन्द्रियों से नहीं। यह सूत्रकार अगले सूत्र में व्याप्ति का विषय लेकर प्रकट कर देता है। तदनन्तर सूत्र ५-२७ से ५-३३ तक व्याप्ति के लक्षणों पर चर्चा करते हुए शब्द की सामर्थ्य पर चर्चा आरम्भ कर दी है। भाष्यकारों ने शब्द और शब्द की शक्ति को भी व्याप्ति के साथ जोड़ने का यत्न किया है। सूत्रकार ने सामान्य भाषा के शब्द और वेद शब्द में तुलना आरम्भ कर दी है। इस तुलना को करते हुए कह दिया कि वेदों का नित्य होना नहीं। यह वाक्य अधूरा तथा मिथ्या अर्थ की ओर संकेत करनेवाला है। भाष्यकारों ने इस अयुक्त कथन को अपने पास से शब्द जोड़कर इसका अर्थ ठीक करने का यत्न किया है। परन्तु किसी ने यह नहीं बताया कि जो कुछ सूत्र में होना चाहिए था, वह क्या है?

सूत्र में वेदानाम् के स्थान पर यास्क के कथन के अनुसार वेद शब्द उच्चारण की बात होनी चाहिए थी, अथवा 'वेद ध्वनि' की बात होती तो भ्रम न होता।

वेद शब्द-ध्वनि अनित्य है, परन्तु वेद शब्द (ज्ञान) नित्य है।

सूत्र (५-४१) में कहा तो था कि सामान्य भाषा के अर्थ जानने में जो तीन उपाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताए हैं, वे वेदों में प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि वेद अपौरुषेय तथा अतीन्द्रिय हैं। फिर वेदों को अनित्य क्यों कहा? इसे स्पष्ट करना आवश्यक था कि वेद शब्द और ज्ञान की बात नहीं हो रही, वरन् उच्चारण अर्थात् ध्वनि की बात हो रही है।

सूत्रकार या तो विषय से अनभिज्ञ है अथवा अनाड़ी है अथवा अनाड़ी होने के कारण सिद्धान्त-विहीन बात कह गया है।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—न, पौरुषेयत्वम्, तत्कर्तुः, पुरुषस्य, अभावात्।

अर्थात्—नहीं है (वेदों का) पौरुषेयत्व (किसी पुरुष का) बनाया हुआ होना।

तत् (वेदों की) रचना करनेवाले पुरुष का अभाव होने के कारण उसके करने की बात कही है। वैसे वेद-शब्दों की ध्वनि (उच्चारण) से यहाँ अभिप्राय है। परन्तु सूत्रकार ने यह स्पष्ट नहीं किया और तत् से पूर्वोक्त सूत्र में वेदानाम् का ही संकेत मिलता है।

हम समझते हैं कि वेदों का अपौरुषेयत्व कहने से तो ज्ञान और शब्द-ध्वनि दोनों ही बातें आ जाती हैं। वेद-ज्ञान भी अनादि है। अनादि होने से यह रचा नहीं गया। अनादि वस्तु कभी रची नहीं जाती, इस कारण इसके रचनेवाला कोई नहीं। परमात्मा भी नहीं।

परन्तु सूत्र ५-४५ में तो कह दिया है कि वेद नित्य नहीं। जो नित्य नहीं, वह रचा गया होगा। जो रचा गया है, उसके रचनेवाला भी होगा।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि या तो सूत्र ५-४५ में 'वेदानाम्' का अर्थ वेद-ज्ञान समझें तो अनित्य होने से इसको इसका पौरुषेयत्व ही मानना होगा। यह नहीं है; क्योंकि वह अनादि है। और यदि 'वेदानाम्' का अर्थ वेद-ध्वनि करें तो सूत्र ५-४६ में 'तत्-कर्तुः' में उसका कर्त्ता न होना कैसे कहा जा सकता है? जो नित्य नहीं उसकी रचना हुई है और रचना करनेवाला पुरुष मानना होगा। अतः हमारा यह मत सिद्ध होता है कि सूत्रकार के मस्तिष्क में सिद्धान्त स्पष्ट नहीं। वह सुनी-सुनायी बातें करता चला जा रहा प्रतीत होता है।

सिद्धान्त यह है कि वेद-ज्ञान, परमात्मा का गुण नित्य होने से नित्य है। परन्तु वेद शब्द तो उत्पन्न होता है। वह रचना का विषय है और वह पौरुषेय है। वेद-वाणी वेद-ज्ञान की अभिव्यक्ति-मात्र है।

इसी अभिव्यक्ति के विषय में वेद में कहा है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँ॑सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

(यजु० ३१-७)

अर्थात्—उस यज्ञस्वरूप परमात्मा से सबके लिए ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए।

यहाँ वेद का शब्द (ध्वनि) से ही अभिप्राय है। यह अनित्य है। यह परमात्मा से ही किस प्रकार उत्पन्न हुआ तथा कैसे अभिव्यक्त किया? ऋग्वेद में इस प्रकार कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ १० ॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ११ ॥

(ऋ० ८-१००-१०,११)

अर्थ है—

जो वाणी कहती है निगूढ़ तत्त्वों को (वह है) तेजस्विनी देवताओं की (वाणी)। उन (देवताओं) में स्थित (वह) चारों ओर शक्ति (की भाँति) फैलती है। कहाँ-कहाँ विद्यमान है, वह कौन (उसका) परम स्थान है ?

दिव्य वाणी को उत्पन्न किया (प्रकट किया) देवताओं से। (उसको) विश्व के लोग कहते हैं। वह कल्याणी शक्ति (वाणी) के समान, गाय से दोहने के समान हमें प्राप्त हो।

इन वेद-मन्त्रों का भावार्थ यह है कि वेद-वाणी परमात्मा ने हमें देवताओं द्वारा दी और हम गाय को दोहकर दूध प्राप्त करने के समान इसे प्राप्त करें। सांख्य ४-४५, ४६ में यही भाव प्रकट करना चाहिए था, परन्तु सूत्र भ्रमोत्पादक हो गए हैं।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—न, मुक्तामुक्तयोः, अयोग्यत्वात्।

अर्थात्—मुक्त तथा अमुक्त दोनों का नहीं है अयोग्य होने के कारण।

यहाँ फिर सूत्रकार ने मान्य सिद्धान्त के विषय में भ्रमोत्पादक बात कह दी है—मुक्त अथवा अमुक्त अयोग्य होने के कारण (दोनों का नहीं है)। क्या नहीं है ? वेद अथवा वेदवाणी ?

हम समझते हैं कि परमात्मा का ज्ञान तो परमात्मा ही दे सकता है अथवा अभिव्यक्त कर सकता है। फिर भी मानवी भाषा में मुक्त जीव ही इसको देते हैं। वे इस ज्ञान को देवताओं से प्रसारित होता सुनते हैं और फिर मानवी भाषा में कहते हैं।

हाँ, यदि वेद-ज्ञान की बात कही जाए तो फिर वह तो नित्य है, अनित्य नहीं है; और सूत्रकार तो अनित्य की बात कर रहा है।

अभिप्राय यह है कि इस विषय में भी बात अयुक्त ही की है। अनित्य वेदवाणी तो मुक्त जीव दे सकते हैं।

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत् ॥ ४८ ॥

पदच्छेद—न, अपौरुषेयत्वात्, नित्यत्वम्, अंकुरादिवत्।

अर्थात्—नहीं है अपौरुषेय होने से नित्यत्व होना अंकुरादि की भाँति।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि अपौरुषेय होने से वेद का नित्यत्व (अनादि होना) नहीं है अंकुरादि की भाँति।

अंकुर आदि से अभिप्राय है बीज, अंकुर, पेड़ इत्यादि। ये नित्य नहीं। इसी प्रकार वेद नित्य नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ भी वेद शब्द की ध्वनि से अभिप्राय है, परन्तु स्पष्ट नहीं।

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥ ४९ ॥

पदच्छेद—तेषाम्, अपि, तत्-योगे, दृष्ट-बाधादि, प्रसक्तिः ।

अर्थात्—उन (अंकुरादि) की भी उनके साथ सम्बन्ध होने से दृष्ट की बाधा का प्रसंग उपस्थित होगा।

अभिप्राय यह है कि अंकुरादि भी तो स्वतः उत्पन्न होते देखे जाते हैं। यदि इनको किसी पुरुष द्वारा उत्पन्न माना जाए तो देखा जाना उस मान्यता में बाधक है।

यदि यह बात ऐसे ही स्वीकार कर ली जाए, जैसी सूत्रकार ने कही है तो फिर यह समझ में आएगा कि वेद का शब्द-समूह अर्थात् मानवी भाषा में कहा जाना भी किसी का किया हुआ नहीं। वह अपौरुषेय है। तब वह भी अनित्य नहीं रहा और अर्थात् उसको भी नित्य मानना होगा।

परन्तु सूत्रकार ने सूत्र ५-४५ में कहा है—

न नित्यत्वं वेदानाम्, कार्यत्वश्रुतेः ॥

अंकुरादि तो वेद-वाक्यों से ही तुलना रखते हैं। हम समझते हैं कि सूत्रकार कहीं भूल कर रहा है। वह भूल यह है कि कहीं तो वह वेदज्ञान को लक्ष्य रखकर कहता है और कहीं वेदवाणी को। दोनों में अन्तर है और यह उनमें अन्तर समझ नहीं सका।

वैदिक परम्परा यह है कि वेदज्ञान परमात्मा का ज्ञान होने से, परमात्मा की भाँति अनादि है। वह पौरुषेय भी नहीं। पौरुषेय तो उत्पन्न किया जाता है। यदि यह है तो उसकी तुलना अंकुरादि के साथ हो सकती है क्या? अंकुर स्वरूपवान् वस्तु है। स्वरूपवान् वस्तु उत्पन्न होती है। उत्पन्न होनेवाली वस्तु का उत्पन्न करनेवाला कोई अवश्य है।

यह माना जाता है कि परमात्मा का नित्यज्ञान वाणी के रूप में परमात्मा (देवताओं द्वारा) प्रसारित करता है छन्दों के रूप में; और उससे ऋषिगण ज्ञानवान होकर मनुष्यों का कल्याण करते हैं।

दो वेदमन्त्र (ऋ० ८-१००-१०, ११) हम लिख आए हैं। और मन्त्र भी हैं—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥ ४॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ॥ ५॥
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥ ६॥

(ऋ० १०-१३०-४, ५, ६)

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

अग्नि की सहायता से गायत्री (छन्द) (प्रकट) हुआ। उष्णिहया (उष्ण हया) सविता देव की सहायता से प्रकट हुआ। अनुष्टुप् छन्द और स्तुति-मन्त्रों से सोम महान् हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहस्पति से बृहती छन्द प्राप्त हुआ।

मित्र-वरुण (दो देवताओं से) विराट् (कहा गया) आश्रित हुआ। दिन के समय इन्द्र का त्रिष्टुप् छन्द हुआ। सब देवताओं द्वारा जगती छन्द आया। इन छन्दों से ऋषि और मनुष्य ज्ञानवान् हुए।

अर्थात्—उन छन्दों से ज्ञानवान् होकर ऋषि और मनुष्य यज्ञ के उत्पन्न होने पर (सृष्टि होने पर) अपने प्राचीन पितर (ज्ञानवान्) हुए। उसको (ज्ञानवान् हुए) मन के चक्षुओं से देखने से पूर्व-कल्प की भाँति मान्यता हुई।

जो भाव हमने ऊपर वर्णन किया है, वह इन वेदमन्त्रों से ही प्रमाणित है और वह युक्ति से भी सिद्ध है। अतः सूत्रकार दोनों के विरुद्ध कह रहा है। वेदज्ञान नित्य है, अपौरुषेय है और अतीन्द्रिय है। परन्तु जो अभिव्यक्त शब्दसमूह हमारे पास उपलब्ध है, वह अनित्य है। उसकी अभिव्यक्ति अग्नि-सूर्यादि देवताओं की सहायता से होती है और वह पौरुषेय है। परमात्मा ही उनकी अभिव्यक्ति देवताओं के द्वारा करता है।

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥ ५० ॥

पदच्छेद—यस्मिन्, अदृष्टे, अपि, कृतबुद्धिः, उपजायते, तत्, पौरुषेयम्।

अर्थात्—जिसके न देखे जाने पर भी कृतबुद्धि होती है, वह पौरुषेय है। (वस्तु के कर्त्ता का) दिखाई न देने पर भी उसके विषय में बुद्धि कहे कि वह बनी है (तब) वह वस्तु पौरुषेय है। पौरुषेय से अभिप्राय है पुरुष से बनायी गयी। पुरुष जीवात्मा भी हो सकता है और परमात्मा भी हो सकता है।

यह पौरुषेय पदार्थ के लक्षण किए हैं। अभिप्राय यह है—जो बुद्धि से अर्थात् अनुमान अथवा प्रत्यक्ष से सिद्ध हो कि वह बना हुआ है। बने हुए का बनानेवाला होता है।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—निजशक्त्यभिव्यक्तेः, स्वतः प्रामाण्यम्।

अर्थात्—अपनी शक्ति से अभिव्यक्त होता है, (इसलिए) उसकी स्वतः प्रामाण्यता है।

इसका अभिप्राय यह है कि वेदार्थ वेद-शब्दों की अपनी शक्ति से प्रकट होते हैं। इस कारण ये अपने-आप ही प्रमाण हैं। वेद की प्रामाणिकता अपने-आप सिद्ध है।

यह वेद के स्वतःप्रमाण होने में युक्ति नहीं है। प्रमाण किसी विषय में साक्षी होता है और स्वतःप्रमाण का अभिप्राय यह है कि इस प्रमाण को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं।

किसी वाक्य के अथवा शब्द के कहने मात्र से उसके अर्थ स्पष्ट हों तो वह अकाट्य प्रमाण होगा—ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इन दोनों बातों में कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ स्पष्ट भी हो सकता है। फिर भी कहनेवाला प्रमाण नहीं दे सकता।

साथ ही, ऊपर के सूत्रों में वेद के स्वतःप्रमाण होने की बात नहीं कही जा रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें वेद के पौरुषेय अथरा अपौरुषेय होने की चर्चा है। इसके प्रमाण होने की बात नहीं हो रही।

बात वेद के अनित्य होने से आरम्भ हुई। इस वाक्य को सूत्रकार टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियों से सिद्ध करने का यत्न करता रहा है। सब-कुछ कहने पर भी वह उक्त कथन को सिद्ध अथवा असिद्ध नहीं कर सका।

यास्क ने अपने निरुक्त में इस विषय का सहज ही वर्णन किया है। उसने पहले तो पूर्व-पक्ष दिया है। पूर्व-पक्ष है—

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। *(निरुक्त १-१-१)*

अर्थात्—इन्द्रिय में वचन की नित्यता है और औदुम्बरायण का यह मत है।

इन्द्रिय में शब्द (जब तक है) वह नित्य है, अर्थात् जब तक शब्द बोला जाता है तब तक वह है। तदुपरान्त वह नहीं रहता। इन्द्रिय ने वचन समाप्त किया तो वह नहीं रहता है।

औदुम्बरायण के मतानुसार वेद-शब्दों का उच्चारण अनित्य है।

इस विषय में यास्क अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।
तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

(निरुक्त १-१-२)

अर्थात्—व्याप्तिमान होने से और छोटा होने से शब्द से ज्ञान होता है। ऐसा लोक में व्यवहार के लिए है। उन (शब्दों) से मनुष्य की भाँति देवता भी परमात्मा की विद्या के ज्ञान को (प्रकट करते हैं)। कर्म ही वेद-मन्त्रों का अर्थ है।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ (ज्ञान) का व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। व्याप्ति-सम्बन्ध होता है प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का सम्बन्ध। शब्द प्रत्यक्ष है और भाव (ज्ञान) है अप्रत्यक्ष। दोनों का सम्बन्ध होता है।

यद्यपि शब्द की ध्वनि समाप्त हो जाती है, परन्तु शब्द का भाव मन पर बना रहता है। भाव (ज्ञान) नित्य है। शब्द की ध्वनि अनित्य है।

बात सरल है। ज्ञान नित्य है। परन्तु मन्त्रों के शब्दसमूह तो ऋषि अथवा मनुष्यकृत हैं। अतः अनित्य हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों को लिखनेवाला ध्वनि और ज्ञान में अन्तर नहीं समझ सका। ध्वनि अनित्य है। परन्तु ध्वनिसमूह से जो भाव व्यक्त होता है, वह नित्य है।

नासतः ख्यानम् नृशृङ्गवत् ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—न, असतः, ख्यानम्, नृशृङ्गवत्।

अर्थात्—नहीं है असत् पदार्थों का वर्णन मनुष्य के सींग के समान।

यदि कोई मनुष्य कहे कि मनुष्य के सींग लम्बे, गोल, टेढ़े इत्यादि हैं तो यह ठीक है। मनुष्य के सींगों का वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि ये होते ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य भाष्यकारों ने ख्यानम् का अर्थ 'ज्ञान' किया है। वे सूत्र का अर्थ करते हैं कि असत् वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता मनुष्यों के सींगों की भाँति।

कोषकार ने 'ख्यानम्' का अर्थ ज्ञान कहा है। साथ ही कहा है कि सांख्य-सूत्र ५-५२ में ऐसा अर्थ (भाष्यकारों ने) किया है। भाष्यकार प्रमाण नहीं। हमारा विचार है कि 'ख्यानम्' शब्द 'ख्या' धातु से बना है। ख्या का अर्थ है—ख्या = प्रकथने।

इस प्रकार 'ख्यानम्' का अर्थ बनता है वर्णन किया गया, इत्यादि। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि असत् पदार्थ का वर्णन नहीं हो सकता।

न सतो बाधदर्शनात् ॥ ५३ ॥

पदच्छेद—न, सतः, बाधदर्शनात्।

अर्थात्—नहीं है सत् का (ख्यानम्) बाधा के देखे जाने से।

बाधा का अर्थ है रुकावट। रुकावट देखे जाने से सत् का वर्णन नहीं हो सकता। रुकावट है वस्तु के ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने की। ज्ञानेन्द्रियों से जब सम्पर्क होता है तो ज्ञान होता है और फिर उसका वर्णन हो सकता है। सत् का अर्थ है विद्यमान वस्तु।

सम्भवतः सूत्रकार सत् से 'सदा विद्यमान' लेता है और वह सदा विद्यमान अनादि मूल तत्त्व हैं—मूल प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। वह कहता है कि इन मूल तत्त्वों के ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने में बाधा (रुकावट) दिखाई देती है। अतः वे वर्णन का विषय नहीं हैं।

सूत्रकार आगे कहता है:—

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥ ५४ ॥

पदच्छेद—न, अनिर्वचनीयस्य, तत्-अभावात्।

अर्थात्—नहीं है (ख्यानम्) अनिर्वचनीय का उसके अभाव से।

किसके अभाव से? अनिर्वचनीय के अभाव से। अनिर्वचनीय का अर्थ है जिसका वचन अर्थात् वर्णन न हो सके।

नहीं वर्णन हो सकता अवर्णनीय का। अवर्णनीय है परमात्मा। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार 'ख्यानम्' का विशेषण सबके साथ लगाता चला जाता है।

प्रायः सत्-असत् शब्द प्रकृति के दो रूपों के विषय में आते हैं। सत् सदा विद्यमान को कहा है और असत् सदा विद्यमान न रहनेवाले रूप को कहते हैं। मूल प्रकृति और कार्य-जगत् के लिए ये शब्द प्रयोग किये जाते हैं। अतः अनिर्वचनीय शब्द परमात्मा के लिए प्रयोग किया गया है। यदि इन अर्थों में ये शब्द लिये जाते हैं तो अर्थ यह निकलेगा कि संसार में कुछ भी नहीं है जिसका वर्णन किया जा सके।

सूत्रकार आगे कहता है—

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥ ५५ ॥

पदच्छेद—न, अन्यथा, ख्यातिः, स्ववचो-व्याघातात्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—विपरीत कथन नहीं होता अपने वचन का खण्डन करने से।

अभिप्राय यह है कि अन्य प्रकार से विपरीत वर्णन नहीं हो सकता। करेंगे तो अपने ही कहे का खण्डन हो जाएगा।

अन्यथा कथन का अभिप्राय है दूसरे प्रकार से।

सत् (मूल पदार्थों) का वर्णन नहीं हो सकता। असत् (कार्य-जगत्) का वर्णन नहीं हो सकता। अनिर्वचनीय (परमात्मा) का वर्णन नहीं हो सकता। यदि विपरीत में इन बातों का वर्णन करेंगे तो अपने ही कहने का खण्डन हो जाएगा। अभिप्राय यह कि संसार में किसी भी वस्तु का वर्णन नहीं हो सकता।

सर्वथा अनर्गल वक्तव्यवाले सूत्रों का अर्थ लगाने के लिए भाष्यकारों ने बहुत ऊँच-नीच की है, परन्तु वे सफल नहीं हो सके।

श्री उदयवीर शास्त्री सूत्र ५-५२, ५३, ५४, ५५ के भाष्य में साँप और रज्जु का उदाहरण देते हैं। वह सूत्र ५-५२ के भाष्य में कहते हैं—

'एक विचार यह हो सकता है कि भ्रान्ति-स्थल में असत् की प्रतीति होती है। जहाँ हमें रज्जु में सर्प का ज्ञान हो गया है, वहाँ सर्प का अस्तित्व नहीं है। इसलिए यह ज्ञान असत् का माना जाना चाहिए। सूत्रकार इसका प्रतिषेध करता है। असत् का ख्यान-ज्ञान अथवा प्रतीति सम्भव नहीं है। जो वस्तु सर्वथा असत् है, यदि उसकी प्रतीति हो सके तो मनुष्य के सिर पर सींग प्रतीत होने चाहिएँ।'

असत् का अर्थ शास्त्रीजी मिथ्या कर रहे हैं। सांख्य ऐसा नहीं मानता। वेद में भी असत् का अर्थ मिथ्या नहीं लिया जाता। असत् का अभिप्राय है जो सदा वैसा विद्यमान नहीं रहता जैसा अब है। इसी कारण कार्य-जगत् को असत् कहते हैं। यह मिथ्या प्रतीति नहीं।

इस विचार को लेकर शास्त्रीजी अगले सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'यदि विद्यमान सर्प का वह ज्ञान है तो कालान्तर में प्रकाश होने पर उसका बाध न होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रकाश में हम देखते हैं कि वह रस्सी है, साँप नहीं है। पहले ज्ञात (सर्प) की बाधा हो जाती है। इसलिए वहाँ सद्रूप सर्प का ज्ञान होता है, ऐसा कहना संगत नहीं।'

आप सूत्र ५-५४ के भाष्य में कहते हैं—

'भ्रान्तिस्थलों में सत् और असत् से विलक्षण किसी अनिर्वचनीय वस्तु का भान होता है, ऐसा मानना भी संगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार के वस्तुतत्त्व की सम्भावना नहीं की जा सकती।'

अर्थात्—रज्जु को साँप ही समझा जा सकता है। इसे छड़ी नहीं समझा जा सकता। छड़ी क्यों नहीं समझा जा सकता, यह स्पष्ट नहीं किया।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि इन सूत्रों को कपिल मुनि ने नहीं रचा। न ही ये किसी उत्कृष्ट विद्वान् द्वारा कहे गए हैं। जो लोग सांख्य को 'षडध्यायी' मानते हैं, वे अयुक्त ढंग से इस अध्याय को मूल पुस्तकों का भाग बनाने का यत्न कर रहे हैं। ऐसा है नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्सत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥ ५६ ॥

पदच्छेद—सत्, असत्, ख्यातिः, बाधाबाधात् ।

अर्थात्—सत्-असत् का वर्णन (ज्ञान) बाधा (रुकावट) अबाधात् (न रुकावट) के होने से है ।

सत्-असत् का वर्णन अथवा ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियों से सम्पर्क में रुकावट अथवा न रुकावट के कारण होता है ।

हमारा यह कहना है कि सत् का अर्थ सत्य प्रतीति नहीं । न ही असत् का अर्थ मिथ्या प्रतीति है । साथ ही प्रतीति जैसी होगी, वैसा ही उसका वर्णन होगा । परन्तु असत् का अर्थ है अविद्यमान । जो विद्यमान नहीं, वह न साँप है और न ही रज्जु । अतः साँप, रज्जु का उदाहरण सत्-असत् नहीं होता ।

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७ ॥

पदच्छेद—प्रतीति-अप्रतीतिभ्याम्, न, स्फोटात्मकः, शब्दः ।

अर्थात्—प्रतीति अथवा अप्रतीति होने से भी शब्द स्फोटात्मक नहीं है ।

स्फोटात्मक का अभिप्राय है विस्फोट की भाँति । जैसे विस्फोट का शब्द होता है वैसे ही शब्द बोलने से अर्थ स्पष्ट होने को स्फोटात्मक कहते हैं । सूत्रकार कहता है कि शब्द कहते ही उसके अर्थ प्रकट हो जाएँ, ऐसा नहीं है—प्रतीति से भी और अप्रतीति से भी ।

प्रतीति और अप्रतीति से सूत्रकार का अभिप्राय जानने पर अथवा न जानने पर ऐसा कहा जा सकता है ।

प्रतीति का अर्थ है अनुभव होना । इसका अर्थ ज्ञान होना भी हो सकता है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि शब्द बोलते ही अर्थ स्पष्ट नहीं होता । यदि ऐसा होता तो आदि-काल में वेदार्थ समझानेवाले ऋषियों की आवश्यकता न होती । परन्तु 'प्रतीति-अप्रतीति' अर्थ हीन है ।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥

पदच्छेद—न, शब्द-नित्यत्वम्, कार्यता, प्रतीतेः ।

अर्थात्—शब्द की नित्यता नहीं, कार्य ही प्रतीति (के कारण) ।

शब्द अपने कार्य से प्रतीत होता है । इस कारण यह नित्य नहीं । जो प्रकट होता है, वह विलुप्त भी होता है ।

सूत्रकार का यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है ।

एक तो वह पहले सूत्र (५-४५) में कह चुका है कि वेद नित्य नहीं । यदि वहाँ वेद का अभिप्राय शब्द-मात्र लें तो इस सूत्र में पुनरुक्ति हो जाएगी । और वहाँ यदि वेद से ज्ञान लें तो सूत्र अवैदिक तथा सांख्य-विरोधी हो जाएगा । और यदि प्रतीति का अर्थ प्रकट होना लें तो प्रकट होना और विलुप्त होना रचना और विनष्ट होने के समान होगा । रचना अभिव्यक्ति होती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥ ५९ ॥

पदच्छेद—पूर्वसिद्ध-सत्त्वस्य, अभिव्यक्तिः, दीपेन, इव, घटस्य ।

अर्थात्—पहले सिद्ध हो चुकी वस्तु की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) ही होती है, जैसे दीपक से घड़े की अभिव्यक्ति होती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का अर्थ पहले विदित हो, तब ही शब्द बोलने पर उस शब्द का अर्थ प्रकट होता है । जैसे धड़ा तो पहले भी है, परन्तु दीपक लाने से वह प्रकट होता है ।

यहाँ यह प्रकट किया जा रहा है कि शब्द से अर्थ स्वतः प्रकट नहीं होते । यह ठीक है कि शब्द का अर्थ पहले किसी के द्वारा निश्चय किया होता है । तदनन्तर बोलने से वह अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम् ॥ ६० ॥

पदच्छेद—सत्कार्य-सिद्धान्तः, चेत्, सिद्धसाधनम् ।

अर्थात्—विद्यमान वस्तु के कार्यरूप में आने से ही उसकी सिद्धि है—यदि यह कहा जाए तो यह (कार्य) ही सिद्ध करने का साधन है ।

यह सब-कुछ असंगत, सिद्धान्त-विरुद्ध और अयुक्त है ।

वेद अनादि (नित्य) है । शब्द ऊर्जा की तरंगों के रूप में परमात्मा की इच्छा से सूर्य, अग्नि इत्यादि देवताओं से प्रकट हुए, परन्तु इनका शब्दसमूह-रूप ऋषियों द्वारा हुआ । किसी अन्य द्वारा क्यों नहीं हुआ ? यह इस कारण कि वे शब्दार्थ पूर्व-कल्प के अनुसार जानते थे । वही उन्होंने प्रकट कर दिए ।

इस दृष्टि से वेद-ज्ञान भी नित्य है और शब्द भी नित्य है, शब्दार्थ भी नित्य है ।

श्री उदयवीर शास्त्री इन सूत्रों (५-५७, ५८, ५९, ६०) को प्रक्षिप्त मानते हैं । हम तो पूर्ण अध्याय को ही प्रक्षिप्त मानते हैं । इस अध्याय के कुछ सूत्र सिद्धान्तानुकूल भी हैं, परन्तु वे इस स्थान पर असंगत हैं अथवा पहले कही गई बात की पुनरुक्ति हैं ।

उदयवीर जी इस अध्याय के कुछ अन्य सूत्रों को भी प्रक्षिप्त कहते हैं । उनके विषय में हम अपना मत उचित स्थान पर लिखेंगे ।

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—न, अद्वैतम्, आत्मनः, लिङ्गात्, तद्-भेद-प्रतीतेः ।

अर्थात्—नहीं है अद्वैत (एक) आत्म-तत्त्व लिङ्गों (लक्षणों) से उसकी प्रतीति होने से । लक्षणों से दो तत्त्व प्रतीत होते हैं । इस कारण यह कहना कि वह अद्वैत है, अयुक्त है ।

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—न, अनात्मना, अपि, प्रत्यक्ष-बाधात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—नहीं है अनात्मपन (जड़त्व) प्रत्यक्ष की बाधा (रुकावट) होने से।

प्रत्यक्ष यह है कि जड़ पदार्थों में सुख-दुःख की अनुभूति, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और चेतना, ये लक्षण देखने में नहीं आते।

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

पदच्छेद—न, उभाभ्याम्, तेन, एव।

अर्थात्—नहीं है दोनों मिलकर भी (अद्वैत) उसी कारण से जो ऊपर बताया है।

ऊपर के सूत्र में मन और आत्मा की बात हो रही है। यहाँ भी उनकी ही कही जा सकती है।

आत्मा भी दो हैं। इनके लक्षणों में भेद श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है।

ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ॥ *श्वेता० १-९*

अर्थात्—दो आत्म-तत्त्व हैं—एक ज्ञानवान् और शक्तिमान् है, दूसरा अज्ञ और शक्तिहीन है। तीसरा तत्त्व है जड़ जो दूसरे के भोग के लिए है।

इन लक्षणों से आत्म-तत्त्व दो हैं। अतः सूत्र के यह अर्थ भी हो सकते हैं कि दोनों आत्म-तत्त्व मिलकर (मोक्षावस्था में) भी दो ही होते हैं; एक नहीं होता। यह मोक्षावस्था में आत्मा और परमात्मा की बात कही है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवात्मा मोक्ष प्राप्त कर परमात्मा में लीन हो जाता है तब भी वह परमात्मा नहीं हो जाता। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में बताया है कि जीवात्मा परमात्मा में ऐसे विलीन हो जाता है जैसे नमक जल में लीन हो जाता है। उस समय भी नमक तो नमक ही रहता है। वह जल नहीं हो जाता और जल से पृथक् किया जा सकता है।

प्रलय-काल में भी जीवात्मा और परमात्मा एक स्थान पर हो जाते हैं, परन्तु तब भी वे एक नहीं हो जाते। यही इसका अभिप्राय है।

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—अन्य, परत्वम्, अविवेकानाम्, तत्र।

अर्थात्—उन स्थानों पर (जहाँ आत्मा) दूसरे के लिए आया है, (जीवात्मा के लिए समझना) मूर्खता की बात है।

तत्र से अभिप्राय है उन स्थलों पर जहाँ (आत्मा शब्द) दूसरे के परक आया है वहाँ उससे जीवात्मा का अभिप्राय समझना विवेकहीनों का-सा कार्य है।

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—न, आत्माविद्या, न, उभयम्, जगद्-उपादानकारणम्, निःसंगत्वात्।

अर्थात्—न आत्मा, न विद्या, न दोनों (मिलकर भी) जगत् में उपादान कारण हैं, संगरहित होने से।

इसका अर्थ यह भी बन सकता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न आत्मा, न अविद्या, न दोनों मिलकर भी जगत् का उपादान कारण हैं संगरहित होने से। अभिप्राय यह कि सूत्र की भाषा ऐसी है कि विद्या-अविद्या दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं।

भाष्यकारों को यह त्रुटि अनुभव हुई है और कुछ-एक ने सूत्र का पाठ इस प्रकार कर दिया है—

नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ॥

इन भाष्यकारों ने आत्मा और विद्या के मध्य में लुप्ताकार डाल दिया है।

अब सूत्रार्थ बनेंगे—न आत्मा, न अविद्या, न दोनों (मिलकर) जगत् का उपादान कारण हैं निःसंग होने से।

सूत्र में और भी त्रुटियाँ हैं। आत्मा का अर्थ जीवात्मा है अथवा परमात्मा, स्पष्ट नहीं। यह तो सहन किया भी जा सकता है, परन्तु है यह त्रुटि ही। कारण जीवात्मा तो जगत् अर्थात् अविद्या के संग में रहता है।

यदि सूत्र का दूसरा पाठ शुद्ध समझें तो अर्थ बनेंगे कि अविद्या उपादान-कारण नहीं। किसका? इस जगत् का। अब प्रश्न है जगत् और अविद्या में क्या अन्तर है? अविद्या नाशवान् पदार्थों के ज्ञान को कहते हैं और कार्य-जगत् भी तो नाशवान् है। तो फिर 'कार्य-जगत्' कार्य-जगत् का उपादान कारण नहीं—यह अर्थ बन जाएगा, जो सर्वथा बेहूदा है।

एक बात और है। उपादान कारण का अर्थ सदा प्रकृति नहीं होता। कार्य-जगत् में वस्तुएँ क्रमवार बनती हैं। एक से क्रम में ऊपरवाली वस्तु उसका उपादान कारण मानी जाती है जो उससे बनती है। उदाहरण के रूप में हाइड्रोजन से जल बनता है। इस कारण हाइड्रोजन जल का उपादान कारण है। इसी प्रकार 'महद्' अहंकार का उपादान कारण है और 'अहंकार' पंच महाभूतों का उपादान कारण है। सूत्रकार को जब जगत्-रचना का वर्णन करना था तो उसे उपादान कारण के साथ मूल विशेषण लगाना चाहिए था। उपादान का अर्थ 'समीपस्थ' कारण भी बताया गया है।

यह स्पष्ट है कि सूत्रकार की भाषा भ्रमोत्पादक है। साथ ही सूत्रकार का इस सूत्र को देने से कुछ भी प्रयोजन प्रतीत नहीं होता।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार यह कहना चाहता है कि न तो जीवात्मा, न परमात्मा और न ही ये दोनों जगत् का उपादान कारण हैं। परन्तु ये अर्थ सूत्र में से निकलते नहीं। अन्य अर्थ अशुद्ध हैं।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥

पदच्छेद—न, एकस्य, आनन्द-चिद्रूपत्वे, द्वयोः, भेदात्।

अर्थात्—आत्मा और अविद्या में एकरूपता नहीं आनन्दमयता में और चैतन्यता में।

यदि ऊपर के सूत्र में आत्म-तत्त्व और अविद्या की बात मानें तो यह सूत्र ठीक है, अर्थात् कार्य-जगत् में और आत्म-तत्त्व में भेद है चेतना में और आनन्दमय स्थिति में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इस तुलना से क्या यह प्रकट नहीं होता कि ऊपर के सूत्र में आत्मा से अभिप्राय परमात्मा ही है? यदि ऐसा है तो परमात्मा और प्रकृति का संग न होने से, इस पद का कुछ भी अभिप्राय प्रतीत नहीं होता। परमात्मा का प्रकृति से संग होते हुए भी लिप्तता नहीं होती। और अगले सूत्र से यह प्रतीत होता है कि यहाँ तुलना आत्मा-परमात्मा की है।

ये सूत्र भ्रान्त मस्तिष्क की उपज प्रतीत होते हैं।

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥

पदच्छेद—दुःख-निवृत्तेः, गौणः।

अर्थात्—दुःखों की निवृत्ति से (आनन्दमय का कथन) गौण है।

गौण का अभिप्राय है अनावश्यक, अनिश्चित, दूसरे दर्जे पर।

यह ठीक है कि जीवात्मा दुःखी होता रहता है और इसके दुःखों का निवारण करने की बात कही जा रही है। इससे यह स्पष्ट ही है कि इसकी आनन्दमय स्थिति सदा इसके साथ नहीं होती। परन्तु चेतना एक-साथ रहती है।

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥

पदच्छेद—विमुक्ति-प्रशंसा, मन्दानाम्।

अर्थात्—मोक्ष की प्रशंसा है अज्ञानियों की अर्थात् अज्ञानियों द्वारा।

इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि अज्ञानियों में मुक्ति प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न करने के लिए इस अवस्था की प्रशंसा की गयी है।

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ॥ ६९ ॥

पदच्छेद—न, व्यापकत्वम्, मनसः, करणत्वात्, इन्द्रियत्वात्, वा, वास्यादिवत्, चक्षुः-आदिवत्।

अर्थात्—नहीं है मन का व्यापक होना, कुल्हाड़े की भाँति, करण होने से अथवा चक्षुः आदि की भाँति इन्द्रिय होने से।

इस सूत्र में भी एक भूल है। वह है मन को चक्षुः आदि की भाँति इन्द्रिय कहा है। ऐसा है नहीं। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं और अहंकारों से उत्पन्न होती हैं। मन महत् का अंश है जो अहंकारों का उपादान कारण है। यह हम भली-भाँति पहले स्पष्ट कर चुके हैं।

प्रक्षेपक भी सामान्य भाष्यकारों की भाँति ही अयुक्त कथन कर रहा है।

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥

पदच्छेद—सक्रियत्वात्, गति-श्रुतेः।

अर्थात्—क्रियावाला होने के कारण। यह व्यापक नहीं है। श्रुति में इसे गति वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा है।

गति का अभिप्राय ही यह है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। जहाँ इसने जाना होता है वहाँ यह नहीं होता। इस कारण यह व्यापक नहीं है।

इस प्रसंग में वेद का कथन इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४-१)

अर्थात्—जागते हुआ मनुष्य का जो मन दूर तक जाता है और सोये हुए मनुष्य का उसी प्रकार हो जाता है; जो जीवात्मा को दूर-दूर तक ले-जाता है और प्रकाशमान पदार्थों में सबसे अधिक प्रकाशमान है, ऐसा मेरा मन जो जीवात्मा के साथ साधनरूप है, कल्याणकारी संकल्प करनेवाला हो।

न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत्॥ ७१॥

पदच्छेद—न, निर्भागत्वम्, तत्-योगात्, घटवत्।

अर्थात्—नहीं है भागवाला होना, उस (भागों) के योग से, घड़े की भाँति।

यहाँ विचारणीय पद है निर्भागत्वम्। इसका अर्थ है भागवाला होना (अवयव वाला होना)। ऐसा अर्थ करने में कारण है। जैसे निर्वास = वास, निवास, घर; निर्भेद = कटा हुआ; निर्भिन्न = वैसा ही; निर्मुक्त = मुक्त हुआ। भाग कहते हैं अवयवों को और निर्भागत्वम् का अर्थ होगा, भाग वाला होना। और 'न निर्भागत्वम्' का अर्थ होगा, भागवाला न होना।

कुछ भाष्यकारों ने 'न निर्भागत्वम्' का अर्थ किया है बँट सकनेवाला, न होने से उलटा अर्थात् निरवयव न होना, अर्थात् अवयववाला होना। दोनों प्रयोग ही प्रचलित हैं। हमारे मत से सूत्रार्थ होंगे भागोंवाला (अवयववाला) न होने से घड़े की भाँति। अभिप्राय यह है कि मन के छोटे टुकड़े नहीं, क्योंकि यह निरवयव है। मन महत् का ही नाम है और महत् प्रकृति के परमाणु ही होते हैं। प्रकृति में परमाणु साम्यावस्था में होते हैं, इसमें सत्त्व, रजस्, तमस् अन्तर्मुखी होते हैं और एक-दूसरे को निस्तेज कर रहे होते हैं। सूत्र १-६१ में इसे साम्यावस्था कहा है।

परमाणु निरवयव हैं। महत् भी परमाणुवत् होने से निरवयव है। अतः मन भी निरवयव है। परन्तु यह घटवत् नहीं है। यही सूत्र की विडम्बना है।

अन्य भाष्यकारों ने 'न निर्भागत्वम्' का अर्थ किया है न बंटनेवाला होने से उलट, अर्थात् बँटनेवाला (अवयवोंवाला); मन अवयवोंवाला है। हम इन अर्थों को अशुद्ध मानते हैं।

सूत्रार्थ तो दोनों प्रकार से अशुद्ध बनता है। एक में यह घड़े की भाँति कहा जाना अशुद्ध है तो दूसरे में मन टुकड़ों से बना है कहना अशुद्ध कथन है तथा यह सांख्य-सिद्धान्त के भी विपरीत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

पदच्छेद—प्रकृति-पुरुषयोः, अन्यत्, सर्वम्, अनित्यम् ।

अर्थात्—प्रकृति और पुरुष से अन्य सब-कुछ अनित्य है।

प्रकृति से अभिप्राय है मूल प्रकृति और पुरुष से अभिप्राय है चेतन आत्मा तथा परमात्मा, दोनों। इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त सब अनित्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब प्रकृति का वृत्तान्त छोड़कर पुरुष-तत्त्व का वर्णन आरम्भ कर दिया है। यही सूत्र ५-७३ से भी प्रकट होता है।

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

पदच्छेद—न, भागलाभः, भोगिनः, निर्भागत्वश्रुतेः ।

अर्थात्—नहीं होता भाग (टुकड़े) भोग करनेवाले का।

भाग होनेवाले का (अथवा अन्य भाष्यकारों के अनुसार) भाग न होनेवाले का (वही) निर्भागत्वम् का विवाद है।

यदि निर्भागत्वम् का अर्थ करें भाग होनेवाला तो भोग करनेवाला जीवात्मा भाग होनेवाला हो जायेगा।

और यदि निर्भागत्वम् का अर्थ करें भाग न होनेवाला तो सूत्र निरर्थक हो जाएगा। सूत्रार्थ बनेगा भोग करनेवाले का भाग नहीं हो सकता, क्योंकि उसका भाग नहीं होता। भाग नहीं होता भाग न होनेवाले का? इससे सिद्ध क्या हुआ है? कुछ नहीं।

यदि सूत्र में प्रकृति का ही वर्णन मानें तो 'भोगिनः' शब्द अशुद्ध है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति भोग करनेवाली नहीं।

श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र को प्रकृतिपरक मानकर वेद (ऋ० १०-१२९-२) का उद्धरण दिया है। वहाँ उस मन्त्र में प्रकृति को अवयव अथवा निरवयव कुछ नहीं कहा। न ही प्रकृति को 'भोगिनः' कहा है। इस कारण शास्त्रीजी द्वारा दिया उद्धरण अशुद्ध है।

सूत्र में 'भोगिनो' पाठ विज्ञानभिक्षु जी ने दिया है। अनिरुद्ध ने पाठ 'भागिनो' दिया है।

यदि अनिरुद्ध का पाठ लें तो सूत्रार्थ बनता है—

भाग नहीं होते भाग न होनेवाले के, क्योंकि वेद में 'निर्भागत्वम्' कहा है। अब प्रश्न उपस्थित होगा कि यह किसके लिए कहा है? भाग न होनेवाले का भाग नहीं होता। 'भाग न होनेवाला' वेद में ऐसा कहा है। ऊपर के सूत्रवाली बात है। कथन निरर्थक है। कुछ भी सिद्ध नहीं होता। वेद-प्रमाण किसका ढूँढा जाए? मन का, प्रकृति का अथवा पुरुष का?

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥

पदच्छेद—न, आनन्दाभिव्यक्तिः, मुक्तिः, निर्धर्मत्वात् ।

अर्थात्—आनन्द की अभिव्यक्ति मुक्ति नहीं (क्योंकि) आत्मा का यह धर्म न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से।

यह सूत्र सर्वथा अर्थहीन है। हमारा प्रश्न है कि क्या जीवात्मा का धर्म मोक्ष-प्राप्ति है? जो कुछ जीवात्मा में मोक्ष-प्राप्ति के लिए है वही आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए है।

वस्तु का धर्म उसका गुण ही होता है। सामान्य गुणों से धर्म में कुछ विशेषता होती है। इस पर भी यह गुण की भाँति वस्तु में सदा उपस्थित रहता है। जब यह वस्तु कार्य करती है तो यह धर्म कहलाता है।

जीवात्मा का धर्म है कर्म करना। यह एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता। उस कर्म की दिशा मोक्ष-प्राप्ति भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती।

अतः जीवात्मा का धर्म है कर्म करना। परन्तु यह मोक्ष के लिए अर्थात् आनन्द के लिए भी हो सकता है और आनन्द के लिए नहीं भी हो सकता।

अतः आनन्द प्राप्त करना जीवात्मा का धर्म कहना अर्थहीन है। जीवात्मा का धर्म है कर्म करना। इस कर्म से आनन्द की प्राप्ति भी हो सकती है। इस कारण हमने कहा है कि जीवात्मा का धर्म, मोक्ष-प्राप्ति ऐसे ही अर्थहीन है जैसे यह कहना कि मनुष्य का धर्म मोदक खाना है अथवा मोदक न खाना है।

साथ ही सूत्र की रचना ऐसी है कि इसका स्थिर अर्थ नहीं निकलता, 'निर्धर्मत्वात्' (धर्म न होने से)। प्रश्न है कि किसका धर्म न होने से? जीवात्मा का अथवा मुक्ति में आनन्द की अभिव्यक्ति का? दोनों अर्थों में आकाश-पताल का अन्तर है। एक से यह है कि आत्मा का धर्म मोक्ष प्राप्त करना नहीं है, अर्थात् मोक्ष आत्मा के लिए नहीं है। दूसरे प्रकार से अर्थ यह बनता है कि आनन्द की अभिव्यक्ति मोक्ष में नहीं है, अर्थात् आनन्द प्रकट होता ही नहीं मोक्ष हो जाने पर भी।

कुछ भाष्यकारों ने इस निरर्थक सूत्र को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए कह दिया है कि चेतन आत्मा में किन्हीं धर्मों का समावेश नहीं रहता। श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं 'अभिप्राय यह है कि चेतन होने से आत्मा धर्मरहित है।'

तो सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्नादि लिंग किस धर्म से उत्पन्न होते हैं? चेतना स्वयमेव धर्म है जिसकी अभिव्यक्ति उक्त लिंगों से होती है।

परन्तु शास्त्रीजी धर्म के कुछ अपने ही अर्थ करते हैं। वे कहते हैं—

'आत्मा केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है। कोई धर्म उसमें अन्तर्हित और कभी अभिव्यक्त होता हो, ऐसा नहीं है।'

आप अपने वैशेषिक दर्शन के भाष्य में धर्म पर एक टिप्पणी देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

"(धर्म का) तटस्थ लक्षण वह होता है जहाँ बाह्य निमित्त से किसी का निर्देश किया जाए, जैसे ईश्वर अथवा ब्रह्म वह है जो जगत् के उत्पादन, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है। ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है—सत्, चित्, आनन्द; इसी प्रकार जिससे अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्त हो, वह धर्म है। यह धर्म का तटस्थ लक्षण है। स्वरूप-लक्षण बताना चाहिए।"[१]

अब तनिक देखिये कि इन चार पंक्तियों में शास्त्रीजी ने अपने मत का स्वतः ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्डन कर दिया है।

पहले कहते हैं कि तटस्थ लक्षण है—जैसे ईश्वर ब्रह्म वह है जो सृष्टि का उत्पादनादि कर्त्ता है।

फिर कहते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है सत्, चित्त, आनन्द। इन लक्षणों से आपने सांख्य-सूत्र ५-७४ के भाष्य में अपने कथन कि चेतन होने से आत्मा धर्मरहित है, का खण्डन कर दिया है।

आत्मा में तटस्थ-लक्षण भी है और स्वरूप-लक्षण भी है। इस कारण आत्मा धर्मस्वरूप भी है। कारण यह कि लक्षणों से धर्म का ज्ञान होता है। धर्म न हो तो लक्षण प्रकट नहीं होते। धर्म वह लक्षण है जिससे कर्म होता है।

तनिक विचार करिए कि ब्रह्म के लक्षण हैं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १-१-२)। यह लक्षण इस बात को प्रकट करता है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् चेतन है। बिना सर्वशक्तिमान् चेतन हुए वह 'जन्मादि' कर ही नहीं सकता। यही इसका धर्म है। जीवात्मा का भी धर्म है जिसके लक्षण सुख-दुःख आदि हैं।

हमने सरल भाषा में कहा है कि धर्म वह गुण है जो कर्म करने में प्रयुक्त होता है।

वास्तव में यह सूत्र ही अनर्गल है और शास्त्रीजी इसे कपिल का सूत्र मानकर इसकी सिद्धि में लगे हैं। इस कारण अयुक्त युक्तियाँ दे रहे हैं।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥ ७५ ॥

पदच्छेद—न-विशेष-गुणोच्छित्तिः, तद्-वत्।

अर्थात्—विशेष गुणों का उच्छेद नहीं है, वैसे ही।

विशेष गुणों का नष्ट हो जाना मुक्ति नहीं। ऊपर के सूत्र में कहा है कि आनन्द का उत्पन्न (प्रकट) होना मुक्ति नहीं। हमने ऊपर के सूत्र में बताया है कि जब मोक्ष प्राप्त होता है तो आनन्द प्राप्त होने लगता है। इस कारण आनन्द की अभिव्यक्ति युक्त है। आनन्द प्राप्त करना धर्म नहीं। धर्म है कर्म करना। जब मोक्ष के योग्य कर्म होंगे तो आनन्द की अभिव्यक्ति स्वतः होगी। यह आत्मा के 'कर्म करने' (धर्म) का फल है। आत्मा धर्महीन नहीं है, यह हम बता चुके हैं।

अब इस सूत्र में विशेष गुणों से क्या अभिप्राय है? यह प्रश्न है। सूत्रकार ने तो कुछ कहा नहीं। जैसे पूर्व-सूत्र में धर्म का अभिप्राय नहीं समझा गया, वैसे ही इस सूत्र में गुण का अभिप्राय नहीं समझा गया।

चेतन-तत्त्व न तो धर्मरहित है और न ही यह गुणविहीन है। यह ठीक है कि इसके गुण जड़ पदार्थों के-से नहीं हैं।

इस कारण आत्मा के गुणों के नष्ट होने की बात कहना ही अर्थहीन है। चेतन होना आत्मा का एक गुण है। अणु-मात्र होना आत्मा का स्वरूप-गुण है। सत् होना अर्थात्

---

१. वैशेषिक दर्शन-भाष्य, टिप्पणी पृ०-४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनादि-अक्षर होना आत्मा का एक अन्य गुण है। यही आत्मा के विशेष गुण हैं। इनके विनष्ट होने की कल्पना ही मिथ्या है।

श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र की सार्थकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य अयुक्ति-संगत बात कह दी है। आप कहते हैं—

'परमात्मा ज्ञानस्वरूप या चेतनस्वरूप है। उसमें किन्हीं बाह्य गुणों या धर्मों का समावेश होता है, यह सम्भव नहीं। तब इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना करना संगत न होगा।'

क्या शास्त्रीजी जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं? ज्ञानस्वरूप तो परमात्मा है। आप आगे लिखते हैं—

'तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, राग आदि त्रिगुण के परिणामी हैं। इसलिए त्रिगुणात्मक हैं। आत्मा का स्वरूप इनसे सर्वथा विपरीत है।'

यह बात शास्त्र-विपरीत है। आत्मा के लिंग, सुख-दुःखादि उसके अपने धर्मों के कारण हैं। ये प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् से सम्बन्धित नहीं हैं। प्रकृति के गुण तो रहते हैं, परन्तु इच्छादि नहीं भी हो सकती।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

पदच्छेद—न, विशेष-गतिः, निष्क्रियस्य।

अर्थात्—क्रियाविहीन आत्मा की (मोक्ष में) विशेष गति नहीं होती।

क्या आत्मा निष्क्रिय है? अर्थात् क्या यह जड़ है? आत्मा को निष्क्रिय कहाँ माना है, यह तो बताया नहीं। इसे स्वयं सिद्ध मानकर इसकी गति की बात करने लगे हैं। चेतन और जड़ में अन्तर ही तत्त्वों के क्रियायुक्त और क्रियाहीन होने में है।

इसी प्रकार सूत्रकार आगे कहता है—

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

पदच्छेद—न आकारोपराग-उच्छित्तिः, क्षणिकत्वादि-दोषात्।

अर्थात्—नहीं है आकार के उपराग की उच्छितिः (उच्छेद = मोक्ष) [इसमें कारण यह है कि ऐसा मानने से] क्षणिकत्व आदि दोष आ जायेगा।

इस सूत्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि मोक्षावस्था में भी रागादि दोष बने रह सकते हैं। हम समझते हैं कि इस बात के कथन से सांख्य-दर्शन के उद्देश्य कि विवेक से मोक्ष मिलता है, का ही खण्डन हो जाता है। उपरागों से रहित होना विवेक का परिणाम है। यदि सूत्रकार की बात नहीं मानेंगे तो क्षणिकत्व सिद्ध हो जायेगा, अथवा कोई अन्य दोषयुक्त सिद्धान्त मानना पड़ेगा। यह सिद्ध नहीं होंता।

कुछ भी हो, सूत्रार्थ यही है कि उपराग का उच्छेद मोक्ष नहीं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मोक्षावस्था में भी उपराग रहे तो हानि नहीं। यह सांख्य-सिद्धान्त नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥

पदच्छेद—न सर्वोच्छित्तिः, अपुरुषार्थत्वादि-दोषात् ।

अर्थात्—सबका विनाश भी मोक्ष नहीं। यदि ऐसा मानेंगे तो अपुरुषार्थादि होना दोष हो जायेगा।

ये दोनों सूत्र (५-७७, ७८) क्षणिकत्व-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए कहे गए हैं। सिद्धान्तरूप में ठीक ही है। जब सब-कुछ नष्ट हो जाता है तो मोक्ष तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ अर्थहीन हो जायेगा। परन्तु सूत्र की रचना से यह स्पष्ट नहीं कि सब-कुछ में मोक्ष सम्मिलित है अथवा नहीं।

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

पदच्छेद—एवम्, शून्यम्, अपि ।

अर्थात्—इसी प्रकार शून्य हो जाना भी (मोक्ष नहीं है)।

सूत्र-रचना एवं पूर्वापर के विचार से अर्थ यह भी बनते हैं कि शून्य भी मोक्ष नहीं। यह ठीक होते हुए भी पूर्व के सूत्र (५-७८) और इसमें कुछ भी अन्तर नहीं।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥ ८० ॥

पदच्छेद—संयोगाः, च, वियोगान्ताः, इति, न, देशादिलाभः, अपि ।

अर्थात्—सब संयोगों का अन्त वियोग में, इस कारण देशादि का लाभ (मुक्ति) भी नहीं।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जगत् में संयोग-वियोग अन्तवाला है। इसी प्रकार मोक्ष का संयोग भी अन्तवाला होने से मोक्ष-धाम प्राप्त करने में कुछ लाभ नहीं।

यहाँ श्री उदयवीर शास्त्री का कथन विचारणीय है कि सूत्र ५-७९ और ५-८० का पूर्वांश 'संयोगाश्च वियोगान्ता इति' प्रक्षिप्त है। शास्त्रीजी का कहना है कि सम्भवतः ये सूत्र किसी ने बौद्ध सिद्धान्त का विरोध करने के लिए लिखे हैं। यह सम्भव है। परन्तु इतने मात्र से इनको प्रक्षिप्त मानना युक्तियुक्त नहीं। कौन कह सकता है कि कपिल के समय शून्यवादी अथवा क्षणिकवादी नहीं थे ?

इतिहास यह बताता है कि महात्मा बुद्ध इन दार्शनिक झगड़ों में पड़ना नहीं चाहते होंगे। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों को जब ब्राह्मणों की युक्ति का उत्तर देना पड़ा तो उन्होंने शून्यवाद आदि नास्तिक सिद्धान्तों का आश्रय लिया। नास्तिक तो कपिल के काल में भी थे। वे भी सम्भवतः शून्यवाद आदि सिद्धान्त युक्ति में उपस्थित करते होंगे। इस कारण कि इन सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन है, इनके प्रक्षिप्त होने में कारण नहीं।

हम तो पूर्ण अध्याय को ही प्रक्षिप्त मानते हैं। हमारी युक्ति यह है कि इस अध्याय में प्रचुर मात्रा में सांख्य-सिद्धान्त-विरोधी बातें कही हैं और साथ ही सूत्रों की रचना इतनी शिथिल है कि ये किसी योग्य तार्किक के कहे नहीं माने जा सकते।

अब ये सूत्र (५-६८ से लेकर वर्तमान सूत्र ५-८०) तक मोक्षपरक हैं। इन सूत्रों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः मोक्षावस्था को सामान्य अवस्था प्रकट करने का यत्न किया गया है।

सूत्र (५-६८) है 'विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्।' अभिप्राय यह कि मन्द बुद्धिवालों के लिए मुक्ति की प्रशंसा की जाती है। हम समझते हैं कि इसका अर्थ यह भी हो जाता है कि मुक्ति मन्द बुद्धिवालों के लिए ही है। यह सूत्र-रचना में दोष के कारण है। इसी कारण भाष्यकारों ने इसके अर्थ में अपनी-अपनी मति से सूत्रार्थों में वृद्धि की है। उदाहरण के रूप में श्री ब्रह्ममुनि जी ने कहा है—

मुक्ति में आनन्द का उल्लेख मूर्खों के लिए है। वास्तव में यह दुःखों की निवृत्ति है। परन्तु ब्रह्ममुनि जी ब्रह्मसूत्र के इस सूत्र को क्या समझेंगे?

आनन्दमयोऽभ्यासात्॥　　*(ब्र० सू० १-१-१२)*

इस सूत्र का अभिप्राय है कि अभ्यास (योगाभ्यास) से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है। ब्रह्ममुनि जी ने एक हीन रचना वाले सूत्र को सिद्धान्तानुकूल बनाने का असफल यत्न किया है। श्री उदयवीर शास्त्री भी लगभग यही बात इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं। वह लिखते हैं—

'जो व्यक्ति शास्त्रीय रहस्य से अनभिज्ञ हैं, अज्ञानी हैं, वे वास्तविकता को न समझते हुए अध्यात्म की ओर प्रवृत्त नहीं होते; सांसारिक लुभावने विषयों में फँसे रहते हैं और कल्याण-मार्ग से वंचित रह जाते हैं। वे अध्यात्म-मार्ग की ओर प्रवृत्त हो सकें, इसलिए मुक्ति की उस रूप में प्रशंसा की जाती है····।'

शास्त्रीजी समझ रहे हैं कि सांख्य-दर्शन मुहम्मद साहब के लिए लिखा गया है जो बहिश्त में हूर और शराब की नहरों की बात कहते थे। इस सूत्र का लिखनेवाला योगादि सिद्धियों की बात किसी मुसलमान के लिए समझा है जो कह रहा है कि मुक्तावस्था की प्रशंसा मूर्खों के लिए है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्म-सूत्र में जो लिखा है कि योगाभ्यास से आनन्द की प्राप्ति होती है, मूर्खों के लिए कहा गया है।

इस प्रकार इस प्रकरण में सूत्र ५-७४ में पुनः मुक्ति का वर्णन है। यह सूत्र है—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्॥

इसका अभिप्राय है कि आनन्द की अभिव्यक्ति मुक्ति नहीं (जीवात्मा का आनन्द) धर्म के न होने से। यह सूत्र भी अनर्गल है। जीवात्मा अल्पज्ञ है तो इसे विवेक नहीं हो सकता क्या? यह सब शास्त्र-विरुद्ध बात है।

और भी कहा है सूत्र ५-७६ में—

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य॥

अर्थात् क्रियाविहीन की मोक्ष में गति नहीं। इस सूत्र का अर्थ यह भी हो सकता है कि मोक्ष क्रियाविहीन है; उसकी विशेष गति नहीं। अभिप्राय यह कि मोक्ष-प्राप्ति से कुछ विशेष लाभ नहीं। दोनों अर्थ शास्त्र-विरुद्ध हैं। आत्मा चेतन होने से क्रियाशील है। मोक्षावस्था भी क्रियाविहीन नहीं। वहाँ की क्रियाएँ वे नहीं जो इस संसार की हैं। इस पर भी क्रियाएँ तो हैं।

हमारा यह कहना है कि सूत्रकार न केवल शास्त्र से अनभिज्ञ है, युक्तिविहीन है, वरन् सूत्र-रचना-विद्या को भी नहीं जानता। इन सूत्रों से विपरीत अर्थ भी निकल सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न भागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥

पदच्छेद—न, भागियोगः, भागस्य।

अर्थात्—नहीं है अंश का योग (सम्बन्ध) अंश के साथ।

सूत्र अधूरा है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि जीवात्मा कार्य-जगत् का अंश है और कार्य-जगत् के साथ इसका संयोग नहीं। यह वस्तुस्थिति के विपरीत है। कदाचित् सूत्रकार यह कहना चाहता है कि यदि जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानें तो जीवात्मा का परमात्मा से ही संयोग निरर्थक है। जो पहले ही अंश है फिर उसके योग (सम्बन्ध) के क्या अर्थ हैं?

परन्तु पूर्व के किसी सूत्र में परमात्मा का उल्लेख नहीं। यहाँ 'भागस्य' किसके लिए आया है, इसका संकेत किए बिना लिख देना भ्रमोत्पादक है।

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितर योगवत् ॥ ८२ ॥

पदच्छेद—न, अणिमादियोगः, अपि, अवश्यम्, भावित्वात्, तद्-उच्छित्तेः, इतर-योगवत्।

अर्थात्—अणिमादि (ऐश्वर्य) का सम्बन्ध भी अवश्यम्भावी (निश्चय) उच्छेद (विनाश) वाला है, दूसरे भोगों की भाँति।

अणिमादि ऐश्वर्य मोक्ष नहीं, यह तो ठीक है। परन्तु उनको मोक्ष असिद्ध करने के लिए दी गई युक्ति अशुद्ध है। जिसका उच्छेद होना अवश्यम्भावी है, वह मोक्ष नहीं हो सकता।

परन्तु मोक्ष का स्वयं उच्छेद होनेवाला है। जो वस्तु आरम्भ होती है उसका अन्त भी होता है। अतः एक आत्मा आज मुक्त होता है तो इस अवस्था का अन्त भी होगा। अतः किसी का उच्छेद-मात्र उसके मोक्ष न होने का प्रमाण नहीं।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥ ८३ ॥

पदच्छेद—न, इन्द्रादि, पदयोगः, अपि, तद्, वत्।

अर्थात्—इन्द्रादि की पदवी का मिल जाना भी (मोक्ष) नहीं है, उसी प्रकार (जैसे अणिमादि सिद्धियों से मोक्ष नहीं है)।

श्री उदयवीर शास्त्री का मत है कि इसके आगे (सूत्र ५-८४ से ११५ तक) प्रक्षिप्त हैं। उनका कहना है कि सूत्र ५-८३ की संगति ५-८४ से नहीं बैठती और यह ५-११६ से भली-भाँति बैठती है। सूत्र ५-८३ तो ऊपर लिखा है और सूत्र ५-११६ देखना चाहिए कि क्या है। यह इस प्रकार है—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ ११६ ॥

पदच्छेद—समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु, ब्रह्मरूपता।

अर्थात्—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मरूपता का अर्थ है जीवात्मा का ब्रह्मरूप हो जाना। ब्रह्म के रूप का हो जाना ऐसे जैसे नमक जल में घुलकर एकरूप हो जाता है। इसे ही मोक्षावस्था कहते हैं।

अर्थात् सूत्र (५-८२, ८३) में कहा है कि अणिमादि ऐश्वर्य और इन्द्रादि पद की प्राप्ति भी मोक्ष नहीं है और सूत्र ५-११६ में कहा है कि समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता हो जाती है, तो सूत्र ५-८२, ८३ का भाव सूत्र ५-११६ के विषय से मेल नहीं खाता है।

परन्तु हमारा मत है कि यह पूर्ण अध्याय ही कपिल मुनि का लिखा हुआ नहीं है। सूत्र ५-८४ से ११५ तक प्रक्षेप में प्रक्षेप ही प्रतीत हुआ है। शास्त्रीजी तो सूत्रों में संगति बिठाते हैं और हम सूत्रार्थों तथा उसके भावों का सांख्य के प्रथम तीन अध्यायों से तथा वेदादि शास्त्रों से मिलान करते हैं।

अब इसी सूत्र (५-११६) को देखें। ब्रह्मरूपता का अभिप्राय है जीवात्मा का ब्रह्म से एकरूप हो जाना। ब्रह्म-अरूपता तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म का कोई रूप नहीं। वह अव्यक्त है।

परन्तु समाधि-अवस्था में और सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर में लिपटा रहता है। इस कारण ब्रह्म से एकरूपता नहीं होती। जैसे नमक की डली को किसी प्लास्टिक की डिबिया में बन्द करके जल में डालें तो वह एकरूपता नहीं होती। नमक जल में घुलेगा नहीं। अतः यह निश्चित ही है कि समाधि-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था, दोनों में ब्रह्म से एकरूपता नहीं होती। सूक्ष्म और स्थूल शरीर भी बना रहता है, इस कारण जीवात्मा परमात्मा में घुल-मिल नहीं सकता; सामीप्य ही होता है, एकत्व नहीं। और सुषुप्ति-अवस्था में तो सामीप्य भी नहीं होता। सामीप्य ज्ञान से होता है और वह सुषुप्ति-अवस्था में नहीं होता। अतः सिद्धान्त में यह सूत्र भी अशुद्ध है। यह भी प्रक्षिप्त ही है।

इस पर भी सूत्र ५-८३ की संगति सूत्र ५-८४ से भी नहीं है।

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥ ८४ ॥

पदच्छेद—न, भूत-प्रकृतित्वम्, इन्द्रियाणाम्, आहंकारिकत्वश्रुतेः।

अर्थात्—नहीं है भूत (पंच महाभूत) कारणवाला होना इन्द्रियों का, क्योंकि इन्द्रियाँ अहंकारों से उत्पन्न होती हैं ऐसा सुना जाता है।

इस सूत्र (५-८४) का विषय सूत्र ५-८३ से सर्वथा पृथक् है। एक बात है कि जहाँ सूत्र (५-८३) सिद्धान्त-विरुद्ध है वहाँ ५-८४ सिद्धान्तानुकूल है। ये दोनों सूत्र भिन्न-भिन्न लेखकों के लिखे हैं।

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

पदच्छेद—न, षट्पदार्थ-नियमः, तद्-बोधात्, मुक्तिः॥

अर्थात्—नहीं है षट् पदार्थों का नियम, उनके बोध से मुक्ति का होना।

प्रत्यक्ष रूप में सूत्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि संसार के पदार्थों को छः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेणियों में बाँधने का नियम नहीं। छः के अतिरिक्त भी श्रेणियाँ हो सकती हैं। उनके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। 'न' का सम्बन्ध सूत्र के दूसरे अंश से भी लगाया जा सकता है। तब अर्थ ये होंगे—संसार के पदार्थों को छः श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, इन पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति नहीं।

दोनों अर्थों में अयुक्तियुक्तता स्पष्ट है। पहले अर्थों में अनर्गलता यह है कि यदि यह मान लें कि संसार के पदार्थ छः श्रेणियों में बाँटने का नियम नहीं, तो कौन कहता है कि यह अनिवार्य नियम है? श्रेणियों की गणना तो किसी स्थान पर विषय को समझाने के लिए ही की जाती है। उदाहरण के रूप में सांख्य स्वयं पदार्थों को पचीस गणों में बाँटता है। प्रक्षेपक का यह कहना कि छः में बाँटने का नियम नहीं, व्यर्थ का कथन है।

छः की श्रेणियों में बाँटने की बात तो वैशेषिक दर्शन के कहनेवाले कणाद ऋषि ने की है। कणाद महाभारत के काल में हुआ है और कपिल हुआ है त्रेता युग के आरम्भ में। कणाद की बात सांख्य में कैसे आ गयी?

यदि सूत्र के दूसरे अर्थ किए जाएँ तो यह कहना कि संसार के पदार्थों की छः श्रेणियाँ हैं, कहने का कुछ अभिप्राय नहीं निकलता। इस कथन का सूत्र के दूसरे अंश के साथ इस बात का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

श्री उदयवीर शास्त्री षट्पदार्थों के विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं—

'वैशेषिक दर्शन के पदार्थ छः माने गए हैं। न न्यून न अधिक। परन्तु पदार्थ-विषयक यह नियमन युक्तियुक्त नहीं। कारण यह है कि द्रव्य गुण कर्म सामान्य, विशेष, समवाप—इन स्वीकृत छः पदार्थों में केवल पहले तीन पदार्थ अनित्य हैं। उनमें भी पहले दो में कुछ नित्य और कुछ अनित्य माने गये हैं। इन सब के आधारभूत पदार्थ नौ द्रव्यों में पाँच नित्य और पहले पृथिवी, जल, तेज वायु नित्यानित्य हैं—।'

शास्त्रीजी ने यह नित्यानित्य क्या और कैसे लिख दिया है? साथ ही यह सिद्धान्त कहाँ से बना लिया है कि पदार्थ अथवा द्रव्य नित्य ही होते हैं?

प्रायः भाष्यकार यह अर्थ सिद्ध कर रहे हैं कि संसार के इन पदार्थों से मुक्ति नहीं होती। वे 'न' को सूत्र के दूसरे अंश से लगा रहे हैं। भला यह क्यों? परन्तु संसार के पदार्थों के ज्ञान से संसार को पार तो किया जा सकता है (ऐसा वेद में कहा है) और बिना संसार को पार किये मुक्ति सम्भव नहीं। इस कारण यह कथन अशुद्ध भी है।

षोडशादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥

पदच्छेद—षोडश-आदिषु, अपि, एवम्।

अर्थात्—सोलह आदि में भी वैसा ही जाने।

अभिप्राय यह कि सोलह आदि का भी नियम नहीं है अथवा है। और उनके ज्ञान से भी मुक्ति प्राप्त होती है अथवा नहीं होती। जैसे पूर्व-सूत्र अर्थ-हीन और अशुद्ध है वैसा ही यह सूत्र है। पूर्व-सूत्र की हमारी जो विवेचना है वही इस सूत्र पर भी है।

यहाँ जो विशेष विचारणीय है वह यह कि प्रक्षेपक का किन सोलह से अभिप्राय है? सूत्रकार (प्रक्षेपक) ने किसी प्रकार का संकेत नहीं किया, न ही किन्हीं सोलह का यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर प्रसंग है। इस कारण भाष्यकारों ने अपनी-अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाने आरम्भ किए हैं। कुछ-एक तो ग्यारह इन्द्रियाँ और पंच महाभूत कहते हैं और कुछ न्याय-दर्शन के सोलह तत्त्वों का स्मरण करते हैं। यह प्रकट करता है कि प्रक्षेपक को यह भी ज्ञात नहीं कि वह क्या लिख रहा है और उसको दूसरे क्या समझेंगे। भाष्यकार भी अपने मन से खानापूरी कर रहे हैं। न्यायदर्शन के सोलह साधनों को, जिनसे मिथ्या ज्ञान का नाश किया जा सकता है और सत्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, पदार्थ नहीं कहा जाता। उन्हें न्यायदर्शन का प्रवक्ता तत्त्व कहता है।

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥

पदच्छेद—न, अणुनित्यता, तत्, कार्यत्वश्रुतेः।

अर्थात्—नहीं है अणु की नित्यता, इसके कार्य का होना सुना जाता है।

अभिप्राय यह है कि अणु कार्य है। यह परमाणुओं के संयोग का परिणाम है। इस कारण यह नित्य नहीं है। इस सूत्र की आवश्यकता नहीं थी। शब्द से ही अणु परमाणु के परिणाम के सूचक हैं।

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥ ८८ ॥

पदच्छेद—न, निर्भागत्वम्, कार्यत्वात्।

अर्थात्—नहीं है उन (अणुओं) का भागरहित होना, कार्य होने से।

यह सूत्र भी पूर्व-सूत्र (५-८७) के समान व्यर्थ में दिया गया है। यह स्वयं सिद्ध ही है।

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥

पदच्छेद—न, रूपनिबन्धनात्, प्रत्यक्ष-नियमः।

(किन्हीं संस्करणों में 'प्रत्यक्ष' के स्थान पर 'प्रत्यक्षत्व' लिखा है। दोनों के भावार्थ में अन्तर नहीं है।)

अर्थात्—नहीं है रूप के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष का नियम।

अभिप्राय यह है कि यह नियम नहीं कि रूप से ही वस्तु प्रत्यक्ष हो। कोई उदाहरण देना चाहिए था जिससे पता चलता कि कौन-सी अरूपवान् वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है।

वैसे यह कथन सांख्य दर्शन के विपरीत है। सांख्य के प्रणेता कपिल ने प्रत्यक्ष के लक्षण सूत्र १-८९ में किए हैं। वहाँ कहा है कि—

जिसके साथ (इन्द्रियों का) सम्बन्ध होता है और उसके आकार का (वैसा ही) निर्देशन करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।

आकार बिना रूप के नहीं हो सकता। आकार के अर्थ मोनियर विलियम्स करते हैं—form, figure, shape, stature अर्थात् सूरत-शक्ल।

अतः यह सूत्र कपिल के प्रत्यक्ष के लक्षणों का खण्डन करता है। यह प्रक्षिप्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥ ९० ॥

पदच्छेद—न, परिमाणचातुर्विध्यम्, द्वाभ्याम्, तत्-योगात् ।

अर्थात्—नहीं है परिमाण चार प्रकार का, दो से ही सब (पदार्थों) के संयोग से।

अधिकांश भाष्यकारों ने इस सूत्र के भाव को न समझते हुए ही इसका समर्थन कर दिया है। श्री उदयवीर शास्त्री ने सूत्र को प्रक्षिप्त मानते हुए भी इसके भाष्य में कहा है—

'अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ—यह चार प्रकार का परिणाम वैशेषिकादि दर्शनों में स्वीकार किया गया है····।'

सांख्यदर्शन में ऐसा नहीं कहा गया। न चार कहे हैं और न दो कहे हैं। जब दो मानेंगे तो चार भी माने जा सकते हैं। कारण यह कि परिमाणों के मूल में अणु नहीं, वरन् परमाणु हैं। परमाणु का भी तो परिमाण होता है। कारण यह कि शून्य कितने भी इकट्ठे किए जाएँ, वे शून्य ही रहेंगे। यदि अणु का परिमाण है तो परमाणु का भी है।

वैशेषिक में भी चार परिमाण की बात कहीं नहीं कही। ह्रस्व, दीर्घ की बात तो कही है, परन्तु यह नहीं कहा कि अन्य प्रकार से परिमाण नहीं जाने जा सकते।

प्रक्षिप्त सूत्रकार की यह अनर्गल कल्पना ही है कि दो से काम चल सकता है। काम तो एक से भी चल सकता है। मूल माप परमाणु ही है और उससे काम चल सकता है।

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥

पदच्छेद—अनित्यत्वे, अपि, स्थिरतायोगात्, प्रत्यभिज्ञानम्, सामान्यस्य।

अर्थात्—सामान्य पदार्थों का अनित्य होने पर भी स्थिरता का योग है (इस कारण) प्रत्यभिज्ञान होता है।

प्रत्यभिज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्ष।

कार्य-जगत् की वस्तुएँ अनित्य हैं। इस पर भी कुछ काल के लिए वे स्थिर रहती हैं। यही कारण है कि उनकी स्मृति रहती है। किसी वस्तु को कई वर्ष के उपरान्त देखने पर भी वह पहचानी जाती है।

कार्य-जगत् का विषय सांख्यान्तर्गत नहीं। यह वैशेषिक दर्शन का विषय है।

न तदपलापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥

पदच्छेद—न, तत्-अपलापः, तस्मात् ।

अर्थात्—इस कारण उसका नहीं है मिथ्या कथन।

ऊपर के सूत्र में कहा है कि कार्य-जगत् की वस्तुएँ अनित्य होने पर भी कुछ काल के लिए स्थिर रहती हैं। इस सूत्र में यह बताया गया है कि ऐसा कहना मिथ्या कथन नहीं। इन दोनों सूत्रों में स्थिरता सामान्य दृष्टि से ही है। वस्तुतः रूपादि प्रतिक्षण बदलते रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३ ॥

पदच्छेद—न, अन्यनिवृत्तिरूपत्वम्, भाव-प्रतीतेः ॥

अर्थात्—नहीं है किसी दूसरे का निवृत्तिरूप होना भाव का ज्ञान होने के कारण।

इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के ठीक-ठीक भाव के प्रतीत होने के कारण किसी दूसरे के भाव की निवृत्ति नहीं हो सकती। भावरूप निवृत्ति का अर्थ है किसी दूसरे के रूप में छुटकारा पाया जाय।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार कह रहा है कि एक वस्तु का ज्ञान होने के कारण किसी दूसरी वस्तु का न होना नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में कोई कहता है कि देवदत्त मनुष्य है। इतना कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि उसमें किसी अन्य जन्तु के गुण नहीं हैं। सूत्र के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं।

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४ ॥

पदच्छेद—न, तत्त्वान्तरम्, सादृश्यम्, प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥

अर्थात्—नहीं है सादृश्य दूसरे तत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से।

अभिप्राय यह कि सामान्य और सादृश्य में कोई अन्तर नहीं। एक ही बात है। प्रत्यक्ष देखे जाने से।

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ॥ ९५ ॥

पदच्छेद—वा, निजशक्त्यभिव्यक्तिः, वैशिष्ट्यात्, तत्-उपलब्धेः ।

अर्थात्—अथवा अपनी शक्ति का प्रकट होना है, विशिष्ट ज्ञान होने से, उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है।

सूत्रकार ऊपर के सूत्र की ही व्याख्या कर रहा है। वह कह रहा है कि किसी वस्तु का विशिष्ट ज्ञान होने से उस वस्तु का ज्ञान होता है, सादृश्य से नहीं।

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ९६ ॥

पदच्छेद—न, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः-अपि।

अर्थात्—वस्तु और नाम में भी सम्बन्ध नहीं।

कैसा सम्बन्ध नहीं? यही कि सादृश्य नहीं होता, नाम समान होने से भी। इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि नाम समान है, इस कारण कहा नहीं जा सकता। निज गुणों से ही वस्तु का ज्ञान होता है।

न सम्बन्धनित्यतोभयाऽनित्यत्वात् ॥ ९७ ॥

पदच्छेद—न, सम्बन्ध-नित्यता, उभया, अनित्यत्वात् ।

अर्थात्—(नाम और वस्तु का) सम्बन्ध नित्य नहीं, क्योंकि दोनों अनित्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् ॥ २८ ॥

पदच्छेद—न, अजः, सम्बन्धः, धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्।

अर्थात्—नहीं है अनादि सम्बन्ध धर्मी का, ग्रहण करनेवाले प्रमाण की बाधा है।

धर्मी ग्रहण करनेवाले प्रमाण का क्या अर्थ हो सकता है? यह सामान्य बुद्धि से बाहर की बात है। इसका अर्थ ब्रह्ममुनि जी इस प्रकार करते हैं—'(धर्मग्राहकप्रमाणबाधात्) धर्म-सम्बन्ध, सम्बन्ध धर्म जिसका हो वह धर्मी सम्बन्धधर्मी उन दोनों अज-धर्मियों, प्रकृति-पुरुष-धर्मियों, धर्मिरूप साधक प्रमाण के बाध से—धर्मग्राहक प्रमाण बाधित होता है, कट जाता है, उन्हें धर्मि साधने में प्रमाण समर्थ नहीं।' जैसा सूत्र वैसा ही अर्थ, कदाचित् उससे अधिक समझ में न आनेवाला यह सूत्रार्थ है।

अर्थ कुछ भी हो, जो हम पूछना चाहते हैं वह है पद 'धर्मप्रमाण बाधक' में धर्म-सम्बन्ध कहाँ से आ गया? साथ ही 'अजः सम्बन्धो' का अर्थ अनादि सम्बन्ध होता है, इसका यहाँ प्रकरण प्रतीत नहीं होता।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं, 'जिनका सम्बन्ध नित्य हो, ऐसे धर्मों का ग्रहण करनेवाले प्रमाण की बाधा से सम्बन्ध का नित्य माना जाना सम्भव नहीं। किसी भी प्रमाण से ऐसे धर्मी को नहीं जाना जा सका, जिनका सम्बन्ध नित्य कहा जा सके।' अर्थ तो ठीक ही हैं, परन्तु सूत्र का भावार्थ कुछ बना नहीं।

पूर्व-सूत्र में कहा है कि संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध अनित्य है, परन्तु धर्मों के ग्रहण करनेवाले प्रमाण से। अभिप्राय क्या है? स्पष्ट नहीं। वह क्या है जिसका नित्य सम्बन्ध नहीं और जिसको धर्मी कहा है? और फिर उसको ग्रहण करनेवाला प्रमाण क्या है, जो बाधक है? किसकी बाधा है और कैसी बाधा है? अर्थात् किसमें है? धर्मी में है अथवा उसे ग्रहण करनेवाले प्रमाण में?

संज्ञा-संज्ञी का सम्बन्ध अनित्य है—यह कथन हो गया। इसके अतिरिक्त जो कुछ इस सूत्र में कहा गया है, वह अस्पष्ट है—सूत्र में भी और सूत्र के भाष्यों में भी। विज्ञान-भिक्षु इसको इस प्रकार लिखते हैं—'न अतः सम्बन्धो—।' यह कुछ अधिक स्पष्ट है। इसके अर्थ बनते हैं, इस क़ारण सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् नाम और वस्तु में सम्बन्ध नहीं है। 'धर्मी-ग्राहक' अर्थात् नाम से वर्णित धर्म को ग्रहण करनेवाला प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैसे मेज़ एक चार टाँग वाली चौकी का नाम है। सूत्रकार कहता है कि मेज़ नाम देने से वस्तु के होने में बाधा है। यह कैसे? वह कहता है कि प्रमाण की बाधा है।

बाधा अभाव को नहीं कहते। कुछ है जो सिद्ध होने में रुकावट डालता है। यहाँ सूत्रांश अस्पष्ट है।

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—न, समवायः, अस्ति, प्रमाण-अभावात्।

अर्थात्—समवाय नहीं है प्रमाण के अभाव से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समवाय का अर्थ है निरन्तर साथ रहनेवाला। वही संज्ञा-संज्ञी का सम्बन्ध कहा गया है। सम्बन्ध अनित्य है। व्यर्थ की पुनरुक्ति है।

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥ १०० ॥

पदच्छेद—उभयत्र, अपि, अन्यथा-सिद्धेः, न, प्रत्यक्षम्, अनुमानम् वा।

अर्थात्—दोनों स्थान पर भी अयुक्तियुक्त सिद्ध होता है (कारण यह कि) न प्रत्यक्ष है न अनुमान है। अभिप्राय यह कि संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध समवाय किसी प्रमाण से भी नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार को संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध को नित्य माने जाने का बहुत भय लग रहा है, जो इसे बार-बार लिख रहा है।

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥

पदच्छेद—न, अनुमेयत्वम्, इव, क्रियाया, नेदिष्ठस्य, तत्, तद्वतोः, एव, अपरोक्षप्रतीतेः।

अर्थात्—क्रिया का अनुमेयत्व (अनुमान से सिद्धि) ही नहीं, वह है उसकी तरह ही निकट का प्रत्यक्ष प्रतीत होने से।

वस्तु और नाम का सम्बन्ध अनित्य है। अब प्रक्षेपक यह सिद्ध करना चाहता है कि क्रिया की सिद्धि में अनुमान-प्रमाण ही हो, ऐसा नहीं। क्योंकि वह बहुत समीप है। वह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है।

परन्तु कोई निकट वस्तु अतिसूक्ष्म (अव्यक्त) भी हो सकती है। तब उसकी क्रिया का तो प्रत्यक्ष हो सकता है, परन्तु क्रिया करनेवाले के विषय में तो अनुमान ही लगाना होगा। साथ ही क्रिया का सदा समीप होना ही हो, यह आवश्यक नहीं।

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥ १०२ ॥

पदच्छेद—न, पाञ्चभौतिकम्, शरीरम्, बहूनाम्, उपादानायोगात्।

अर्थात्—शरीर पंचभूतों का बना नहीं, बहुतों के उपादानरूप होने में अयोग्य होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि शरीर के बहुत-से अवयवों में कई भूत उपादानरूप में प्रयुक्त नहीं होते।

यह सूत्र न केवल सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध है, प्रत्युत वस्तुस्थिति के भी विपरीत है।

सांख्याचार्य कपिल ने अपना मत सूत्र ३-१७ में स्पष्ट किया है कि 'पाञ्चभौतिको देहः'। सूत्र ३-१८, १९ में कह दिया कि दूसरों के मत हैं। सूत्रकार ने यह इस कारण कहा है कि दूसरों के मत के अनुसार कुछ भूत कुछ अंगों में नहीं दिखाई देते। परन्तु सूत्रकार इन मतों को स्वीकार करता दिखाई नहीं देता।

वस्तुस्थिति यह है कि शरीर का कोई भी अंग नहीं जहाँ पाँचों-के-पाँचों भूत न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों। अस्थि जैसे कठोर अंग में भी जलीय अंश होता है। अस्थि के जीवित कोषाणुओं में प्रोटाप्लाज़्म होता है और वह तरल पदार्थ है। वैसे भी हड्डी को गरम करके देखा जा सकता है कि उसमें से जल वाष्प बनकर निकलता है। यही बात शरीर के अन्य अंगों की है। सामान्य रूप में शरीर की बनावट में दो प्रकार के भाग होते हैं, एक जीवित कोषाणुओं का और दूसरा जो कोषाणुओं के बीच की जगह को भर रहा होता है। यह भाग मल कहलाता है। दोनों भाग शरीर की रूप-राशि और स्थिरता के लिए आवश्यक होते हैं। इन दोनों भागों में पाँचों भूतों की उपस्थिति पायी जाती है।

श्री उदयवीर शास्त्री स्वयं तो यह मानते हैं कि सांख्य-मत से शरीर पाञ्चभौतिक है, परन्तु वह कह रहे हैं कि वैशेषिक दर्शन और न्यायदर्शन में शरीर को पाञ्चभौतिक नहीं माना। वैशेषिक दर्शन के सम्बन्धित सूत्र इस प्रकार हैं—

तत् पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ ४-२-१ ॥

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ ४-२-२ ॥

अर्थात्—पृथिव्यादि कार्य-द्रव्य तीन-तीन प्रकार के हैं—शरीर, इन्द्रिय, और विषय।

इस सूत्र में शरीर के अंग तीन भूतवाले हैं, ऐसा नहीं कहा। अगले सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों का संयोग प्रत्यक्ष न होने से (शरीर) पाञ्चभौतिक प्रतीत नहीं होता। इसका अभिप्राय केवल यह है कि शरीर के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष द्रव्यों में पाँच भूतों का संयोग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता।

परन्तु अगले ही सूत्र में सूत्रकार इस बात का खण्डन कर देता है, कहता है—

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ५ ॥

इस सूत्र में यह कहा है कि अणु-संयोग का विरोध नहीं। यहाँ अणु से अभिप्राय है सूक्ष्म। पूर्व-सूत्र में कहा है कि प्रत्यक्ष पाँचों भूतों का संयोग दिखाई नहीं देता और यहाँ कहा है कि सूक्ष्म संयोग तो है।

हम समझते हैं कि वैशेषिक दर्शन के प्रवक्ता के मत में भी शरीर है तो पाञ्चभौतिक परन्तु वह कहता है कि साधारण दृष्टि से देखनेवालों को दिखाई नहीं देता।

अब न्यायदर्शन को भी देख लें। वहाँ भी यही कहा है कि मोटी दृष्टि से देखने वालों को जो दिखाई देता है वह वस्तुस्थिति नहीं है। सूत्र २-१-२८, २९, ३०, ३१ को एकसाथ विचार करें तो यही पता चलेगा कि सूत्रकार का मत पाँचों भूतों के पक्ष में है। सूत्र इस प्रकार हैं—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ।
पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ।
निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ।
गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ।

(न्याय० ३-१-२८, २९, ३०, ३१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका अर्थ यह है कि साधारण दृष्टि से देखने पर यह पार्थिव दिखाई देता है परन्तु उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दूसरे भूत भी दिखाई देने लगते हैं और वास्तव में शरीर पाञ्चभौतिक ही है।

शास्त्रीजी को व्यर्थ का भय प्रतीत हुआ है कि सांख्य-सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध हो रहा है। पूर्वापर देखने से यह प्रतीत होगा कि सांख्य-सिद्धान्त का मत कि शरीर पाञ्च-भौतिक है, सब दर्शन-शास्त्रों का मत है।

प्रक्षेपक वैदिक दर्शन-शास्त्रों का विरोध कर रहा है।

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥ १०३ ॥

पदच्छेद—न, स्थूलम्, इति, नियमः, आतिवाहिकस्य, अपि, विद्यमानत्वात्।

अर्थात्—स्थूल शरीर ही है यह नियम नहीं। ले-जानेवाला (सूक्ष्म शरीर) भी तो है। अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म शरीर भी है जो पाञ्चभौतिक नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रक्षेपक सांख्य के सूत्र ३-५, ६, ७ को समझा नहीं।

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥ १०४ ॥

पदच्छेद—न, अप्राप्त-प्रकाशकत्वम्, इन्द्रियाणाम्, अप्राप्तेः, सर्वप्राप्तेः, वा।

अर्थात्—इन्द्रियाँ अप्राप्त विषय पर प्रकाश नहीं करतीं (अनुभव कर प्रकट नहीं करतीं), अथवा अप्राप्त वस्तु का बोध करा सकतीं तो सब वस्तुओं का बोध हो जाता।

इसका अर्थ है कि इन्द्रियों का जिस पदार्थ के साथ सम्पर्क होता है उसी का बोध वे करा सकती हैं।

न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥ १०५ ॥

पदच्छेद—न, तेजोऽपसर्पणात्, तैजसम्, चक्षुर्वृत्तितः, तत्सिद्धेः।

अर्थात्—तेज के चलने से आँख तैजस नहीं, आँख की वृत्ति (व्यवहार) के द्वारा उसकी सिद्धि होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकाश चलता है और आँख तक पहुँचता है। आँख में प्रकाश नहीं है। इस प्रकाश के आँख तक पहुँचने से आँख अपनी वृत्ति अर्थात् व्यवहार से वस्तु को देखती है, जहाँ से प्रकाश आ रहा है। यही बात श्रोत्र-इन्द्रिय की है।

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥

पदच्छेद—प्राप्तार्थ-प्रकाशलिङ्गात्, वृत्तिसिद्धिः।

अर्थात्—प्रकाश के लिङ्ग से प्रस्तुत पदार्थ के (देखने के) व्यापार की सिद्धि होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि सामने रखे पदार्थ पर से प्रकाश आँख तक आता है वह प्रकाश आँख के देखने के कार्य को सिद्ध करता है। आँख से निकलकर दिखाई देनेवाले पदार्थ तक कुछ नहीं जाता, वरन् पदार्थ से प्रकाश आँख तक आता है और आँख देखती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥ १०७ ॥

पदच्छेद—भाग-गुणाभ्याम्, तत्त्वान्तरम्, वृत्तिः, सम्बन्धार्थम्, सर्पति, इति।

अर्थात्—भाग और गुणों से दूसरा तत्त्व वृत्ति है, सम्बन्ध बनाने के लिए यह चलता है।

आँख का कोई भाग अथवा आँख का कोई गुण नहीं है। आँख की वृत्ति (देखने की शक्ति) चलती है सम्बन्ध बनाने के लिए।

यहाँ कहा है कि देखने का काम आँख के किसी भाग अथवा गुण के कारण नहीं। यह आँख की शक्ति के कारण है। शक्ति आँख के भिन्न-भिन्न भागों से पृथक् है। यह सम्बन्ध बनाने के लिए है। किसका किससे सम्बन्ध बनाने के लिए? जो प्रस्तुत पदार्थ से प्रकाश आँख तक आया है, उसका सम्बन्ध मन से बनाने के लिए यह शक्ति (वृत्ति) चलती है मन तक।

यहाँ भाष्यकारों ने कहा है कि आँख की वृत्ति चलती है दिखाई देनेवाली वस्तु तक। प्रथम तो प्रक्षेपक ही ऐसे अनर्गल सूत्र लिख रहा है, परन्तु भाष्यकार इसे और भी अशुद्ध बना रहे हैं।

इससे पहले सूत्र ५-१०५ में प्रक्षेपक कह चुका है कि—

'तेजोऽपसर्णात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितः'।

इसका अर्थ हमने किया है कि दिखायी देनेवाली वस्तु के तेज (प्रकाश) से आँख तैजस प्रकाशवाली होती है। उस प्रकाश से ही वस्तु दिखाई देती है। सूत्र ५-१०६ में कहा है कि प्रकाश जो प्रस्तुत वस्तु से आता है, वह आँख के देखने की वृत्ति नहीं। तो फिर यह कैसे कहा गया मान लिया कि आँख की वृत्ति विषय-देश तक चलती है? सूत्र में 'सर्पतीति' शब्द है। इसका अर्थ है चलती है। परन्तु यह चलती है आँख से मन तक। पहुँचाने का माध्यम है 'ऑप्टिकल नर्व'।

अभिप्राय यह कि भाष्यकार स्वयं अनभिज्ञ हैं और सूत्रकार की ठीक बात को भी ग़लत कर रहे हैं। वे इतना भी नहीं समझ सके कि यदि कोई वस्तु अँधेरे में पड़ी हो तो कितना भी आँख फाड़-फाड़कर देखें, वह वस्तु दिखाई नहीं दे सकती। दिखाई देनेवाली वस्तु से प्रकाश आँख तक आना चाहिए, तब ही आँख की वृत्ति (देखने की शक्ति) चलती है। किधर को? निःसन्देह मन को।

सूत्रकार यह अनर्थ कर रहा है कि जो सांख्य का विषय नहीं उसे सांख्य में और कपिल के नाम पर कह रहा है और भाष्यकार अपनी अल्पज्ञता के कारण मिथ्या अर्थ कर रहे हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इन सूत्रों को न्याय और वैशेषिक से प्रभावित करते हैं। तो क्या न्याय और वैशेषिकदर्शन सांख्य का विरोध करते हैं? हमें कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार अन्धकार में अन्धों की भाँति टटोलते हुए जा रहे हैं।

हमारा निश्चित मत है कि कपिल द्वारा लिखा सांख्य तीन अध्यायों में समाप्त हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है और जो कुछ पीछे के तीन अध्यायों में लिखा जा रहा है वह कपिल का कहा तथा लिखा नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी सूत्र अशुद्ध हैं।

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥१०८॥

पदच्छेद—न, द्रव्य-नियमः, तद्-योगात्।

अर्थात्—नहीं है द्रव्य होने की व्यवस्था उस (वृत्ति) का (आँख से) योग होने से।

आँख की वृत्ति, देखने की शक्ति, आँख से सम्बन्ध रखती है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह आँख द्रव्य का कोई भाग है।

वास्तव में यह बात सूत्रकार-प्रक्षेपक ऊपर (५-१०७) में कह आया है। वह इन सूत्रों द्वारा व्यर्थ में अपनी सूत्र लिखने की योग्यता का प्रदर्शन कर चुका है।

द्रव्य का अर्थ है कोई वस्तु अथवा वस्तु का भाग। कार्य-जगत् की प्रत्येक वस्तु में तीन पदार्थ होते हैं—द्रव्यत्व, गुणत्व और धर्मत्व। यह वैशेषिक दर्शन का मत है। द्रव्य का अर्थ है उसमें वस्तु-तत्त्व। अतः आँख में लगी वस्तु-तत्त्व का भाग उसकी वृत्ति (देखने की सामर्थ्य) नहीं, यद्यपि वृत्ति का सम्बन्ध आँख के भागों से है।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥ १०९ ॥

पदच्छेद—न, देशभेदे, अपि, अन्योपादानता, अस्मदादिवत्, नियमः।

अर्थात्—देशभेद होने पर भी दूसरे का उपादान होना, व्यवस्था नहीं, हमारी (मनुष्यों की) भाँति।

आँख और दिखाई देनेवाली वस्तु में देश-भेद होने पर भी, अभिप्राय यह कि दोनों एक-दूसरे से दूर-दूर होने पर भी, उनमें उपादानता है। जैसे मनुष्य की आँख में है वैसे ही दूसरे प्राणियों में भी वस्तु-तत्त्व वैसा ही रहता है।

हमारी भाँति का अभिप्राय है मनुष्य की आँख की भाँति।

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥

पदच्छेद—निमित्त-व्यपदेशात्, तत्, व्यपदेशः।

अर्थात्—निमित्त के कथन से उसका कथन हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सब लोग कहते हैं कि आँख देखती है। वस्तुस्थिति यह है कि आँख नहीं देखती। देखनेवाली शक्ति है जो आँख का भाग नहीं। न ही आँख का गुण है (सूत्र ५-१०७)। इस पर भी कथन में आता है कि आँख देखती है। यह इस कारण कि ऐसा कहने में आता है। देखने में आँख निमित्त है, इस कारण ऐसा कहा जाता है।

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकश्चेति न नियमः ॥ १११ ॥

पदच्छेद—ऊष्मज-अण्डज-जरायुज-उद्भिज्ज, सांकल्पिक, सांसिद्धिकम्, च, इति, न, नियमः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—ऊष्मज गर्मी से उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, जैसे ऊनी कपड़े को लग जाने वाले कीड़े हैं। अण्डज—जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं, जैसे पक्षी इत्यादि। जरायुज वे हैं जो जेर में पलते हैं, जैसे मनुष्य, पशु इत्यादि। उद्भिज्ज—जैसे पेड़-पौधे आदि। सांकल्पिक—जो ऋषि, योगी आदि कहलाते हैं और जो स्वेच्छा से जन्म लेते हैं, जैसे कृष्ण ने कहा है कि मैं इच्छा से जन्म लेता हूँ। सांसिद्धिक—कल्प के आरम्भ में विना माता-पिता के जन्म लेनेवाले।

हम समझते हैं कि यह श्रेणियों में विभाजन जन्म-स्थान तथा जन्म के समय रक्षा के साधनों के कारण है। यह किसी सिद्धान्त के ऊपर आधारित नहीं। सिद्धान्त यह है कि सब प्राणी एक ही प्रकार से उत्पन्न होते हैं। सबमें शुक्राणु और डिम्ब के संयोग से भ्रूण बनता है और वह भ्रूण पीछे जाकर प्राणी बनता है। दूसरा कोई प्रकार नहीं।

कल्प के आरम्भ में भी सृष्टि माता-पिता से हुई है। माता पृथिवी रही है और पिता सूर्य रहा है।

यदि गर्मी-सर्दी इत्यादि से रचना में भेद किया जाए तो एक हज़ार एक प्रकार के भेद हो जाएँगे। शास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति के समय चार प्रकार के पालन करने के माध्यम लिखे हैं। यह सृष्टि-रचना में भेद नहीं। रचना तो सर्वत्र शुक्राणु और डिम्ब के संयोग से ही होती है। भ्रूण की रक्षा के लिए जेर, अण्डा, भूमि और स्वेद, ये चार माध्यम कहे हैं। जेर अथवा अण्डे की भान्ति स्वेद भी शुक्राणु और डिम्ब से बने भ्रूण की रक्षा में माध्यम ही हैं। ये चार माध्यम न तो प्राणियों की जातियों के सूचक हैं और न ही उत्पत्ति में अन्तर का सूचक हैं। ये तो भ्रूण की रक्षा के प्रकार हैं।

सांकल्पिक के विषय में ऋ० १-१६४-८ में कहा है कि सन्तान के लिए सदा माता-पिता को प्राप्त कर।

सर्वेषुपृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत्॥ ११२॥

पदच्छेद—सर्वेषु, पृथिवी-उपादानम्, असाधारण्यात्, तद्-व्यपदेशः, पूर्ववत्।

अर्थात्—सब प्रकार की (सृष्टि) में पृथिवी असाधारण रूप से उपादान होने से, ऊपर कहे अनुसार कहा जाता है।

इसका अभिप्राय है कि पृथिवी के अतिरिक्त अन्य महाभूत सामान्य रूप में उपादान कारण हैं।

असाधारण और सामान्य में भेद कहे जाने के कारण भाष्यकारों को सांख्यदर्शन के कथन 'पाञ्चभौतिको देहः' के विरुद्ध कहने का अवसर मिल गया।

हम समझते हैं कि पृथिवी शरीर का आकार-प्रकार निश्चय करने में विशेष है। फिर भी देह-रचना में पाँचों भूत समान रूप में कार्य करते हैं। देह की रचना, देह का पालन और देह की वृद्धि तथा ह्रास में पाँचों-के-पाँचों भूतों का समान सहयोग होता है। जैसे अण्डे का छिलका अण्डे के आकार-विस्तार का निश्चय करता है, परन्तु अण्डे के आवश्यक अंग तो इस छिलके के भीतर होते हैं। इसी प्रकार देह की रूपरेखा तो देह का कंकाल निश्चय करता है, परन्तु देह का आवश्यक अंग रक्त और मस्तिष्क है। इन दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जल और अन्य महाभूत विशेष अंग बनाते हैं। अतः यह सूत्र सांख्य-सिद्धान्त और वस्तुस्थिति के विरुद्ध है।

प्रक्षेपक न्याय और वैशेषिक के अशुद्ध अर्थ कर सांख्य को भी भ्रान्त कर रहा है।

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ॥ ११३ ॥

पदच्छेद—न, देहारम्भकस्य, प्राणत्वम्, इन्द्रिय-शक्तितः, तत्-सिद्धेः।

अर्थात्—देह के आरम्भ करनेवाला प्राण होना नहीं है इन्द्रियों की शक्ति से, उसकी सिद्धि होने से।

प्रक्षेपक कह रहा है कि देह का बनना प्राण के होने से नहीं होता। इस (देह) की सिद्धि अर्थात् बनना इन्द्रियों की शक्ति से होता है।

इन्द्रिय-शक्ति ही तो प्राण है। शरीर में प्राण ही सब प्रकार के कार्य करते हैं और इन्द्रियों का कार्य भी उनसे ही सम्भव है।

अथर्ववेद में प्राण के नाम से एक सूक्त है। उसमें प्राण के विषय में अति व्याख्या से कहा है। इस सूत्र का एक मन्त्र इस प्रकार है—

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ *(११-४-२४)*

इस मंत्र में कहा है कि प्राण सब उत्पन्न होनेवालों, चेष्टा करनेवालों को वश में किए हुए है। वह धीर (प्राण) आलस्यरहित परमात्मा से मुझे प्राप्त हो।

इस प्रकार दो बातें स्पष्ट हैं—एक, प्राण सबके उत्पन्न होने में साधन है; और दूसरा, सब क्रियाओं को करता है।

यह सूत्र किसी अज्ञानी का लिखा हुआ प्रतीत होता है। वह यह समझता प्रतीत होता है कि प्राण का अर्थ साँस लेना तथा छोड़ना है।

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात् ॥ ११४ ॥

पदच्छेद—भोक्तुः, अधिष्ठानात्, भोगायतन-निर्माणम्, अन्यथा, पूतिभावप्रसंगात्।

अर्थात्—जीवात्मा के स्थित होने से शरीर-निर्माण (होता है), नहीं तो दुर्गन्ध का भाव उत्पन्न हो जाएगा।

इसका अभिप्राय है कि शुक्राणु और डिम्ब के संयोग के होते ही जीवात्मा शरीर में आ जाता है। यदि आत्मा नहीं आएगा तो देह से आत्मा चले जाने के उपरान्त देह में विघटन से दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही इसमें भी होगा। यह भी युक्ति के विरुद्ध है। एक तो सांख्य (सूत्र ३-१३) में कहा है कि कार्य-जगत् जड़ होने पर भी चलता है। कैसे चलता है? यह इस प्रकार है। मानो कोई व्यक्ति एक गेंद को दूर फेंकता है। जब गेंद और हाथ का सम्पर्क नहीं रह जाता, तब भी गेंद चलता जाता है और उस गति में बाधक (कोई रुकावट) न हो तो वह गेंद चलता जाएगा। इस प्रकार कार्य-जगत् के पदार्थ जड़ होने पर भी जब चलने लगते हैं तो चलते ही रहते हैं।

गति दो दिशाओं में होती है—संघटन की ओर भी और विघटन की ओर भी। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति में चेतन-तत्त्व आत्मा-परमात्मा का काम उस गति को दिशा, काल और प्रकार प्रदान करता है, जिसे दर्शन-शास्त्रों में ईक्षण करना कहते हैं।

अतः जब एक बार पुरुष-स्त्री-संयोग से शुक्राणु और डिम्ब में संयोग होता है तो यह निर्माण चलता ही रहता है। जीवात्मा इसमें आता है अथवा नहीं आता, यह पृथक् बात है। माँ के शरीर में ऐसी क्रिया होती है जो गतिशील गेंद की भाँति निर्माण-क्रियाओं को रोक सकती है अथवा चालू रख सकती है। मृत पैदा होनेवाले बच्चे इस गति का परिणाम होते हैं। यदि मृत बच्चा समय पर माँ के शरीर से न निकाल दिया जाए तो फिर विघटन आरम्भ हो जाता है। प्रायः यह दस मास पूरे होने पर होता है, अर्थात् दस मास तक बच्चा बनता रहता है। एक बार बनना आरम्भ होने पर बनता ही चला जाता है, चाहे इसमें जीवात्मा आया हो अथवा न आया हो।

अतः इस सूत्र में युक्ति अशुद्ध है कि जीवात्मा के आने पर ही शरीर-निर्माण हो सकता है।

गीता (१५-८) में कहा है कि जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में ऐसे आता है जैसे कि सुगन्धि हवा के साथ आती है।

इसमें एक बात विचारणीय है। वह यह कि क्या जीवात्मा शुक्राणु के साथ ही डिम्ब में जाता है? परन्तु सब शुक्राणु संयुक्त नहीं होते। उनके जीवात्माओं को क्या होता है? यह प्रश्न है।

अब तक यह अणुवीक्षण यन्त्र से देखा गया है कि मनुष्य के वीर्य में सहस्रों ही शुक्राणु स्त्री के गर्भाशय में एक समय में फेंके जाते हैं और वे शुक्राणु डिम्ब के चारों ओर से आक्रमण कर उसके भीतर जाने का यत्न करते हैं। परन्तु एक ही जा पाता है। तब उस डिम्ब का द्वार बन्द हो जाता है और शेष वहाँ ही कुछ काल के उपरान्त मर जाते हैं।

विचारणीय बात यह है कि यदि यह मानें कि जीवात्मा शुक्राणु के साथ ही जाता है तो शेष शुक्राणुओं के साथ उनके जीवात्माओं की दुर्गति होती होगी। अतः यह कथन अयुक्तियुक्त है।

होता यह है कि शुक्राणु प्राण (ईश्वरी शक्ति) से ले-जाए जाते हैं। यह प्राण जहाँ डिम्ब की प्राण-शक्ति से मिल जाता है वहाँ निर्माण चलता है, और जहाँ वे दोनों नहीं मिलते वहाँ की शक्ति कुछ काल तक सक्रिय रहकर निष्क्रिय हो जाती है।

जीवात्मा उस बच्चे के शरीर में अधिष्ठित कब होता है? भ्रूण बनने के पीछे ही अधिष्ठित होता प्रतीत होता है। कितना पीछे? इसमें भिन्न-भिन्न मत हैं। यह निश्चय है कि प्रकृति की परिवर्तन की गति तो जीवात्मा के बिना भी चल सकती है। यह है प्राण के बल-संवेग से। यह वही शक्ति है जो गेंद फेंकने के समय गेंद में चली जाती है और गेंद में काम करती रहती है, जब तक कि वायु की बाधा उस गति को निःशेष नहीं कर देती।

यह सूत्र भी अयुक्तिसंगत, अप्रमाणित और वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है।

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात्॥ ११५॥

पदच्छेद—भृत्य-द्वारा, स्वामि-अधिष्ठितिः, न, एकान्तात्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथात्—भृत्य के द्वार। (ही) स्वामी अधिष्ठित होता है, अकेला नहीं।

जीवात्मा भृत्य (प्राण) की सहायता से ही अधिष्ठित होता है, अकेला नहीं हो सकता।

यह बात तो ठीक है, परन्तु पूर्व-सूत्र (५-११२) में तो प्रक्षेपक कह चुका है कि देह का आरम्भ प्राण के होने से नहीं। यह परस्पर-विरोधी बात है।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ ११६ ॥

पदच्छेद—समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु, ब्रह्मरूपता।

अर्थात्—उसमें (परमात्मा में) स्थित होने को मोक्ष कहा है। और बार-बार अभ्यास (इस स्थिति में होने का यत्न) करने से आनन्दमय हो जाता है।

ब्रह्मरूपता क्या है? यह ब्रह्मसूत्रों में कही है। वहाँ कहा है—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥
आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ *(ब्र० सू० १-१-७, १२)*

ब्रह्मरूपता का यह स्वरूप है, अर्थात् आनन्दमय होना।

यह अवस्था सुषुप्ति में नहीं होती। वहाँ शून्यता (न आनन्द न दुःख) है। इस कारण यह आनन्दमय नहीं और ब्रह्मरूपता नहीं।

श्री उदयवीर शास्त्री कहते हैं कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ब्रह्मरूपता है। यह बात उन्होंने सांख्य सूत्र १-१ के अशुद्ध अर्थ करने से समझी है।

उस सूत्र का अर्थ जैसा कि हमने वहाँ बताया है, इस प्रकार है—

अब तीन प्रकार के दुःखों का, अतिशय निर्मूल करने के उपाय बताने के लिए (इस ग्रन्थ को लिखा जा रहा है)।

शास्त्रीजी ने अन्य भाष्यकारों का अनुकरण करते हुए पुरुषार्थ का अर्थ मुक्ति किया है। हम समझते हैं कि इसका अर्थ प्रयत्न है।

दुःखों की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष नहीं भी हो सकता। मोक्ष और आनन्दमय होना पर्यायवाचक हैं।

क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में दुःखों से निवृत्ति तो होती है, परन्तु आनन्दमयता नहीं होती।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ ११७ ॥

पदच्छेद—द्वयोः, सबीजम्, अन्यत्र, तद्धतिः।

अर्थात्— दोनों (समाधि और सुषुप्ति) में बीज-सहित (स्थिति) है, अन्य (मुक्ति) में उस (बीज) की हानि है।

यहाँ बीज से अभिप्राय है वह स्थिति जो सामान्य रूप में होती है। उदाहरण के रूप में सुषुप्ति अवस्था से पहले जाग्रत् अवस्था की स्थिति है। समाधि से पूर्व समाधि न होने पर जो स्थिति होती है।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि इन दो अवस्थाओं में पूर्व की स्थिति का बीज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपस्थित रहता है। जैसे बीज से वृक्ष बन जाता है वैसे ही समाधि और सुषुप्ति अवस्था से पहले की स्थिति पुनः लौट आती है। अन्य में अर्थात् मोक्ष में पूर्व की अर्थात् मोक्ष से पहले की अवस्था का बीज नहीं रहता, अर्थात् मोक्ष से जीवात्मा अपनी पूर्व की स्थिति में नहीं लौटता।

यह बात भी अशुद्ध है। मोक्ष से भी लौटना होता होता है। यदि लौटना होता है तो मोक्ष में पूर्व की स्थिति भी बीजरूप में उपस्थित रहती माननी होगी।

इस विषय में ब्रह्मसूत्र और वेदों का यही मत है कि मोक्षावस्था से भी लौटना होता है। ब्रह्मसूत्रों में मोक्षावस्था को विकारयुक्त माना है। ब्रह्मसूत्र ४-१९ और ऋग्वेद १-२४-१,२ में मुक्त आत्माओं के पुनः इस जन्म में आने की बात कही है।

अतः सूत्र प्रक्षिप्त है। यह वेद-विरुद्ध है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार भी जो अवस्था आरम्भ होती है, वह अन्तवाली होगी। अतः मोक्षावस्था में भी मोक्ष से पूर्व की अवस्था का बीज रहता है।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ॥

द्वयोः, इव, त्रयस्य, अपि, दृष्टत्वात्, न, तु, द्वौ॥ ११८॥

पदच्छेद—अर्थात्—दोनों के समान तीसरी का भी, दिखाई देने से तो दो नहीं।

इसका अभिप्राय है कि दोनों स्थितियों (सुषुप्ति तथा समाधि) के समान तीसरी का भी (अस्तित्व) है देखे जाने से। केवल दो ही नहीं हैं। सूत्रकार अयुक्तिसंगत बात यह कर रहा है कि सुषुप्ति और समाधि को मोक्षावस्था के तुल्य मान रहा है। वे तुल्य हैं नहीं, अर्थात् सूत्र ५-११६ अशुद्ध है और इस अशुद्धि को टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियों से वह सिद्ध करना चाहता है। वास्तव में तीनों में कोई तुलना नहीं है। समाधि-अवस्था मोक्षावस्था नहीं कही जा सकती। समाधि-अवस्था में आत्मा किसी एक विचार में लीन हो संसार की अन्य बातों को भूल जाता है। मोक्षावस्था में वह किसी बात को भूलता नहीं, वरन् वह सब-कुछ जानता हुआ संसार में लिप्त नहीं होता। कारण उसका विवेक है।

समाधि भी दो प्रकार की मानी है। एक सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसे समापत्तिः भी कहते हैं (यो० द० १-४१)। दूसरी प्रकार की समाधि है निर्विचार समाधि। इस समाधि में चित्त की सब वृत्तियों का निरोध होकर जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि समाधि में भी किसी एक विषय में लीन होने की बात तो है। सुषुप्ति-अवस्था में तो किसी में भी लीन नहीं होता। उसमें चित की वृत्ति शून्यता में लीन होती है।

परन्तु मोक्षावस्था इन दोनों से भिन्न होती है। न तो जीवात्मा शून्य में लीन होता है और न ही यह किसी एक बात में लगा होता है। उस अवस्था में वह चेतन, सजग, सक्रिय तथा ज्ञानमय और सतर्क हो जाता है।

ये सब सूत्र अयुक्त, अप्रामाणिक और सांख्य-विरोधी हैं।

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्॥ ११९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदच्छेद—वासनया, अनर्थख्यापनम्, दोषयोगे, अपि, न निमित्तस्य, प्रधानबाधकत्वम्।

अर्थात्—वासना के द्वारा अर्थ (विषयों) का ज्ञान नहीं होता, दोष (निद्रा) के योग से भी प्रधान का बाधक न होने के निमित्त (कारण) का।

इस सूत्र का पाठ भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न दिया है। उदाहरण के रूप में विज्ञानभिक्षु इस प्रकार लिखते हैं—

वासनया न स्वामीख्यापनं दोष योगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्।

हमने श्री उदयवीर शास्त्री का पाठ लिया है।

इसका अभिप्राय यह बनता है कि सुषुप्ति में निद्रा के योग से वासना के द्वारा विषयों का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि निमित्त की मुख्य बाधा होने के कारण। जब मनुष्य सुषुप्ति-अवस्था में होता है तब निद्रा के कारण भी मुख्य बाधा नहीं होती। इस पर भी विषयों का ज्ञान नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार यह प्रकट करना चाहता है कि निद्रा में वासना के कारण विषयों का ज्ञान नहीं होता। यद्यपि निद्रा की मुख्य बाधा होती है। निद्रा हटते ही विषयों का ज्ञान होने लगता है।

सूत्रकार यहाँ क्या सिद्ध करना चाहता है, वह स्पष्ट नहीं हुआ। परन्तु इस अस्पष्ट तथा अर्थहीन सूत्र से अर्थ निकालने के यत्न में भाष्यकारों ने व्यर्थ की ऊहापोह की है, और जैसा कि हमने ऊपर बताया है कि कुछ-एक ने तो सूत्र-पाठ को भी बदल दिया है।

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः ॥१२०॥

पदच्छेद—एकः, संस्कारः, क्रियानिर्वर्त्तकः, न, तु, प्रतिक्रियम्, संस्कारभेदाः, बहुकल्पनाप्रसक्तेः।

अर्थात्—एक संस्कार (संवेग) ही क्रिया के सम्पन्न होने तक चलता है, पग-पग पर नया संस्कार नहीं आता, (यदि ऐसा मानेंगे) तो संस्कार में भेद प्रसक्त होगा।

यहाँ संस्कार से अभिप्राय है किसी कार्य में कारण। जब एक व्यक्ति एक गेंद को बल से दूर फेंकता है और फेंकने के बाद उसका सम्पर्क गेंद से नहीं रहता, तब भी गेंद हवा में चलता जाता है। उसके चलने में वह बल होता है जो उसको फेंकने के समय दिया गया है। इसे संवेग कहते हैं। जिस बल अर्थात् शक्ति से इसको गति दी जाती है, उसी शक्ति से यह चलता जाता है। सूत्रकार का कहना है कि जो बल अथवा शक्ति से संवेग इसमें बनता है, वह एक ही है। प्रतिक्षण उसमें नयी शक्ति नहीं आती। यदि ऐसा मानेंगे तो संवेगों में भेद मानना होगा।

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१ ॥

पदच्छेद—न बाह्यबुद्धिनियमः, वृक्ष, गुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोक्तृभोगायतनत्वम्, पूर्ववत् ।

अर्थात्—बाहर का ज्ञान नहीं होता वृक्ष, गुल्म, लता, ओषधि, वनस्पति, तृण, वीरुध आदि स्थावरों में। ये जीवात्मा के भोग-स्थान होते हैं जैसे अन्य प्राणियों में।

हमने बाह्य बुद्धि का अर्थ किया है बाहर का ज्ञान। इससे हमारा अभिप्राय है, स्थावरों से बाहर के संसार में हो रहे घटन-विघटन का ज्ञान। उदाहरण के रूप में एक वट वृक्ष के नीचे बैठा कोई योगी तपस्या कर रहा है, अथवा कोई भोगी किसी स्त्री से बलात्कार कर रहा है। वट वृक्ष को इसका ज्ञान नहीं होता। इन वृक्षादि को केवल उनका ही ज्ञान होता है जो इनके सम्पर्क में आकर इन पर प्रभाव डालते हैं। जीवात्माओं को ये शरीर भोग करने के लिए मिलते हैं। इसी कारण हमने कहा है कि कोई घटना जब इन पर प्रभाव डालनेवाली है तो इनको ज्ञान होता है। अन्यथा इनके भोग की पूर्ति कैसे होती ?

स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥

अर्थात्—और स्मृतियों में भी (ऐसा कहा है।)

मनुस्मृति (१२-९) में इसका वर्णन है। वहाँ कहा है कि ये (स्थावर) शरीर पाप-कर्मों का फल भोगने से प्राप्त होते हैं।

न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वंष्ट् वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥१२३ ॥

पदच्छेद—न, देहमात्रतः, कर्माधिकारित्वम्, वैशिष्ट्यश्रुतेः ।

अर्थात्—केवल देह के होने के कर्म करने का अधिकारी होना (सम्भव नहीं) देह-वैशिष्ट्य के वर्णन से।

इसका अभिप्राय है कि देह होते हुए भी जीवात्मा को कर्म करने का अधिकार नहीं हो सकता। यह स्थावरों के सन्दर्भ में कहा गया प्रतीत होता है।

प्रक्षेपक का मत यह प्रतीत होता है कि स्थावर कुछ कर्म नहीं कर सकते। यह बात विवादास्पद है। कम-से-कम कुछ स्थावर कर्म करते हुए भी देखे जाते हैं। कुछ लताएँ ऐसी हैं जो चलते-चलते पशु अथवा समीप की वस्तुओं को पकड़कर उनका रक्त (रस) चूस जाती हैं। वैसे भी वनस्पतियाँ अपना जीवन चलाने के लिए कर्म करती ही हैं।

कर्म बिना शरीर के सम्भव नहीं। अतः शरीर और कर्म का अनिवार्य सम्बन्ध है। जहाँ वनस्पतियों को केवल भोग-योनि कहा है, वहाँ भोग के लिए कर्मों को स्वीकार किया गया है। भोग स्वतः एक प्रकार का कर्म है।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ॥ १२४ ॥

पदच्छेद—त्रिधा, त्रयाणाम्, व्यवस्था, कर्मदेह-उपभोगदेह-उभयदेहाः ।

अर्थात्—तीन की तीन प्रकार से व्यवस्था है—कर्म-देह, उपभोग-देह और उभय (कर्म-उपभोग) देह।

अभिप्राय यह है कि देह से तीन प्रकार के व्यवहार की व्यवस्था है। एक में कर्म-देह कही जाती है, दूसरी में उपभोग-देह कही जाती है और तीसरी व्यवस्था में दोनों प्रकार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म और उपभोग, की देह कही जाती है।

यहाँ मनुष्य, पशु इत्यादि के वर्ग नहीं कहे। चारों प्रकार की योनियोंवाली देहें (जेरज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज) कर्म, उपभोग, तथा कर्म और उपभोगवाली हो सकती हैं। उदाहरण के रूप में मनुष्य जेरज है। इसमें ही तीनों श्रेणियों की देहोंवाले प्राणी हो सकते हैं। इसी कारण कुछ मनुष्यों को शूद्र-वृत्तिवाले, कुछ को ब्राह्मण-वृत्ति वाले कहा है। जो केवल शूद्र का कर्म ही कर सकते हैं, वे केवल भोग-देहवाले हैं। प्रायः मनुष्य कर्म और उपभोग दोनों प्रकार की स्थितिवाली देह रखते हैं। मनुष्यों में ही ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो कर्म निष्काम भाव से करते हैं। उनकी उपभोग-वृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार अन्य जीव-जन्तुओं में भी होता है। अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज भी तीनों प्रकार की व्यवस्थावाली देह कही जाती हैं।

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ॥ १२५ ॥

पदच्छेद—न, किञ्चित्-अपि, अनुशयिनः ।

अर्थात्—कुछ भी नहीं (होता) जब (जीवात्मा) अनुशयी अर्थात् शरीर बदलने की अवस्था में होता है।

जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जा रहा होता है, उस समय यह न तो कर्म-देह में, न उपभोग-देह में और न ही दो प्रकार की व्यवस्थावाली देह में होता है। अभिप्राय यह कि सूक्ष्म शरीर की उपर्युक्त तीन व्यवस्थाएँ नहीं हैं।

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥ १२६ ॥

पदच्छेद—न, बुद्धि-आदि-नित्यत्वम्, आश्रय-विशेषे, अपि, वह्निवत् ।

अर्थात्—बुद्धि आदि (मन और बुद्धि) अनित्य हैं, आश्रय-विशेष में भी, जैसे अग्नि।

'आश्रय-विशेष' का अभिप्राय है विशेष शरीर में। जैसे अग्नि किसी भी प्रकार की लकड़ी में हो, अग्नि ही है।

यह उदाहरण असंगत है, क्योंकि बुद्धि आदि तो अनित्य है, परन्तु अग्नि नित्य है। वह चाहे किसी भी शरीर में रहे। वह उससे बाहर निकल जाती है, परन्तु विनष्ट नहीं होती। अग्नि चाहे पार्थिव पदार्थों की हो और चाहे अन्तरिक्ष की हो, वह नित्य है, क्योंकि यह परमात्मा का लिंग है। परमात्मा नित्य होने से उसका लिंग भी नित्य है।

आश्रयासिद्धेश्च ॥ १२७ ॥

पदच्छेद—आश्रय-असिद्धेः, च ।

अर्थात्—और आश्रय की असिद्धि से।

प्रक्षेपक बुद्धि का आश्रय किसको समझता है? यह यहाँ स्पष्ट नहीं किया कि यह शरीर है अथवा कुछ और है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारण भाष्यकारों ने कल्पना के घोड़े दौड़ाए हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री अपने भाष्य में लिखते हैं—

'यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, तो बुद्धि आदि के आश्रय की असिद्धि प्राप्त हो जाएगी। अभिप्राय यह कि किसी भी स्थिति में बुद्धि आदि के अस्तित्व के लिए आत्मा का अस्तित्व अवश्यम्भावी अपेक्षित रहता है।....'

प्रायः आश्रय का अर्थ उद्गम-स्थान माना जाता है। इससे बुद्धि और मन महद् के आश्रय हैं। महद् अविनाशी नहीं। इसी से बुद्धि जो महद् का अंश है, नित्य नहीं है।

जीवात्मा को तो बुद्धि ऐसे ही मिलती है जैसे शरीर मिलता है। जैसे जीवात्मा और शरीर का सम्बन्ध अनित्य है, वैसे ही बुद्धि और जीवात्मा का सम्बन्ध भी अनित्य है। परन्तु सूत्र अस्पष्ट है।

योगासिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥ १२८ ॥

पदच्छेद—योगसिद्धयः, अपि, औषधादि-सिद्धिवत्, न, अपलपनीयाः ।

अर्थात्—जैसे औषध आदि से लाभ होता है, वैसे ही योग की सिद्धियाँ हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

योग की सिद्धियाँ अणिमा, गरिमा, इत्यादि भी योग से सिद्ध होती हैं। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

इन सिद्धियों का पातञ्जल के योगदर्शन के विभूति पाद में वर्णन है। उन्हीं के विषय में कहा है।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥ १२९ ॥

पदच्छेद—न, भूत-चैतन्यम्, प्रत्येकादृष्टेः, सांहत्ये, अपि, च, सांहत्ये, अपि, च।

अर्थात्—पृथक्-पृथक् में न देखे जाने से भूतों में चेतनता नहीं, और उनके संघात में भी (चेतना) नहीं।

इस अध्याय में कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनमें सांख्य-सिद्धान्तों का ही निरूपण है, परन्तु अधिकांश सूत्र सांख्य-विरुद्ध और युक्ति से असिद्ध हैं। हमारा मत है कि इस अध्याय के सूत्र कपिल मुनि के कहे हुए नहीं हैं। इसमें कुछ युक्तियाँ तो हमने भाष्य में ही दी हैं और कुछ भूमिका में कही हैं।

पाँचवें अध्याय से एक नवीन ग्रन्थ की रचना का आरम्भ हुआ है। अगला षष्ठ अध्याय भी उसके साथ ही सम्बद्ध है। इसके आरम्भ में मंगलाचरण गाया गया है, अर्थात् इन अध्यायों के लिखने से पूर्व मंगल की कामना की गई है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये दोनों अध्याय एक पृथक् ग्रन्थ होते हुए भी क्या कपिल मुनि के कहे गए हैं? इसमें हमारा मत है कि नहीं। युक्ति के ढंग, सूत्रों के गठन और वेद की कसौटी पर परखने से ये अध्याय कपिल मुनि के लिखे प्रतीत नहीं होते। हमने प्रत्येक सूत्र पर अपने भाष्य में उसकी भाषा, उसके भाव और उसकी पूर्व के तीनों अध्यायों से तुलना करने का यत्न किया है और यह सब करने पर हमारा मत ऐसा ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही बात षष्ठ अध्याय के विषय में है। उसके भी प्रत्येक सूत्र में हम अपने विचार और उन सूत्रों में दी गई युक्तियों तथा उनके कथन के ढंग में शिथिलता और अनुपयुक्तता का वर्णन करेंगे।

सांख्यदर्शन के कितने अध्याय हैं? इस विषय में हमने अपना मत भूमिका में वर्णन किया है। हम समझते हैं कि सांख्यदर्शन के तीन अध्याय ही हैं और इन तीन अध्यायों को लिखकर सूत्रकार ने कृतकृत्यता प्रकट कर दी है।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठोऽध्यायः

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—अस्ति, आत्मा, नास्तित्व-साधन-अभावात् ।

अर्थात्—आत्मा है, न होने के प्रमाणों के अभाव से ।

इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में आत्मा है । न होना असिद्ध है; क्योंकि प्रमाणों का अभाव है ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि क्या किसी वस्तु के न होने में भी प्रमाणों की आकांक्षा की जा सकती है ? एक दृष्टि से की जा सकती है । जैसे गाँव में कोई व्यक्ति बन्दूक की गोली से मारा गया पड़ा मिलता है । गाँव में केवल एव व्यक्ति के पास बन्दूक है । इससे उसे पकड़कर उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसने उस मनुष्य की हत्या की है । वह कहता है कि उसने नहीं की, और कहता है कि उसके द्वारा हत्या करने के प्रमाणों का अभाव है ।

उसने हत्या नहीं की, क्योंकि प्रमाणों का अभाव है—यह युक्ति तब ही चल सकती है, जब वह हत्या के समय किसी अन्य स्थान पर अपनी उपस्थिति का प्रमाण दे । तब ही प्रमाण का अभाव कहा जा सकता है । अन्यथा किसी कार्य के करने के तो प्रमाण हो सकते हैं, परन्तु न करने के प्रमाण नहीं हो सकते । अतः उनके अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।

जीवात्मा के विषय में यह कहना कि उसके न होने के प्रमाण का अभाव है तो इसका अर्थ निकलेगा कि जिस जीवात्मा के विषय में बात हो रही है, वह उस समय वहाँ नहीं, वरन् कहीं अन्यत्र देखा गया है । यह आत्मा के विषय में नहीं कहा जा सकता ।

अतः हमारा विचार है कि आत्मा के न होने के प्रमाण का अभाव है, यह एक अस्वाभाविक और अयुक्ति-संगत कथन है । जो वस्तु नहीं, उसके न होने के प्रमाण का अभाव तो होगा ही । उसके न होने में प्रमाण का न होना युक्ति नहीं ।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—देहादिव्यतिरिक्तः, असौ, वैचित्र्यात् ।

अर्थात्—देहादि (देह, इन्द्रियाँ, बुद्धि इत्यादि) के अतिरिक्त वह (आत्मा) विलक्षण होने से ।

वास्तव में इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन भी देह के अन्तर्गत हैं । इस कारण आदि का पद निरर्थक है ।

यह तो मानना ही पड़ेगा, यदि पहले यह सिद्ध कर दिया जाए कि क्रियाशील देह में आत्मा है । यह अभी सिद्ध हुआ नहीं । प्रथम सूत्र में तो यह कथन है कि आत्मा के न होने में प्रमाण का अभाव है । इतना कहने के उपरान्त जो कुछ उस सूत्र में कहा गया है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी अनुपयुक्तता की व्याख्या हमने ऊपर के सूत्र में कर दी है। इस कारण आत्मा है और वह शरीर से विलक्षण है, यह कथन-मात्र ही है। अभी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नहीं की। सिद्धि होने पर उसमें क्या विचित्रता है, यह भी सूत्रकार ने नहीं बतायी।

यदि ये छूट गई बातें भाष्यकारों को ही बतानी हैं तो सूत्र लिखने का क्या प्रयोजन है? भाष्यकार तो अपने-अपने मन की बात ही बताएँगे।

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

पदच्छेद—षष्ठीव्यपदेशात्, अपि।

अर्थात्—छठी विभक्ति के व्यवहार से भी, यही सिद्ध होता है।

आत्मा के अस्तित्व को प्रमाण-सहित सूत्रकार सिद्ध कर चुका है। तभी वह 'अपि' शब्द का प्रयोग करता है। सूत्र १ तथा २ में तो कही इस बात का प्रमाण नहीं मिला कि जीवात्मा है ऐसा सिद्ध हो गया। दूसरे सूत्र में यह कहा है कि देह से यह विलक्षण है। क्या विलक्षणता है? इसके विषय में कुछ लिखा नहीं और इस सूत्र (६-३) में कह दिया है कि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से भी। यह 'भी' का क्या अर्थ है?

अब षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का अर्थ भी समझ लें। यह कहा जाता है कि मेरा शरीर, मेरी बुद्धि इत्यादि। सूत्रकार कहता है कि इस प्रकार के वाक्य से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा है, तभी तो वह इन वस्तुओं को 'मेरी' कहकर बोलता है।

हम समझते हैं कि भाषा का प्रयोग प्रमाण नहीं हो सकता। यह तो परम्परागत व्यवहार का बोध कराता है।

कोई कहता है कि यह मर गया है। तो क्या इसका यह अर्थ लेंगे कि इसके जीवन में जो कारण था, वह नष्ट हो गया है? अथवा यह कथन-मात्र ही है जो मरने पर व्यवहार में लाया जाता है।

मानो, कोई व्यक्ति अत्यन्त वेदना के कारण कहता है, 'मैं मर गया'। तो क्या उसमें से जीवात्मा मर गया समझा जाएगा? कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा के प्रयोग व्यवहार से बनते हैं। इनके व्यवहार-निर्माण में कोई दार्शनिक तत्त्व रहता है, कहा नहीं जा सकता।

यह युक्ति प्रायः उपनिषत्कार देते देखे जाते हैं और उपनिषत्कार के वचन युक्तियुक्त नहीं होते। वे केवल भाव को प्रकट करते हैं। यही बात षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से प्रतीत होती है।

दर्शन-शास्त्र में इस प्रयोग को प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता।

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—न, शिलापुत्रवत्, धर्मिग्राहकमानबाधात्।

अर्थात्—शिला के पुत्र की भाँति नहीं, धर्मी के ग्रहण करनेवाले, प्रमाण की बाधा होने से।

यह सूत्र सर्वथा अर्थहीन है। शिला का पुत्र नहीं होता—यह ठीक है, परन्तु शिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पुत्र कभी कोई कहता भी है? शरीर और शिला के पुत्र में भला क्या तुलना है? शिला अपने से बनी वस्तु को कभी कहती-सुनी नहीं गई कि यह मेरा पुत्र है। परन्तु प्राणी कहता है कि यह मेरा हाथ है।

'धर्मी के ग्राहक प्रमाण की बाधा से'—इसका अर्थ श्री उदयवीर शास्त्री करते हैं—

"धर्मी—आत्मा के साक्षात् जानने रूप प्रमाण के द्वारा बाधा होने से।"

शास्त्रीजी इसकी और अधिक व्याख्या करते हैं—

"क्योंकि 'मैं'—धर्मी का साक्षात्कार होने पर उस 'मैं' के ग्राहक प्रमाण से उस अवस्था में 'शरीर आत्मा है' इसकी बाधा हो जाती है। आत्मा का बोध होने पर शरीर उसकी बराबरी में नहीं आ पाता।"

श्री ब्रह्ममुनि की इस पद की व्याख्या देखें—

'धर्मी—चेतनधर्मी देह आदि से व्यतिरिक्त आत्मा का ग्रहण करानेवाला मान प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधा जाता है इस हेतु।'

जैसे सूत्रकार की भाषा अस्पष्ट और निरर्थक है वैसे ही इन भाष्यकारों की भाषा भी अस्पष्ट है।

वास्तविक बात यह है कि सूत्र ६-३ में कहा है कि षष्ठी का प्रयोग मनुष्य करता है, इस कारण जीवात्मा की सिद्धि है। हमने उस सूत्र में असंगति यह बतायी है कि भाषा का व्यवहार युक्तियुक्त और सिद्धान्तानुसार हो, आवश्यक नहीं। इस कारण षष्ठी का प्रयोग निर्णयात्मक प्रमाण नहीं है।

सूत्रकार को भी अपनी अनर्गलता का ज्ञान हुआ है, परन्तु उसने जो संशय वर्णन किया है, वह जान-बूझकर ऐसा उपस्थित किया है जो अयुक्त है, और फिर स्वयं वह उसकी अयुक्ति प्रकट करने लगा है। भाषा व्यवहार से बनती है। व्यवहार बनानेवाले दार्शनिक नहीं होते; प्रायः साधारण अशिक्षित लोग होते हैं। इससे भाषा में किसी प्रकार का प्रयोग किसी सिद्धान्त का निर्णायक प्रमाण नहीं। परन्तु जो संशय सूत्रकार ने उपस्थित किया है वह आपत्ति को प्रकट नहीं करता।

यह शिथिल युक्ति करनेवालों का आचरण है।

अब सूत्रकार विषय बदल रहा है; परन्तु क्या उसने आत्मा की सिद्धि कर दी है? वास्तव में सांख्याचार्य जो कुछ प्रथम अध्याय के सूत्र १३८ से १६० में कह चुका है, इन चार सूत्रों में उससे कुछ भी अधिक कहा गया है क्या?

सूत्र ६-१ में कहा है कि आत्मा है, इसके न होने के प्रमाणों के अभाव से। आत्मा के होने के प्रमाण तो हो सकते हैं और हैं भी। भला, जो वस्तु है ही नहीं, उसका प्रमाण क्या होगा? सदा होने का ही प्रमाण हो सकता है। अस्तित्व के प्रमाणों के अभाव को प्रमाण होना कहना तो बुद्धि का दिवाला ही है।

सूत्र ६-२ में कहा है कि यह देहादि से विलक्षण है। यह भी केवल वक्तव्य है; तर्क नहीं।

सूत्र ६-३ में कह दिया कि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से भी आत्मा की सिद्धि होती है। भाषा के व्यवहार से दार्शनिक सिद्धान्तों की सिद्धि होने लगी है—यह अनुपयुक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र ६-४ में अपनी कही बात (सूत्र ६-३) पर आपत्ति की है, परन्तु आपत्ति जान-बूझकर ऐसी की है जो इस स्थान पर उपयुक्त नहीं।

इस कारण हम इन सूत्रों को सांख्याचार्य कपिल का रचा नहीं मानते। हम समझते हैं कि जो कुछ सूत्र १-१३८ से १६० तक में पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है, उनसे हटकर ये सूत्र कोई नई युक्ति उपस्थित नहीं करते।

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥ ५ ॥

पदच्छेद—अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या, कृतकृत्यता।

अर्थात्—दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से पूर्ण सफलता (जीवन की) अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति कही जाती है।

यह विवेक से प्राप्त होती है—ऐसा सांख्याचार्य का मत है। यह आचार्य तीसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र में कह चुका है। वहाँ कहा है—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्।

(सांख्य ३-८४)

इस कथन के उपरान्त छठे अध्याय में पुनः इस विषय को चालू किया गया है। इस अध्याय को लिखनेवाला कहना चाहता है—

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—यथा, दुःखात्, क्लेशः, पुरुषस्य, न, तथा, सुखात्, अभिलाषः।

अर्थात्—जैसे दुःख से क्लेश पुरुष को (होता है), नहीं वैसे सुख से अभिलाषा।

सूत्र की भाषा के विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में भाषा अटपटी है। हम सूत्र के भाव का ही विश्लेषण करना चाहते हैं।

जीवात्मा को दुःख से ही क्लेश (द्वेष) होता है, परन्तु सुख की अभिलाषा नहीं होती। होती तो है। यह देखने में आता है कि कई प्रकार से अंगहीन पुरुष भी स्त्री-सुख की अभिलाषा करते हैं, अर्थात् अंगहीन होने का दुःख पृथक् बात है और सुख-प्राप्ति पृथक् है। टाँग में पीड़ा होते हुए भी लोग नाटक देखने चले जाते हैं।

सांसारिक व्यवहार में हम देखते हैं कि दुःखों की निवृत्ति के अतिरिक्त सुख-प्राप्ति की अभिलाषा भी होती है। इसका यह अर्थ है कि दुःख की निवृत्ति नहीं चाहिए। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सुख-प्राप्ति की अभिलाषा भी है। मोक्षावस्था में आनन्द की प्राप्ति भी आकर्षण है। यह नहीं कहा जा सकता कि दुःखों की निवृत्ति ही आनन्द है। ऐसा कहीं नहीं लिखा। इसके विपरीत एक वेद-मन्त्र है—'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव यद्भद्रं तन्न आ सुव।' यहाँ बुरी बातें दूर करने के साथ अच्छी बातों को लाने के लिए भी स्पष्ट रूप से कहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह घोष कि दुःखों की निवृत्ति ही लक्ष्य है, अद्वैतवादियों का है। वे मानते हैं कि जीवात्मा उपाधि-भेद से दुःख अनुभव करता है। वास्तव में वह पूर्णानन्द परमात्मा का अंश ही है। उपाधि से छूटते ही वह स्वतः आनन्दमय हो जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि जीवात्मा परमात्मा से पृथक् तत्त्व है तो जीवात्मा में परमानन्द-प्राप्ति की अभिलाषा माननी पड़ेगी।

हम समझते हैं कि यह सूत्र अद्वैतवादियों के प्रभाव में आकर कहे गए हैं। सूत्र १-१ में पुरुषार्थ का अर्थ मुक्ति करना भी अद्वैतवादियों के प्रभाव का फल प्रतीत होता है। अन्यथा पुस्तक के आरम्भ में उस सूत्र की उपस्थिति वही अर्थ प्रकट करती है जो हमने किए हैं। सांख्यदर्शन दुःखों की निवृत्ति का उपदेश करता है और बताता है कि यह विवेक से प्राप्त होती है। जब पुरुष और प्रकृति में भेद पता चल जाता है तो शरीर के कष्ट और मन के क्लेश जीवात्मा के दुःख का कारण नहीं हो सकते। वह मनुष्य इस मानव-शरीर में रहता हुआ भी प्राप्त कर लेता है। ऐसे मनुष्य को सांख्याचार्य जीवन-मुक्त कहता है। ये जीवन-मुक्त मनुष्य दुःखों से छूट जाने पर भी मुक्तावस्था की अभिलाषा करते हैं, वहाँ की आनन्दमय स्थिति के लिए।

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥

पदच्छेद—कुत्र, अपि, कः, अपि, सुखी-इति।

अर्थात्—कहीं ही कोई ही सुखी देखा जाता है।

क्या यह इस बात की युक्ति है कि सुख की अभिलाषा नहीं होती? हम कहते हैं कि कहीं ही कोई मोक्ष पाता है। तो क्या इसका यह अर्थ हो गया कि मोक्ष की अभिलाषा हो नहीं?

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—तद्-अपि, दुःखशबलम्, इति, दुःखपक्षे, निःक्षिपन्ते, विवेचकाः।

अर्थात्—वह (सुख) भी दुःखों से मिला रहता है, (इस कारण इस सुख को भी) दुःख-पक्ष में डाल देते हैं विवेकी जन।

अभिप्राय यह है कि सब सुख दुःखों से मिले-जुले होते हैं। इस कारण सुख भी दुःख ही माना जाता है।

क्या युक्ति है! संसार में दुःख-सुख मिश्रित दिखाई देते हैं, परन्तु क्या कोई व्यक्ति इस मिलावट के कारण सुख की अभिलाषा छोड़ देता है? ऐसा देखने में तो आता नहीं। रही बात विवेकी जनों की। उनके लिए तो अत्यन्त कष्ट होने पर भी शरीर को दुःख अनुभव नहीं होता। यदि हो तो विवेकी कैसे कहे जा सकते हैं?

विवेकी जन जीवात्मा को शरीर से पृथक् अनुभव करते हैं। कष्ट शरीर को होता है। परन्तु वे अपने को शरीर न मान उस कष्ट से दुःख अनुभव नहीं करते तो भला वे सुख को भी दुःख क्यों समझेंगे? सुख तो वे भोगेंगे। दुःखों से पृथक् रहेंगे। यही विवेक का अर्थ है।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—सुखलाभाभावात्, अपुरुषार्थत्वम्, इति, चेत्, न, द्वैविध्यात्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—सुख-प्राप्ति के अभाव से अपुरुषार्थ (मोक्ष का अभाव) है, यह कहना ठीक नहीं, दोनों प्रकार से।

इस सूत्र में दो अशुद्धियाँ प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि सुख के अभाव से मोक्ष का अभाव कहना ठीक नहीं, अर्थात् सुख के बिना भी मोक्ष हो सकता है। परन्तु उपनिषद् में तो यह कहा है कि मोक्ष में सुख होता है, यद्यपि मानवी सुख से करोड़ों गुणा अधिक। फिर वेदान्तदर्शन में यह कहा है कि इन्द्रियों के बिना भी सुख-प्राप्ति होती है (ब्रह्मसूत्र ४-४-८, १३)।

दूसरी अशुद्धि यह है कि 'दोनों प्रकार से' का अभिप्राय स्पष्ट नहीं। प्रथा यह है कि जब भी कहीं इस प्रकार का संकेत होता है तो वह किसी ऊपर कहे सूत्र की ओर होता है। यहाँ ऊपर किसी भी सूत्र में 'दो' की बात नहीं कही।

वस्तुस्थिति यह है कि मोक्ष-अवस्था में भी सुख की अनुभूति होती है। सुख-दुःख जीवात्मा के लिंग हैं। इन्द्रियों का होना अथवा न होना इस जीवात्मा के लिंग को निःशेष नहीं कर सकता।

इस सूत्र के भाष्य में श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं, 'मोक्ष में सुख का लाभ न होने से उसे अपुरुषार्थ कहना युक्त नहीं है।' परन्तु ऐसा है नहीं ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् के कथन से। इसी से यह कहा जा रहा है कि प्रक्षेपक सिद्धान्त से अनभिज्ञ है। वह यह भी नहीं समझ रहा कि वह क्या कह रहा है। इसी कारण वह अपने ऊपर के कथन (सूत्र ६-८) का खण्डन कर गया है। उस सूत्र के अर्थ में कहा है कि सुख सदा दुःखों से मिला-जुला होता है, इस कारण सुख को भी दुःख ही समझना चाहिए।

और वर्तमान सूत्र में कहा है कि सुखों के अभाव से, मोक्ष का होना नहीं है। दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं। अर्थात् मोक्ष में सुख ही होता है।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः ॥ १० ॥

पदच्छेद—निर्गुणत्वम्, आत्मनः, असंगत्वादिश्रुतेः।

अर्थात्—आत्मा का निर्गुण होना (तथा) असंग होना आदि श्रुति में कहा है।

आत्मा के दो लक्षण बताए हैं—एक निर्गुण होना और दूसरा असंग (अलिप्त) होना।

ये लक्षण जीवात्मा के हैं अथवा परमात्मा के? जीवात्मा दो अवस्थाओं में होता है—एक संसार में लिप्त-अवस्था में और दूसरे मोक्षावस्था में जब यह अलिप्त होता है। निर्गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस्, और तमस् से रिक्त है अथवा सर्वथा गुणहीन है—यह स्पष्ट नहीं है। सदा अलिप्त तो परमात्मा ही है। जीवात्मा सदा अलिप्त नहीं। यह भोग भी करता है और भोग का रसास्वादन भी करता है।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—परधर्मत्वे, अपि, तत्-सिद्धिः, अविवेकात्।

अर्थात्—(गुण) दूसरे का धर्म होने पर भी, उस (सुख) की सिद्धि अविवेक से होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार का अभिप्राय है कि सुख अथवा दुःख प्रकृति के गुणों के कारण होता है और प्रकृति से सम्पर्क अविवेक से होने के कारण सुख तथा दुःख मोक्ष में नहीं होता है।

सूत्रकार ने भी एक (अपने विचार से) प्रबल युक्ति दी प्रतीत होती है। परन्तु यह कथन अयुक्तिसंगत है।

गुणों से कष्ट और सुविधा इन्द्रियों को होती है, परन्तु जब कष्ट अथवा सुविधा की अनुभूति जीवात्मा तक पहुँचती है तो यह दुःख अथवा सुख का रूप हो जाती है। जब शरीर और जीवात्मा में भेद पता चल जाता है तो कष्ट तथा सुविधा की अनुभूति जीवात्मा तक नहीं पहुँचती। परन्तु जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति वही हो जाती है जो परमात्मा की होती है और वह आनन्दमय होती है। यह परमात्मा से सम्पर्क से होती है। यह आनन्द ही जीवात्मा की अभिलाषा होती है और यह विवेक हो जाने पर प्राप्त होती है, अर्थात् इस आनन्द की अभिलाषा विवेकी जीवात्मा को होती है।

जब तक उसे विवेक नहीं होता तब तक वह सुख-प्राप्ति की इच्छा करता है। सुख और मोक्ष में प्राप्त होनेवाले आनन्द में कुछ अन्तर है क्या? और वह किस प्रकार का अन्तर है? यह विचारणीय है। इसमें उपनिषद् और दर्शनशास्त्र का मत इस प्रकार है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—

"सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।"

(तैत्तिरीय २-८-१)

इसके अगले मन्त्रों में कहा है कि यही ब्रह्मानन्द है, परन्तु वह इससे करोड़ों गुणा अधिक है।

उपनिषत्कार का अभिप्राय यह है कि सुख-सुविधा-सम्पन्न मनुष्य के जीवात्मा को जो अनुभव होता है, ब्रह्मानन्द वैसा ही है, यद्यपि उससे करोड़ों गुणा अधिक है।

इस विषय में दर्शनशास्त्र में कहा है—

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९॥
अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥
भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ *(ब्र० सू० ४-४-९ से १४)*

इन सूत्रों का भावार्थ इस प्रकार है—

अतः (मोक्षावस्था में) वह किसी के अधीन नहीं रहता ॥ ९ ॥

बादरि ऋषि का कहना है; क्योंकि (इन्द्रियों का) अभाव होता है ॥ १० ॥

जैमिनि ऋषि का कहना है कि विकल्प मानने से इन्द्रियों का होना माना जाता है। विकल्प मानने का अभिप्राय है कि इन्द्रियों का विकल्प होता है ॥ ११ ॥

बादरायण ऋषि का मत है कि दोनों बातें ठीक हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ नहीं भी हैं और उनका विकल्प भी है, जैसे द्वादशाह यज्ञ में विकल्प होता है ॥ १२ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर के अभाव में सन्ध्यवत् (संयोग-स्थान) होने से ॥ १३ ॥

जैसे (संयोग-स्थान) जाग्रतावस्था में होते हैं ॥ १४ ॥

इन सूत्रों में इस विवाद का वर्णन है कि मोक्षावस्था में जीवात्मा संसार के अन्य जीवात्माओं से किस प्रकार भिन्न होता है। उसके पास इन्द्रियों का अभाव होता है। इस पर अन्य ऋषि ने बताया कि इन्द्रियों का विकल्प होता है। वह विकल्प इन्द्रियों का और जीवात्मा का, जैसा जाग्रत्-अवस्था में होता है, मोक्षावस्था में भी होता है, अर्थात् सन्धि-स्थान तो जीवात्मा में होते हैं, इसलिए वे जीवात्मा के साथ रहते हैं।

इस कारण हम कहते हैं कि जीवात्मा मोक्षावस्था में भी सुख, जिसकी संज्ञा उस समय आनन्द हो जाती है, प्राप्त करता है। इसी आनन्द की अभिलाषा जीवात्मा को रहती है। अतः सूत्रकार की युक्ति अशुद्ध है।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अनादि, अविवेकः, अन्यथा, दोषद्वयप्रसक्तेः ।

अर्थात्—अविवेक अनादि है, नहीं तो दो दोष प्राप्त हो जाने से।

यह कथन असत्य है। यह इस कारण कि यदि अविवेक अनादि है तो यह अनन्त (अन्त न होनेवाला) भी होगा। तब जीवात्मा को विवेक कभी भी नहीं हो सकेगा। तब यह पूर्ण सांख्यदर्शन अर्थहीन हो जाएगा।

यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिए कि सूत्रकार ने विवेक को अनादि नहीं कहा। संस्कृत-व्याकरण में एक नियम है कि जब द्वन्द्वों में एक का उल्लेख आए तो दूसरे को भी उसके साथ समझ लेना चाहिए। इस नियम में कहा जा सकता है कि अविवेक और विवेक दोनों अनादि हैं। इस प्रकार समझने से भी आपत्ति तो वही रहेगी जो हमने पहले कही है। जो जीवात्मा विवेकयुक्त है वह अविवेकी नहीं होगा, और जो अविवेकी है वह विवेकयुक्त नहीं होगा।

विवेक और अविवेक जीवात्मा की अवस्थाएँ हैं। ये जीवात्मा से पृथक् कुछ भी नहीं। अतः इनका अनादित्व जीवात्मा के सम्बन्ध में ही हो सकता है।

वे भाष्यकार जो इन सूत्रों को सांख्यदर्शन का अंग मानते हैं और कपिल मुनि द्वारा कथित मानते हैं, इसका अभिप्राय विचित्र ढंग से समझाने का यत्न करते हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'आत्मा के साथ अविवेक का सम्बन्ध अनादि काल से चला आता है। यदि ऐसा न माना जाए और यह समझा जाए कि अविवेक का आरम्भ किसी विशेष काल से हुआ है तो इसमें दो दोषों की प्राप्ति की जाती है।'

इससे यह प्रकट होता है कि अविवेक कोई ऐसी परिस्थिति अथवा अवस्था है जो जीवात्मा के बिना और जीवात्मा से बाहर स्थित है। इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि विवेक भी कोई ऐसी परिस्थिति है जो बिना जीवात्मा के अपना अस्तित्व रख सकती है। तब इसका स्वरूप और इसका स्थान कौन-सा होता है? यह सूत्रकार और शास्त्री जी बता नहीं सके। अज्ञान और ज्ञान की जिसकी स्थिति अथवा अवस्था है, उसके बिना वह रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती ही नहीं । दोनों स्थितियाँ जीवात्मा में ही आती हैं। जब एक आती है तो दूसरी नहीं रहती।

यह इसी प्रकार है जैसे जीवात्मा सशरीर अथवा बिना शरीर के भी होता है। सशरीर अवस्था जब होती है तो बिना शरीर की अवस्था नहीं होती, और जब शरीर जीवात्मा के साथ नहीं होता तो वह शरीर नहीं, शव कहलाता है। शव उन तत्त्वों में विघटित हो रहा होता है, जिनसे बना था। वह शरीर नहीं होता।

विवेक और अविवेक की अवस्था तो सशरीर और बिना शरीर की अवस्था से भी अधिक स्पष्टता से नहीं होती। शरीर तो, आत्मा के बिना, पंच महाभूतों के रूप में उपस्थित होता है, परन्तु अविवेक से जब जीवात्मा छूट जाता है तो इसका अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि इसके तत्त्व कुछ नहीं हैं।

सूत्रकार और भाष्यकार कुछ ऐसा बता रहे हैं जैसे विवेक और अविवेक दो पिंजरे हैं और पक्षी (जीवात्मा) कभी एक में और कभी दूसरे में जा बैठता है। यह सब अप्रमाणित और अयुक्तिसंगत है।

और फिर यह भी विचारणीय है कि इनको अनादि न मानने से कौन-से दो दोष प्राप्त होते हैं? श्री उदयवीर शास्त्री कहते हैं—

'प्रथम इसको बिना कारण के कहीं से प्रारम्भ हुआ माना जाए।'

तो क्या श्री शास्त्रीजी समझते हैं कि अविवेक अकारण प्राप्त होता है? क्या प्रकृति के गुणों की अनुभूति शरीर द्वारा जीवात्मा को नहीं होती जिसको पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा जीवात्मा में अविवेक के कारण होती है? यह प्रश्न उपस्थित होगा कि जीवात्मा जब मुक्त हो जाता है तब यह पुनः शरीर में आने की इच्छा करता है अथवा नहीं? वह क्यों करता है?

ऋग्वेद (१-२४-१, २) के कथन से यह प्रकट होता है कि मुक्त जीव पुनः संसार में आने की इच्छा करते हैं। तब जीवात्मा की प्रवृत्ति से सुख-भोग की इच्छा बनती है। यह अविवेक का आरम्भ है। क्योंकि यह आरम्भ है, इस कारण इसका अन्त भी है।

दूसरा दोष जो इनको अनादि न मानने से उत्पन्न होता है वह शास्त्रीजी बताते हैं—'अविवेक के कारण की खोज करते हुए इसे कर्मजन्य माना जाता है, तो उस कर्म का कोई कारण बताना होगा और वह अविवेक-रूप होगा।'

यह कोई युक्ति नहीं है। कारण यह कि कर्म का आरम्भ और अन्त होता है। अतः कर्म सुख-भोग के लिए किया जाता है। सुख अविवेक नहीं। यह हम बता चुके हैं कि सुख और आनन्द पर्यायवाचक हैं। दोनों में तीव्रता (intensity) का अन्तर है; प्रकार (quality) का अन्तर नहीं है। वास्तव में जीवात्मा में सुख की इच्छा ही कर्म का कारण है। यह सुख की इच्छा अविवेक नहीं। यह जीवात्मा में स्वाभाविक है। विवेकयुक्त आत्माओं में भी सुख की इच्छा रहती है। तब यह आनन्द की इच्छा कहलाती है।

अतः दोनों बातें, जिनका भय सूत्रकार तथा शास्त्रीजी अथवा अन्य ऐसा समझने वाले भाष्यकारों को है, वे निर्मूल हैं। विवेक और अविवेक का आरम्भ है और इसका अन्त भी होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—न, नित्यः, स्यात्, आत्मवत्, अन्यथा, अन्-उच्छित्तिः।

अर्थात्—(अविवेक) नित्य नहीं है, आत्मा की भाँति, नहीं तो इसका उच्छेद न हो।

सूत्रकार को अपने पूर्व के सूत्र (६-१२) के कथन में दोष प्रतीत हुआ तो अब उस सूत्र की सफ़ाई देना चाहता है।

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—प्रतिनियतकारणनाश्यत्वम्, अस्य, ध्वान्तवत्।

अर्थात्—विरोधी नियत कारण से (अविवेक का) नाश होता है, जैसे प्रकाश से अन्धकार का नाश होता है।

यहाँ 'प्रति' का अर्थ विरोधी से लिया जाना चाहिए। 'अस्य' अविवेक के लिए आया है।

दोनों सूत्र केवल वक्तव्य हैं। अभी तक सफ़ाई उपस्थित नहीं की। वह आगे कहता है—

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—अत्र, अपि, प्रतिनियमः, अन्वयव्यतिरेकात्।

अर्थात्—यहाँ भी विरोधी व्यवस्था है, अन्वयव्यतिरेक से।

अन्वयव्यतिरेक का अभिप्राय है जब एक हो तो दूसरी (विरोधी स्थिति) नहीं होती। हमारे विचार में सूत्रकार ने वही युक्ति स्वयं दी है जो हमने इसके सूत्र ६-१२ को भ्रामक बताने में दी है। नित्य वस्तुओं का व्यवहार अथवा व्यवस्था अन्वय-व्यतिरेक नहीं होती।

अभी तक सूत्रकार ने अपने कथन की पुष्टि में कुछ नहीं कहा; सब खण्डन में ही है। और आगे देखिए—

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—प्रकारान्तर, असम्भवात्, अविवेक, एव, बन्धः।

अर्थात्—दूसरी प्रकार से सम्भव न होने से अविवेक ही बन्ध है।

इस सूत्र के कथन से सूत्रकार यह समझा है कि उसने अपने कथन (६-१२) के पक्ष में युक्ति दे दी है। परन्तु यह युक्ति नहीं है, क्योंकि यह कुछ-एक मतवादियों का कथन है, दर्शन-शास्त्रों का मत नहीं।

सूत्रकार कहता है कि अविवेक और बन्ध सम्बन्धित हैं। इस कारण अविवेक ही बन्ध है।

परन्तु क्या बन्ध का आरम्भ नही है? यदि बन्ध का आरम्भ है तो न बन्ध नित्य है और न अविवेक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न उपस्थित होता है कि ये जो कोटि-कोटि जीव बन्ध में हैं, इनके बन्ध का आरम्भ कब से है? यदि बन्ध अनादि काल से है तो अनादि वस्तु अनन्त भी होती है। तब तो जीवात्मा की मुक्तावस्था हो नहीं सकती। सूत्रकार ने अद्वैत मतवादियों का आश्रय लिया है जो अयुक्त है। हम वेदमन्त्र (ऋ० १-२४-१, २) का प्रमाण दे चुके हैं। ब्रह्मसूत्र का प्रमाण इस प्रकार है—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥

(ब्र० सू० ४-४-१९)

और (मोक्ष की) स्थिति के विषय में कहा है कि यह निश्चय से विकार-व्यवहार वाली है, अर्थात् यह समाप्त होने वाली है।

शंकराचार्य ने इस सूत्र का अर्थ परमात्मापरक किया है और विकार-आवर्ति कहकर विकार में न रहनेवाली कहा है। वास्तव में यह है विकार-आवर्ति—चारों ओर से विकार-व्यवहारवाली। साथ ही यह पूर्ण अध्याय मोक्षावस्था के विषय में है और यह एक सूत्र परमात्मापरक होने में कोई कारण नहीं।

इसी प्रकार आगे एक सूत्र है—

अनावृत्तिः शब्दात् ॥ *(ब्र० सू० ४-४-२२)*

अर्थात्—मोक्षावस्था को न लौटनेवाली कहना कथन-मात्र से, अर्थात् इसकी महिमा के लिए ही ऐसा कहा है।

फिर बृहदारण्यक उपनिषद् (६-२-१५) के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि अन्य शाखा में पाठ इस प्रकार है—

ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते, बहुवचननप्रयोगात्; उपासनतारतम्योपपत्तेश्च; ते तेन पुरुषेण गमिताः सन्तस्तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सरानेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारे न पुनरागमनमिहेति।

अर्थात्—'ब्रह्मलोकान्' ऐसा बहुवचन प्रयोग होने से ज्ञात होता है कि नीचे-ऊपर की भूमि के भेद से ब्रह्मलोकों में भेद है। उपासना के तारतम्य से भी ऐसा भेद होना सम्भव है। उस पुरुष के द्वारा पहुँचाए हुए उन लोकों में वे स्वयं 'परा'—प्रकृष्ट होकर 'परावतः' प्रकृष्ट संवत्सर अर्थात् अनेक वर्ष तक रहते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा के अनेक कल्प-पर्यन्त रहते हैं।

आगे कहा है—

इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति।

अर्थात्—किन्तु 'इह' पद से तो आकृति-मात्र का ग्रहण होता है।

इस 'इह' शब्द से ही यह अर्थ बनता है कि इस ब्रह्म-दिन अथवा मन्वन्तर में पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् उसके उपरान्त होती है।

इस कथन की पुष्टि वेद से होती है।

अतः मिथ्या युक्ति को सिद्ध करने के लिए संदिग्ध प्रमाण दिया गया है।

सूत्रकार आगे कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—न, मुक्तस्य, पुनः, बन्धयोगः, अपि, अनावृत्तिश्रुतेः ।

अर्थात्—मुक्त हुए का पुनः बन्धन में आना भी अनावृत्ति श्रुति में कहा है।

श्रुति यदि वेद को मानें तो उसका प्रमाण हम दे चुके हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी एक पाठ से हम अपनी बात सिद्ध कर चुके हैं। हमारे विचार में वेदान्तदर्शन भी कहता है कि अनावृत्ति कहने के लिए है, वस्तुतः है नहीं।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८ ॥

पदच्छेद—अपुरुषार्थत्वम्, अन्यथा।

अर्थात्—यदि मुक्तावस्था से लौटना मानेंगे तो मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ नहीं रह जाएगी।

यह कल्पना भी निराधार है। क्या मनुष्य केवल मोक्ष और वह भी अनन्त मोक्ष के लिए ही यत्न करता है, अन्य किसी कार्य के लिए यत्न नहीं करता? प्रश्न यह है कि क्या मोक्षावस्था अनादि है? यदि अनादि है तो यत्न किसके लिए किया जाता है? और यदि अनादि नहीं तो जो आरम्भ होती है वह अन्तवाली भी होगी।

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥

पदच्छेद—उभयोः, अविशेषापत्तिः ।

अर्थात्—दोनों अवस्थाओं में अविशेष अर्थात् समानता प्राप्त होगी।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि बन्ध और मोक्ष दोनों को अन्तवाली अवस्था मानेंगे तो मोक्ष की कोई विशेषता नहीं रह जाएगी।

यदि समान रूप में सुलभ मान ली जाए तो हानि क्या है? यह युक्ति नहीं है कि उस अवस्था में उनको समान मानना पड़ेगा। दिन और रात समान नहीं हैं तो क्या इनकी विशेषता इनमें से किसी के अन्तवाली न होने के कारण है? दोनों के अपने-अपने गुण हैं। न्यूनाधिक भी हों तब भी दिन-रात समान नहीं हैं। परन्तु दोनों अन्तवाले हैं। विशेष कारणों से भिन्न-भिन्न हैं।

मोक्षावस्था के अन्तवाली होने की सबसे प्रबल युक्ति है कि जो आरम्भ होती है वह अन्त को भी प्राप्त होती है। जो अन्त को प्राप्त होती है वह कभी आरम्भ भी हुई थी। यह युक्ति अकाट्य है। वस्तुस्थिति यह है कि मोक्ष-स्थान तो अनादि और न अन्तवाला है, परन्तु जीवात्मा का यहाँ रहना आदि और अन्तवाला है।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥

पदच्छेद—मुक्तिः, न अन्तरायध्वस्तेः, न, परः ।

अर्थात्—मुक्ति अन्तरायों के नाश होने के अतिरिक्त कुछ नहीं।

यहाँ अन्तराय (बीच में बाधा) से अभिप्राय है अविवेक। जब अविवेक नष्ट हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तब मोक्ष हो जाता है।

सूत्रकार की युक्ति यह है कि अविवेक कोई वस्तु अथवा स्थिति है। जब वह नष्ट हो जाती है तो पुनः वह बन नहीं सकती। यह अयुक्तिसंगत है। कारण यह कि विनष्ट वह अवस्था होती है जो कभी बनी थी। जो बनी थी, वह अनादि अथवा अनन्त नहीं हो सकती। अतः यह सब न तो युक्तियुक्त है और न ही शास्त्रसंगत।

कुछ-एक उपनिषदों में मनोद्गारों से प्रभावित होकर मुक्तावस्था की महिमा का वर्णन करते हुए इसके विषय में 'न पुनरावर्तन्ते' कह दिया है। परन्तु उपनिषद्-वाक्यों में यह युक्ति आधाररहित है। दर्शनशास्त्र और वेद में आधारयुक्त तर्क से यह सिद्ध किया है कि मोक्षावस्था अन्तवाली है।

तत्राप्यविरोधः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—तत्र, अपि, अविरोधः।

अर्थात्—इसके मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

किसके मानने में कोई आपत्ति नहीं? जो कुछ पूर्व-सूत्र में कहा है, अर्थात् अविवेक के नष्ट होने को ही मुक्ति कहा जाता है।

हमारा मत है कि मुक्तावस्था अविवेक के छूटने से कुछ अधिक है। अविवेक का नाश एक नकारात्मक बात है। हम समझते हैं कि कुछ सकारात्मक भी हो तो मोक्ष का स्वरूप बनेगा। अज्ञान हट जाना ही ज्ञानयुक्त होना है, यह युक्तियुक्त नहीं।

एक सरल-से उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। किसी ने कहा है कि कश्मीर देश राजस्थान-जैसा रेगिस्तान नहीं है। जो व्यक्ति यह मानता था कि कश्मीर भी राजस्थान की भाँति मरुभूमि है, उसके लिए उसको यह जान लेना कि यह ऐसा नहीं, उसके अज्ञान का नष्ट होना (अविवेक-ध्वस्तेः) माना जाएगा। परन्तु यह, कश्मीर क्या है, के ज्ञान का सूचक नहीं। इसी प्रकार हम अध्याय-ज्ञान को मानते हैं।

कोई यह कहे कि मोक्षावस्था दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है तो क्या इससे मोक्षावस्था के स्वरूप का ज्ञान होगा? मोक्षावस्था का ज्ञान आनन्दमय अवस्था के वर्णन से ही हो सकता है। इसी प्रकार अविवेक छूट जाने पर विवेक स्वतः नहीं आ जाता। इसको जानने, अनुभव करने और इसके यथार्थ रूप को समझने की आवश्यकता है।

यह सूत्र अधूरे ज्ञान का सूचक है।

सम्भव है कि यह किसी अद्वैतवादी का कहा हुआ है जो यह मानता है कि परमात्मा सर्वज्ञ है और जीवात्मा परमात्मा का अज्ञान में फँसा हुआ अंश है। अतः जब उसका अज्ञान नष्ट होगा तो वह परमात्मा (सर्वज्ञ) हो जाएगा।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अधिकारित्रैविध्यात्, न, नियमः।

अर्थात्—अधिकारी तीन प्रकार के बताए हैं, (व्याख्या) का नियम नहीं।

अधिकारी का अर्थ मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। ऊपर सूत्रकार ने कहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अविवेक का नाश ही मोक्ष है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार के मन में अविवेकी तीन प्रकार के हैं। वे कौन-कौन हैं? यह सूत्रों के रचयिता ने बताया नहीं। सांख्याचार्य ने यही सूत्र इन्हीं शब्दों में १-७० में कहा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों के लिखनेवाला मोक्षावस्था में भी उस सूत्र का प्रयोग कर रहा है। यद्यपि वहाँ भी भाष्यकारों ने अधिकारी वही माना है जो यहाँ माना है, परन्तु वहाँ का पूर्वापर (अर्थात् प्रसंग) वह नहीं जो यहाँ है। वहाँ भी अधिकारी से अभिप्राय वह नहीं जो भाष्यकारों ने वहाँ कहा है।

भाष्यकारों ने तीन प्रकार के अधिकारियों का अर्थ, वहाँ और यहाँ भी, ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी से किया है। ये अर्थ न वहाँ और न यहाँ, उपयुक्त प्रतीत होते हैं। यदि यह मानें कि अविवेक के छूटने के स्तर हैं तो यह युक्तियुक्त इस कारण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि किंचिन्मात्र भी अविवेक रहने से मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

हम समझते हैं कि भाष्यकारों ने व्यर्थ में एक अयुक्तिसंगत सूत्र को समझाने का यत्न किया है। उदाहरण के रूप में पण्डित ब्रह्ममुनि कहते हैं—

'अधिकारियों के तीन प्रकार—उत्तम, मध्यम और मन्द भेद होने से मुक्ति की परिभाषा का नियम नहीं।'

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्ममुनि जी अधिकारी का अर्थ लेते हैं जो मुक्ति प्राप्त करने के प्रत्याशी हैं। प्रत्याशी मुक्ति पाने के अधिकारी नहीं माने जाते। वे तो अधिकार से रहित ही होते हैं। सूत्रों का प्रक्षेपक तो कदाचित् यह भी नहीं समझ रहा कि वह क्या कह रहा है और भाष्यकार उसकी अयुक्तियुक्त बात को टेढ़े-मेढ़े कथनों से सिद्ध कर रहे हैं। भाष्य में किसी परीक्षार्थी को प्रत्याशी तो कहा जा सकता है, परन्तु वह फल का अधिकारी नहीं हो सकता। रहा परीक्षा का अधिकारी, तो केवल तीन प्रकार के ही क्यों होंगे? वे तो अनेक प्रकार के होंगे। जो योगाभ्यास की इच्छा करता है वह भी परीक्षार्थी है। पहली श्रेणी का विद्यार्थी भी एम० ए० तक पढ़ने और उत्तीर्ण होने का अभिलाषी माना जा सकता है।

यहाँ सूत्रकार का क्या अभिप्राय है, कहा नहीं जा सकता। यदि यह कहा जाए कि मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी उत्तम, मध्यम और मन्द प्रकार के होते हैं तो मोक्ष भी तीन प्रकार का मानना पड़ेगा।

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—दार्ढ्यार्थम्, उत्तरेषाम्।

अर्थात्—उत्तरवालों को दृढ़ता के लिए (उपदेश है)।

अभिप्राय यह है कि जो मध्यम और मन्द कोटि के प्रत्याशी हैं, उनको दृढ़ता से योग का अनुष्ठान करना पड़ेगा। अर्थात् जो उत्तम श्रेणी के हैं, उनके लिए योग के यम-नियमादि कर्म दृढ़तापूर्वक करने के लिए नहीं।

यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। कहना यह चाहिए कि यम-नियमादि का पालन तो सबके लिए दृढ़तापूर्वक पालन करना अनिवार्य है। यद्यपि जो अग्रिम श्रेणी के विद्यार्थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, वे सुगमता से पालन कर सकेंगे और दूसरों को कठिनाई होगी। ऐसा मानने से तीन प्रकार के प्रत्याशियों का अभिप्राय वही हो जाएगा—जो पूर्व की श्रेणी में अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण हुए हों वे उत्तम, और जो अच्छे अंक नहीं ले सके वे मध्यम अथवा मन्द श्रेणी के हैं।

शब्दों का प्रयोग अशुद्ध है। उनको अधिकारी नहीं, प्रत्याशी अथवा अभ्यासी कहना चाहिए।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—स्थिरसुखम्, आसनम्, इति, न, नियमः।

अर्थात्—स्थिर होकर बैठे आसन में सुख है, यह नियम नहीं है।

यह सूत्र ३-३४ का विरोध करता है। वहाँ कहा है : 'स्थिरसुखमासनम्।' यहाँ कहा है 'इति न नियमः'

यह स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्त है। किसी बौद्ध मतानुयायी ने कहा प्रतीत होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध भी अद्वैतवादी हैं।

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥

पदच्छेद—ध्यानम्, निर्विषयम्, मनः।

अर्थात्—मन का विषय से रहित हो जाना ध्यान है।

विषय का यहाँ अर्थ ध्यान लगाने का लक्ष्य है।

योगदर्शन में इसके विपरीत कहा है। वहाँ कहा है—

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्॥ *(यो० द० ३-२)*

इसका अर्थ है कि उसमें वृत्ति का एक-सा बना रहना ध्यान है। एक-सा बना रहने का अर्थ है, जिस विषय का ध्यान लगाया जा रहा है उससे अतिरिक्त किसी दूसरे विषय को बीच में न आने देना।

यहाँ निर्विषय नहीं, प्रत्युत एकतानता कहा है।

सूत्र ६-२५ सांख्य-विरोधी है।

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥ २६ ॥

पदच्छेद—उभयथा, अपि, अविशेषः, चेत्, न, एवं, उपरागनिरोधात्, विशेषः।

अर्थात्—दोनों अवस्थाओं में भी विशेषता नहीं है। यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं।

लिप्तता का विरोध करने से विशेषता है।

इन दोनों सूत्रों को एक-साथ पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि ध्यान में निर्विषय से सूत्रकार का अभिप्राय है प्रकृति के विषयों से निर्विषय होना।

परन्तु सूत्र ६-२६ में कह दिया है कि दोनों प्रकार से, अर्थात् विषयों से रहित होने अथवा न होने से विशेषता नहीं आती। कदाचित् वह कह रहा है जीवात्मा में विशेषता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं आती।

यह बात अशुद्ध है। विषयों में रत रहने से अथवा विषयों से अलिप्त होने से विशेषता तो होती है। एक में जीवात्मा अविवेकी होता चला जाता है और दूसरे में विवेक की ओर गमन करता है।

हमारा दृढ़ मत है कि इन सूत्रों के कहनेवाला सांख्य-सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है।

निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—निःसङ्गे, अपि, उपरागः, अविवेकात्।

अर्थात्—निःसंग (आत्मा) में भी उपराग (विषयों में लिप्तता) अविवेक के कारण होता है।

प्रश्न यह है कि वह निःसंग की कौन-सी अवस्था है जिसमें उपराग (विषयों में लिप्तता) हो सकती है?

निःसंग-अवस्था सुषुप्ति-अवस्था हो सकती है। प्रलय-काल में भी जीवात्मा की ऐसी अवस्था हो सकती है और मोक्षावस्था में भी हो सकती है।

सुषुप्ति-अवस्था से जब प्राणी जागता है तो वह विषयों में लिप्त हो सकता है। ठीक इसी प्रकार जब प्रलय के उपरान्त सृष्टि-रचना होती है, तब भी जीवात्मा प्रकृति से लिप्त हो सकता है। परन्तु क्या मोक्षावस्था में भी अविवेक आ सकता है?

तीन अवस्थाओं को एक ही लाठी से हाँकना बुद्धिमत्ता नहीं। हम ऐसा मानते हैं कि मोक्षावस्था भी अन्तवाली है। जब इसका अन्त होता है तो उपराग से अविवेक उत्पन्न होता है।

मोक्ष का न होना अविवेक का होना नहीं। अविवेक तो लिप्तता से ही उत्पन्न होता है।

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—जवास्फटिकयोः, इव, न, उपरागः, किन्तु, अभिमानः।

अर्थात्—जवा (गुड़हल) के फूल के स्फटिक के समीप लाने से जैसे स्फटिक रंगीन नहीं हो जाता, परन्तु रंगीन दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार जीवात्मा जब प्रकृति के रसों के समीप जाता है तो वह रसों से लिप्त होने लगता है। वास्तव में वह इसको ग्रहण नहीं करता, जैसे बिल्लौर कुसुम के समीप आने से रंगीन नहीं हो जाता। परमात्मा व आत्मा को एक-समान बताने का यत्न है।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ २९ ॥

पदच्छेद—ध्यानधारणाभ्यास, वैराग्यादिभिः, तत्-निरोधः।

अर्थात्—जीवात्मा पर उपराग से जो रंग आ जाता है वह ध्यान, धारणा, योगाभ्यास (यम-नियमादि) और वैराग्य से हट जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३० ॥

पदच्छेद—लयविक्षेपयोः, व्यावृत्त्या, इति, आचार्याः ।

अर्थात्—लय-अवस्था में और विक्षेपावस्था में भी वृत्तियों का उलट होना अर्थात् व्यवहार का निरोध होता है।

कैसे ? जैसे ऊपर बताया है—ध्यान-धारणादि से।

लय-अवस्था तो निद्रा, मूर्च्छा इत्यादि की होती है अथवा प्रलय-काल की अवस्था को कहा जा सकता है, और विक्षेपावस्था से अभिप्राय है क्रियाशील अवस्था।

क्या निद्रावस्था तथा प्रलय-काल में जीवात्मा की अवस्था में भी योगाभ्यासादि हो सकता है ? यह अकथनीय है अर्थात् मिथ्यावाद है।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—न, स्थाननियमः, चित्तप्रसादात्।

अर्थात्—चित्त की प्रसन्नता होने से स्थान का नियम नहीं है।

जहाँ चित्त लगे वही स्थान योग-साधना के लिए ठीक है।

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—प्रकृतेः, आद्योपादानता, अन्येषाम्, कार्यत्व-श्रुतेः ।

अर्थात्—प्रकृति का आदि-उपादान कारण होना है, दूसरों का श्रुति में कार्यत्व कहे जाने से।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति आदि-उपादान कारण हैं, दूसरे सब पदार्थों का कार्य होने से—ऐसा श्रुति में भी कहा है।

श्रुति में ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०-१२९) इसी विषय पर है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का १०-७२ सूक्त इसी विषय पर है। यहाँ एक-दो मन्त्रों का हम उल्लेख कर रहे हैं। इन मन्त्रों का देवता है 'देवाः'—

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥
ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥

अर्थात्—हम सूर्यादि दिव्य प्रकाशमान पदार्थों के जन्मों का विशेष रूप से श्रेष्ठ वाणी द्वारा भली-भाँति वर्णन करते हैं। वेद में कहे उपदेश को (जानकर) आनेवाले काल को देखकर वर्णन करते हैं।

प्रकृति के स्वामी (परमात्मा) इन समस्त लोगों को लोहार की भाँति अग्नि (हिरण्यगर्भ) में डालता और तपाता है। पूर्व-काल में (हिरण्यगर्भ की अवस्था में) दिव्य पदार्थों का अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार वेद में प्रकृति (उपादान कारण) से कार्य-जगत् की उत्पत्ति परमात्मा द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बतायी है।

नित्यवेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—नित्यत्वे, अपि, न, आत्मनः, योग्यत्वाभावात्।

अर्थात्—नित्य होने पर भी योग्यता के अभाव से आत्मा का सम्भव नहीं।

क्या सम्भव नहीं? आत्मा का उपादान होना सम्भव नहीं। आत्मा (जीवात्मा) में योग्यता नहीं। क्या योग्यता नहीं? त्रिगुणात्मक न होने से प्रकृति की भाँति इसका रूप-रूपान्तर नहीं हो सकता।

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—श्रुतिविरोधात्, न, कुतर्कापसदस्य, आत्मलाभः।

अर्थात्—श्रुति का विरोध होने से कुतर्क करनेवाले को आत्म-ज्ञान-प्राप्ति नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि कुतर्क करनेवाले व्यक्ति को श्रुति से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। श्रुति तर्क-युक्त है और जो (आधार-युक्त) तर्क करना नहीं जानता, वह आत्म-ज्ञान का लाभ नहीं कर सकता।

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—पारम्पर्ये, अपि, प्रधानानुवृत्तिः, अणुवत्।

अर्थात्—परम्परा (कारण से कार्य) होने पर भी प्रकृति (के बदलने के कार्य) का जारी रहना होता है, अणु की भाँति।

यहाँ अणु का अभिप्राय है परिमण्डल। प्रकृति की परम्परा इन अणुओं से बनी रहती है, यद्यपि परिवर्तन होते रहते हैं। यहाँ परिवर्तनों से अभिप्राय है रासायनिक परिवर्तन।

सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—सर्वत्र, कार्यदर्शनात्, विभुत्वम्।

अर्थात्—सब ओर कार्य-जगत् देखने से प्रकृति की व्यापकता का ज्ञान होता है।

यहाँ पूर्ण व्योम की बात नहीं कही; केवल अपने चारों ओर हो रहे कार्य की बात ही कही है। परन्तु सिद्धान्ततः ठीक है कि प्रकृति व्यापक है।

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—गतियोगे, अपि, आद्यकारणता-अहानिः, अणुवत्।

अर्थात्—(कार्य-जगत् में) गति होने पर भी (प्रकृति का) आद्य कारण होने की हानि (निषेध) नहीं, अणु की भाँति।

संसार में हो रहे परिवर्तन को हम नित्य देखते हैं। उन सब परिवर्तनों में प्रकृति अणु के रूप में बनी रहती है। अणु इन परिवर्तनों में टूटते अथवा बनते नहीं। यह कार्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् में रासायनिक परिवर्तनों और भौतिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में है। यह सांख्यदर्शन का विषय नहीं, वैशेषिक दर्शन का है। सांख्यदर्शन में अणु से सूक्ष्म परमाणुओं का दर्शन है। वैशेषिक दर्शन में अणु इकाई है।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—प्रसिद्धाधिक्यम्, प्रधानस्य, न, नियमः।

अर्थात्—प्रधान (प्रकृति) की प्रसिद्ध विशिष्टता नियम नहीं (कि सर्वत्र रहे)।

प्रधान की विख्यात विशिष्टता क्या है? उसका सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का रखना। यह सर्वत्र दिखाई नहीं देता।

संसार में कई पदार्थ ऐसे हैं जिनमें तत्त्व, रजस्, तमस् गुणों में कोई भी दिखाई नहीं देता। इससे सूत्रकार कहता है कि प्रधान के विशेष गुण का आधिक्य सर्वत्र दिखाई नहीं देता।

प्रधान का एक अन्य विशेष गुण विख्यात है, वह है इसका जड़त्व। सूत्रकार कह रहा है कि कई प्राकृतिक पदार्थों में जड़त्व दिखाई नहीं देता।

सूत्र के ये दो अर्थ बनते हैं। सांख्याचार्य एक सूत्र में कह चुका है—

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥ *(सां० १-१२६)*

अर्थात्—प्रकृति के दो (विशिष्ट) गुण हैं—त्रिगुणात्मक और अचेतनता।

अतः वर्तमान सूत्र में प्रधान की प्रसिद्ध विशेषता बताई है।

यहाँ सूत्रकार कहता है कि सांसारिक पदार्थों में इन विशेष गुणों के होने का नियम नहीं।

हम समझते हैं कि यह अशुद्ध कथन है। जड़ता और त्रिगुणात्मक के प्रसिद्ध गुण संसार के सब पदार्थों में दिखाई देते हैं।

यदि सूत्रकार कह देता कि प्रत्यक्ष में दिखाई देने का नियम नहीं तो बात ठीक थी, परन्तु ऐसा कहा नहीं। अतः यह सूत्र भी कपिल का कहा प्रतीत नहीं होता।

ऊपर के कुछ सूत्र (६-३१ से ६-३७ तक) वैदिक सिद्धान्तानुसार हैं, परन्तु अब फिर सूत्र ६-३८ में अशुद्ध बात कह दी गई है।

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—सत्त्वादीनाम्, अतद्धर्मत्वम्, तत्-रूपत्वात्।

अर्थात्—सत्त्व, रजस्, तमस् गुण (प्रधान के धर्म नही) ये उस (प्रधान) का रूप ही हैं।

किसी पदार्थ का धर्म उसमें उसी के गुण अथवा शक्ति से आता है। धर्म पदार्थ नहीं होता। यह पदार्थ का कार्य होता है, अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् गुण उस (प्रकृति) के धर्म नहीं; ये उसके रूप ही हैं।

इस पूर्ण अध्याय में यह एकमात्र सूत्र है जिसका विषय प्रथम तीन अध्यायों में नहीं मिलता और एक अतिजटिल बात की ओर संकेत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ में धर्म तो उसके किसी गुण से तब उत्पन्न होता है, जब उस गुण से कार्य होता है। गुण स्वतः धर्म नहीं। गुण गुणी का रूप ही होता है।

यह समस्या आजकल के वैज्ञानिकों को भी तंग कर रही है। प्रकाश, ताप इत्यादि तरंगें हैं अथवा प्रकृति के कण हैं? इसे दो विशेष वादों से स्मरण किया जाता है। एक है तरंगवाद और दूसरा है कणवाद। दोनों के विषय में उनके पक्षवालों ने बहुत लिखा है।

लगभग उसी विवाद की ओर संकेत है। प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् परमाणु के तीन रूप हैं अथवा ये उन पर शक्ति का आवेश हैं? यदि प्रकृति के कणों को समझ लें और धर्म तथा कर्म को तरंगे (waves) मान लें तो वर्तमान युग के वैज्ञानिकों का विवाद इस सूत्र में दिखाई देगा।

सांख्य यह मानता है कि सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति के रूप हैं। ये अपने में विशेष गुण रखते हैं। ये गुण कर्म करते हैं। वह कर्म गुण नहीं।

वर्तमान युग के विवाद की बात कहें तो इस प्रकार होगा—क्वान्टम है प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस्। इनके गुण हैं वर्तमान विज्ञान के अनुसार '+' और '–' आवेश। ये आवेश परमाणुओं को छोड़ते नहीं। इसी कारण ये गुण अथवा रूप कहे जाते हैं। इन गुणों का प्रभाव ही होता है जो धर्म कहलाता है। इनको तरंगें कहा जा सकता है। ये कण एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाते। इनका प्रभाव तरंगों में जाता है।

सांख्य ने दोनों में विश्लेषण कर दिया है। यह निम्न परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है।

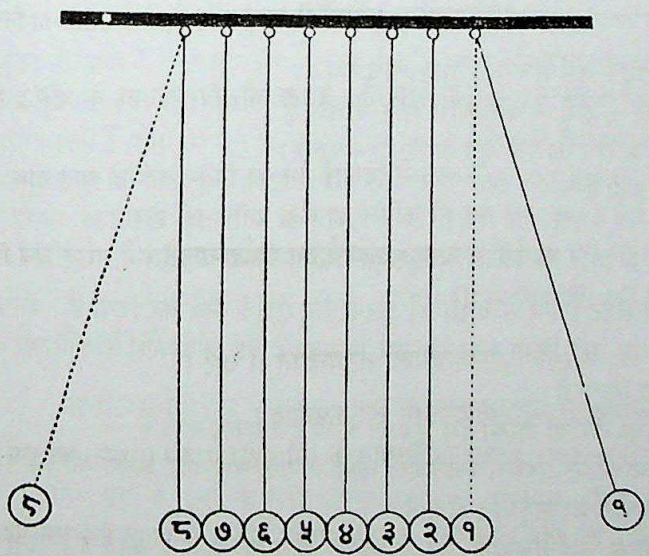

नम्बर एक की गोली को कुछ दूर हटाकर छोड़ा जाता है तो यह नम्बर दो की गोली से टकराती है और दो, तीन, चार उपारान्तत्व गोलियाँ नहीं हिलतीं। अन्तिम गोली के आगे कोई गोली नहीं। वह शक्ति क्रमशः दो, तीन, चार इत्यादि गोलियों में चलती हुई आती है और अन्तिम गोली तक पहुँचती है। इस प्रकार से अन्तिम गोली उछलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही बात सत्त्व, रजस् और तमस् के गुणों की है। ये प्राकृतिक परमाणु के लिए गुण हैं। जब विभक्त होते हैं तो आकर्षण-विकर्षण करते हैं और वह आकर्षण-विकर्षण चलता है। परमाणु नहीं चलते।

यदि वे हिलते हैं तो उतनी ही दूर तक जिससे वे दूसरे परमाणु के सम्पर्क में आ जाएँ।

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥ ४० ॥

पदच्छेद—अनुपभोगे, अपि, पुमर्थम्, सृष्टिः, प्रधानस्य, उष्ट्रकुंकुम-वहनवत्।

अर्थात्—उपभोग न होने पर भी प्रधान की रचना पुरुष के लिए होती है, जैसे ऊँट की (पीठ पर) कुंकुम हो।

यह बात ठीक है। प्रकृति भोग नहीं करती। यह तो भोग करनेवाले के लिए बोध ढोती है।

परन्तु सूत्रकार सूत्र ३-५८ में कह चुका है—

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात् उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥

हमारे विचार में सूत्र ३-५८ सूत्र ६-४० से अधिक स्पष्ट और युक्त है। कम-से-कम यह एक भद्दी पुनरुक्ति है।

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—कर्मवैचित्र्यात्, सृष्टि-वैचित्र्यम्।

अर्थात्—कर्मों के वैचित्र्य से सृष्टि-वैचित्र्य है।

इसी आशय का एक सूत्र पहले आ चुका है।

वहाँ कहा है—

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ *(सां० ३-५१)*

गर्भदासवत् (जन्म से दास) की तुलना कर सूत्रार्थ स्पष्ट कर दिया है। वर्तमान सूत्र में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया कि कर्म किसका? कई भाष्यकारों ने जीवात्मा का कर्म मानकर भाष्य किया है।

श्री उदयवीर जी शास्त्री इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

'आत्माओं से सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों अर्थात् धर्म और अधर्म की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है····।'

शास्त्रीजी 'कर्मवैचित्र्यात्' का अभिप्राय 'जीवात्मा के कर्म' करते हैं। परन्तु अगला सूत्र (६-४२) पढ़ने पर पता चलेगा कि वहाँ और यहाँ भी कर्म का अभिप्राय प्रधान का कार्य है। शास्त्रीजी के अनुसार इस कार्य को करानेवाला जीवात्मा भी हो सकता है और परमात्मा भी हो सकता है।

सूत्रकार ने सूत्र ठीक नहीं लिखा। इस कारण भ्रम हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ।।४२ ।।

पदच्छेद—साम्यवैषम्याभ्याम्, कार्यद्वयम् ।

अर्थात्—साम्यावस्था और वैषम्यावस्था दो (प्रकार का) कार्य होता है ।

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था कार्य-जगत् के लय की अवस्था है और उनकी विषमावस्था कार्य-जगत् की अवस्था है । सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं—साम्यावस्था भी और विषमावस्था भी ।

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ।। ४३ ।।

पदच्छेद—विमुक्तबोधात्, न, सृष्टिः, प्रधानस्य, लोकवत् ।

अर्थात्—विमुक्त के बोध हो जाने से प्रधान की सृष्टि नहीं होती, लोक (संसार) के समान ।

यह सूत्र सर्वथा अर्थहीन है । प्रधान की सृष्टि नहीं होती । प्रधान से सृष्टि तो होती है । प्रधान की सृष्टि का अर्थ है प्रधान का निर्माण होना ।

हम कहते हैं कि जगत् की रचना होती है प्रधान से । सूत्र की भाषा अशुद्ध है । इसी सूत्र में कहा है 'विमुक्तबोधात्', अर्थात् मुक्त हुए पुरुष को ज्ञान हो जाने से । तो क्या बिना ज्ञान के भी कोई मुक्त होता है ?

और फिर लोकवत् का क्या अभिप्राय है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार यह कहना चाहता है कि ज्ञान प्राप्त करने पर जब पुरुष मुक्त हो जाता है तब उसके लिए प्रधान से सृष्टि-रचना की आवश्यकता नहीं रहती । ऊपर के सूत्र (६-४२) में सूत्रकार कह चुका है कि जब गुणों में विषमता आती है तो सृष्टि-रचना होती है और इस सूत्र (६-४३) में वह कहना चाहता है कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त मुक्त हुए जीव को प्रकृति द्वारा रचना की आवश्यकता नहीं रहती ।

हमारा मत है कि सूत्र की भाषा अशुद्ध है और इससे भ्रम उत्पन्न होने का भय है । सूत्रकार ने लिख दिया है कि मुक्त हुआ जीव जब ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो प्रधान की सृष्टि (निर्माण) की आवश्यकता नहीं रहती । आवश्यकता किनको नहीं रहती ? क्या उनको भी नहीं रहती जो मुक्त नहीं हुए ?

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ।। ४४ ।।

पदच्छेद—न, अन्योपसर्पणे, अपि, मुक्त-उपभोगः, निमित्ताभावात् ।

अर्थात्—नहीं है दूसरे के लिए उपसर्पण, (कार्य होने) पर भी मुक्त पुरुषों को उपभोग (रचना का भोग) निमित्त के न होने से ।

पूर्व के सूत्र और इस सूत्र में अन्तर नहीं । केवल मुक्तात्मा को सृष्टि का उपभोग न होने का कारण 'निमित्ताभावात्' अधिक लिखा है । यह पूर्व के सूत्र (६-४३) में भी डाला जा सकता था । तब एक के स्थान पर दो सूत्र न होते ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—पुरुषबहुत्वम्, व्यवस्थातः।

अर्थात्—व्यवस्था होने से यह सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत हैं।

व्यवस्था यह है कि किसी को भूख लगती है, परन्तु किसी के खाए से सबकी तृप्ति नहीं होती। एक सोता है परन्तु दूसरे को नींद नहीं आती। इससे यह पता चलता है कि जीव बहुत हैं।

इसी विषय का एक सूत्र पहले आ चुका है। वह इस प्रकार है—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ *(सां० १-१४९)*

अर्थात्—जन्मादि की व्यवस्था के प्रमाण से जीवात्मा बहुत हैं।

दोनों (६-४५ और १-१४९) सूत्रों की तुलना करने से पता चलेगा कि सूत्र १-१४९ अधिक स्पष्ट और अर्थयुक्त है। उसकी उपस्थिति में इस सूत्र के लिखने की आवश्यकता तो थी ही नहीं; वरन् यह प्रतीत होता है कि कुछ अस्पष्ट बात कही गई है।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—उपाधिः, चेत्, तत्-सिद्धौ, पुनः, द्वैतम्।

अर्थात्—यदि उपाधि को माना जाए तो उस (उपाधि) की सिद्धि होने पर पुनः दो का होना ही सिद्ध होगा।

यह सूत्र भी इस प्रसंग के अन्य सूत्रों की भाँति अस्पष्ट है। उपाधि का अर्थ है किसी दूसरे के कारण किसी वस्तु का विशेष दिखाई देना।

सम्भवतः सूत्रकार कह रहा है कि यदि मान भी लिया जाए कि कई प्राणी दिखाई देते हैं, तो भी दो की गिनती तो माननी पड़ेगी।

यह कहा जाता है कि घटादि विभिन्न पात्रों में जल एक ही है, परन्तु घटादि विभिन्न पात्रों से वह भिन्न-भिन्न रूपवाला दिखाई देता है। यह प्रायः अद्वैतवादी कहते हैं, जो मानते हैं कि केवल एक ब्रह्म ही है। सूत्रकार का कहना है कि तब दो की उपस्थिति माननी ही पड़ेगी—घट और जल।

प्राणी-प्राणी में भेद भी इसी प्रकार माना जा सकता है।

देखने में यह युक्ति ठीक मालूम होती है, परन्तु जो कुछ सिद्ध किया जा रहा है, उसे सिद्ध नहीं करती।

विषय प्रकृति और परमात्मा का नहीं है जो घट और जल की तुलना से प्रतीत होता है। विवाद है अनेक जीवात्माओं का। इस सूत्र ने तो सिद्ध कर दिया है कि परमात्मा एक है, जैसे जल एक है, सुराही-घटादि पात्र दूसरा पदार्थ है।

हमारा निश्चित मत है कि सूत्रकार जो कुछ कहना चाहता है, वह कह नहीं सका। कदाचित् वह उपस्थित समस्या को समझा ही नहीं और केवल कुछ कहने के लिए ऐसा कह रहा है। विषय है अनेक जीवात्मा अथवा एक जीवात्मा का, और वह कह रहा है एक आत्मा और घट (प्रकृति), अर्थात् प्रश्न गंदुम और उत्तर चीनी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—द्वाभ्याम्, अपि, प्रमाण-विरोधः ।

अर्थात्—दो (को मानने) से भी प्रमाण का विरोध है ।

किस प्रकार का विरोध है ? यह अगले सूत्र में कहा है—

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥ ४८ ॥

पदच्छेद—द्वाभ्याम्, अपि, अविरोधात्, न, पूर्वम्, उत्तरम्, च, साधकाभावात् ।

अर्थात्—दो (के मानने) से भी अविरोध नहीं (विरोध है) पहले और पिछले के साधक प्रमाण न होने से ।

यहाँ सूत्रकार ने फिर सूत्र ६-४७ में कही बात दोहरा दी है ।

सूत्र ६-४७ में कहा है कि दो (मानने) से भी प्रमाण का विरोध है और सूत्र ६-४८ में कह दिया है कि दो (मानने) से भी विरोध है, पहले और पिछले (६-४५) तथा (६-४६) में कहे प्रमाणों के सिद्ध न होने से ।

'साधकाभावात्' को सूत्र (६-४७) से ही जोड़ दिया जाता तो क्या हानि थी ? साथ ही सिद्ध क्या किया है ? तनिक ध्यान से देखेंगे तो कुछ भी नहीं । ये सूत्र लिखनेवाला शंकरपंथी अद्वैतवादियों के संस्कार लिये हुए है और भाष्य करने बैठ गया है कपिल के सांख्य-सूत्र पर ।

हम यह जानते हैं कि भाष्यकारों ने, जो इन अध्यायों को कपिल का लिखा मानते हैं, टेढ़े-मेढ़े अर्थ और व्याख्या कर इनको कपिल के मतानुकूल करने का यत्न किया है, परन्तु इसमें वे असफल हुए हैं । सूत्रकार ने यह कह दिया है कि एक ब्रह्म ही है । जीवात्मा और प्रकृति भी ब्रह्म का रूप हैं । यह सांख्य का मत नहीं है ।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्त्तृविरोधः ॥ ४९ ॥

पदच्छेद—प्रकाशतः, तत्-सिद्धौ, कर्म-कर्त्तृ-विरोधः ।

अर्थात्—प्रकाश (ज्ञान) से उस (अद्वैत) की सिद्धि मानने पर कर्म-कर्त्ता का विरोध होगा ।

'तत्सिद्धौ' का अभिप्राय है जो कुछ ऊपर सिद्ध किया है ।

सूत्रकार कह रहा है कि कर्त्ता और कर्म एक नहीं हो सकते ।

यह युक्ति भी ठीक है कि कर्म कर्त्ता से भिन्न होता ही है । परन्तु कर्म क्या है ? यह तो बताया ही नहीं । अद्वैतवादी कहते हैं कि कार्य अर्थात् कार्य-जगत् है ही नहीं ।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ *(गौ० का० १-१७)*

गौड़पादाचार्य कहते हैं प्रपञ्च (कर्म) तो है ही नहीं । यदि होता तो फिर टूट जाता । इसमें संशय ही नहीं । द्वैत माया (भ्रम) है, अद्वैत ही परमार्थ है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण सूत्रकार को तो यह सिद्ध करना चाहिए कि कर्म (प्रपंच) है। तब ही तो उसका कर्त्ता इसके अतिरिक्त होगा।

वास्तव में कपिल मुनि ने इसका उत्तर दे रखा है। कपिल मुनि कहते हैं—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ *(सां० १-७८)*

कपिल मुनि ने यह भी कहा है—

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥ *(सां० १-८१)*

इन दोनों सूत्रों में आचार्य ने यह बताया है कि कार्य-जगत् तो प्रत्यक्ष है। इस कारण इसका मूल भी वास्तविक है। फिर कहा है कि बिना उपादान के कर्म नहीं हो सकता। इतने स्पष्ट कथन के उपरान्त अस्पष्ट कथन की क्या आवश्यकता थी? स्पष्ट है कि उपर्युक्त सूत्र (६-४९) कपिल नहीं कह रहा।

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

पदच्छेद—जडव्यावृत्तः, जडम्, प्रकाशयति, चिद्रूपः।

अर्थात्—जड़ से पृथक् चेतनस्वरूप (आत्मा अथवा परमात्मा) जड़ को प्रकाशित (चेतनायुक्त) कर देता है।

चेतन जब जड़ पर प्रभाव डालता है तो जड़ चेतन-सा दिखाई देने लगता है।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—न, श्रुति-विरोधः, रागिणाम्, वैराग्याय, तत्-सिद्धेः।

अर्थात्—विषयों में फँसे हुए मनुष्यों के वैराग्य के लिए, उसकी सिद्धि से श्रुति का विरोध नहीं है।

'उसकी सिद्धि से' का क्या अभिप्राय है? यह स्पष्ट नहीं है। तत् (उसकी) शब्द का जब प्रयोग किया जाता है तो यह पूर्व-सूत्र की किसी बात की ओर संकेत करता है। क्या यहाँ तत् शब्द से पूर्व-सूत्र के किसी कथन की ओर संकेत है? पूर्व-सूत्र में कहा है—

चेतन जो जड़ से पृथक् है, जड़ को प्रकाशित अर्थात् चेतन-सा कर देता है। इसकी सिद्धि से मानें तो सूत्र के अर्थ बन जाएँगे—

जड़ को चेतन-सा कर देने से, राग में ग्रसित आत्माओं को वैराग्य हो जाता है और इस बात का श्रुति में विरोध नहीं है।

यदि यह अर्थ लें तो पूर्व-सूत्र में 'चिद्रूपः' से अर्थ लिया जाएगा शरीर चित् का रूप। कारण यह कि जीवात्मा के वैराग्य के लिए आत्मा से प्रकाशित के अर्थ अयुक्त हैं।

परन्तु ये अर्थ बनते नहीं। परमात्मा के प्रकृति को चेतन-सा कर देने से रागियों को वैराग्य कैसे होगा? यह बात नहीं है। रागियों का वैराग्य तो यम-नियम इत्यादि के पालन से उत्पन्न होता है और जीवात्मा में यह ज्ञान से उत्पन्न होता है। परमात्मा के जड़ को सचेत कर देने से नहीं होता।

सूत्रकार क्या कहना चाहता है, स्पष्ट नहीं। जो कुछ उसके शब्दों से प्रतीत हुआ है, वह वस्तु-स्थिति नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात का भास अन्य भाष्यकारों को भी हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वे इस धारणा को लेकर कि कपिल मुनि का कहा सूत्र है, इसका अर्थ करने का यत्न कर रहे हैं।

श्री ब्रह्ममुनि इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

'श्रुति से विरोध नहीं। क्योंकि रागी जनों के वैराग्य के लिए संसार से वैराग्य के उत्पादनार्थ सूर्य जैसा प्रकाशवान् वह परम पुरुष परमात्मा सूचित किया है। उससे भिन्न संसार तमोरूप है। तमोरूप संसार से वैराग्य रागी को हो जाए, अतः परम पुरुष परमात्मा सूर्य के समान प्रकाशवान् कहा गया है। उसे ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है और अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है और यह लक्ष्य भी वैराग्य का निर्दिष्ट किया है।

ब्रह्ममुनि जी ने सब ठीक लिखा है। परमात्मा का प्रकाश तो सबके लिए है। सब रागी वैराग्य प्राप्त नहीं करते। अतः परमात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी करने को है, तभी वैराग्य होता है। वह कहाँ बताया है?

श्री उदयवीर शास्त्री सूत्र का अभिप्राय इस प्रकार बताते हैं—

'आत्मनानात्व का श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं। रागी जनों के वैराग्य के लिए एकत्व-कथन की सिद्धि से।'

वर्तमान युग के दोनों विद्वान् भाष्यकारों के अर्थों में भेद है। यह इस कारण कि सूत्र की रचना अशुद्ध है। सूत्रकार के मन में क्या है, स्पष्ट नहीं। 'तत्-सिद्धिः' से शास्त्री जी ने अर्थ लगाया है 'एकत्व-कथन की सिद्धि'।

शास्त्रीजी ने 'आत्मनानात्व' और 'एकत्व कथन' कहाँ से लिया है, स्पष्ट नहीं। पूर्व में कहीं इसका उल्लेख नहीं है। इस कारण 'तत्' शब्द से मनमाने अर्थ नहीं लगाए जा सकते।

तत् का अर्थ है 'उस' अर्थात् जो ऊपर कहा है। वह अर्थ लें तो सिद्धान्त-विरुद्ध अर्थ बन जाते हैं।

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात् ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—जगत्सत्यत्वम्, अदुष्टकारण-जन्यत्वात्, बाधकाभावात्।

अर्थात्—जगत् का सत्य होना (निश्चित) है, निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से (और) बाधक प्रमाण के अभाव से।

यही बात कपिल मुनि सूत्र १-७९ में कह चुके हैं। वहाँ सूत्र में शब्द इस प्रकार हैं—

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥ *(सां० १-७९)*

अर्थ है—बिना बाधा से और निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से (जगत्) अवस्तु नहीं है।

कपिल मुनि ने यही बात कही है, परन्तु कम शब्दों में और अधिक स्पष्टता के साथ। पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं थी।

प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ॥ ५३ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदच्छेद—प्रकारान्तर-असम्भवात्, सद्-उत्पत्तिः ।

अर्थात्—किसी अन्य प्रकार से असम्भव होने से सत् (कार्य-जगत् अथवा स्वरूपवान् जगत्) की उत्पत्ति होती है।

अभिप्राय यह कि अन्य किसी प्रकार से जगत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु अन्य शब्द तो तब प्रयोग किया जाता है जब कुछ ऊपर बताया गया हो। क्या पूर्व-सूत्र में जगत् की उत्पत्ति बताई है? वहाँ तो यह कहा है कि जगत् सत्य है।

तो अन्य शब्द का क्या प्रयोजन है? इस शब्द का प्रयोग तब ही हो सकता था जब किसी उपाय से जगत् की उत्पत्ति बतायी होती। तब कहा जा सकता था कि अन्य कारण से नहीं हो सकती। अतः सूत्र निरर्थक है।

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ ५४ ॥

पदच्छेद—अहंकारः, कर्त्ता, न, पुरुषः ।

अर्थात्—कार्य का कर्त्ता अहंकार है, पुरुष (परमात्मा अथवा जीवात्मा) नहीं।

यदि कार्य को देश, काल, दिशा से पृथक् कर देखा जाए तो सूत्रकार का आशय ठीक हो सकता है। परन्तु यह होता नहीं।

एक उदाहरण से बात समझी जा सकती है।

मिठाई मुख में डाली गई, चबायी गई और गले से नीचे उतारी गई। ये कार्य पुरुष (जीवात्मा) के हैं। परन्तु मिठाई का स्वाद मीठा अनुभव हुआ, यह कार्य जीवात्मा (पुरुष) का नहीं है। मुख में मिठाई डालकर मिठास का अनुभव न करना जीवात्मा के अधीन नहीं। इसी प्रकार मिठाई पेट में गई। यह पच गई और पचकर शरीर को पुष्टि मिली। यह पुरुष के अधीन नहीं।

मिठाई के मुख में जाने के उपरान्त उसमें जो परिवर्तन होते हैं और उन परिवर्तनों से जो रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य बनता है, वह पुरुष के अधीन नहीं। यह सब परिवर्तन अहंकार (सत्त्व, रजस्, तमस् अहंकार) का है।

यही बात जगत् में हो रहे रासायनिक कर्मों के विषय में कही जा सकती है। रचना-कार्य में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग तो पुरुष से ही होती है, परन्तु जब एक बार यह साम्यावस्था भंग हुई तो फिर क्रिया-प्रतिक्रिया प्रकृति के धर्म से होते हैं। ये अहंकारों से होते हैं।

सूत्रकार ने सूत्र ६-५३ में कहा है कि रचना-कार्य (सदुत्पत्ति) किसी अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकता। वहाँ अन्य से अभिप्राय है बिना पुरुष के सहयोग से।

परन्तु सूत्र ६-५४ में कहा है कि कार्य करनेवाला अहंकार है, पुरुष नहीं। उसके कथन का अर्थ वही है जो हमने ऊपर वर्णन किया है। जगत्-रचना का आरम्भ तो पुरुष (परमात्मा) ने किया, परन्तु साम्यावस्था भंग होने के उपरान्त अहंकार जब बने तो शेष कार्य अहंकारों से होने लगे। अहंकार से अभिप्राय वैकारी, तैजस और भूतादि अहंकार हैं। इन्हें वर्तमान विज्ञान में इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन कहा जा सकता है। इस संसार में सब रासायनिक और भौतिक कार्य इन अण्वान्तर-कणों से ही होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब प्रक्षेपक को विदित था अथवा नहीं, कहना कठिन है। यदि विदित होता तो यह इसकी ओर सूत्र में संकेत करता। बात ठीक है, परन्तु शब्द भ्रममूलक हैं, स्पष्ट नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रक्षेपक ने किसी विद्वान् सांख्याचार्य से सांख्य पढ़ा है, परन्तु वह पढ़े हुए को शब्दों में लिख नहीं सका। और भी कई सूत्र इसी प्रकार से अस्पष्ट तथा भ्रममूलक हैं।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥ ५५ ॥

पदच्छेद—चित्-अवसाना, भुक्तिः, तत्-कर्मार्जितत्वात्।

अर्थात्—भोग जीवात्मा तक जाते हैं उस (जीवात्मा) के कर्मों से अर्जित होने से।

इसी अभिप्राय का एक सूत्र १-१०४ पहले आ चुका है। वह सूत्र कम शब्दों में और अधिक स्पष्ट है।

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥ ५६ ॥

पदच्छेद—चन्द्रादिलोके, अपि, आवृत्तिः, निमित्त-सद्-भावात्।

अर्थात्—चन्द्रलोक में भी वापस आना होता है निमित्त कारण होने से।

चन्द्रादि लोक के स्थान से यदि लौटना कहा होता तो अधिक उपयुक्त होता। पृथिवी पर मानव-लोक में रहते हुए वापस आने की बात कही जाए तो चन्द्र-लोक 'से' कहना चाहिए था। सप्तमी के स्थान पंचमी विभक्ति होती तो बात स्पष्ट होती।

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

पदच्छेद—लोकस्य, न, उपदेशात्, सिद्धिः, पूर्ववत्।

अर्थात्—लोक की सिद्धि (प्राप्ति) उपदेश से नहीं होती, जैसा ऊपर के सूत्र में कहा है (निमित्त सद्भावात्) निमित्त से। उसके योग्य धर्म करने से होती है।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥ ५८ ॥

पदच्छेद—पारम्पर्येण, तत्-सिद्धौ, विमुक्ति-श्रुतिः।

अर्थात्—परम्परा से, उसकी सिद्धि होने पर मुक्ति की श्रुति है।

यहाँ 'तत्-सिद्धौ' के अर्थ यही हो सकते हैं कि विवेक प्राप्त होने पर।

'परम्परा से' का अभिप्राय है कर्म-फल से उच्च और उच्च योनि प्राप्त करते हुए।

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद् भोगदेशकाललाभो व्योमवत् ॥ ५९ ॥

पदच्छेद—गतिश्रुतेः, च, व्यापकत्वे, अपि, उपाधियोगात्, भोगदेशकाललाभः, व्योमवत्।

अर्थात्—(आत्मा की) गति (जन्म-जन्मान्तर में जीना) सुना जाने से और यह (प्रक्रिया) व्यापक होने पर (सब आत्माओं के साथ होने के कारण) उपाधि (अविवेक) के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग (सम्बन्ध) से भोग (सुख-दुःख) देश (स्थान) काल (समय) की प्राप्ति होती है जैसे आकाश होता है।

'व्योमवत्' शब्द का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। आकाश की व्यापकता की तुलना की है अथवा 'घटाकाश' इत्यादि की उपमा दी है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रक्षेपक सांख्य-दर्शन के विषय में जहाँ भी अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है, कुछ अर्थहीन अथवा अशुद्ध बात कह देता है। व्योमवत् न कहता तो सूत्रार्थ अधिक स्पष्ट हो जाता।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥ ६० ॥

पदच्छेद—अनधिष्ठितस्य, पूतिभाव-प्रसंगात्, न, तत्-सिद्धिः ।

अर्थात्—(पुरुष से) अनधिष्ठित देह के, पूतिभाव-प्रसंगात् दुर्गन्ध के भाव उपस्थित होने से उसकी सिद्धि नहीं।

इस सूत्र में पुनः तत्-सिद्धिः का अर्थ संदिग्ध है। किसकी सिद्धि नहीं? यदि तत् के अर्थ पूर्व के सूत्र से लें तो जीवात्मा होगा। ऊपर के सूत्र में कहा है कि जीवात्मा का जन्म-जन्मान्तर में जाना उपाधि के सम्बन्ध (अज्ञान के सम्बन्ध) से है। इस कारण इस सूत्र में तत् का अर्थ जीवात्मा होना चाहिए। अर्थ होगा—जीवात्मा की सिद्धि नहीं।

परन्तु स्पष्ट न होने से इसके अर्थ भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न किये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री ने 'तत्-सिद्धिः' का अर्थ किया है—देह की रचना सम्भव नहीं। हमने ऊपर भी कहा है कि 'तत्' का अर्थ उस अर्थात् ऊपर के सूत्र में आई कोई बात नहीं है। रचना का उल्लेख ऊपर के सूत्र में नहीं। जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तर में आने-जाने की बात कही है। अतः तत् का अर्थ जीवात्मा होना चाहिए।

श्री ब्रह्ममुनि लिखते हैं—(तत्-सिद्धिः) आत्मा के व्यापकत्व की सिद्धि नहीं होती।

हमारे विचार में सूत्र का अभिप्राय है कि जीवात्मा की (होने न होने की) सिद्धि नहीं होती!

अर्थात् सूत्रकार यह कह रहा है कि देह से आत्मा चला जाता है तो देह दुर्गन्ध करने लगती है। इससे आत्मा के जाने अथवा न जाने का पता नहीं चलता।

यह बात प्रायः भाष्यकारों को स्वीकार नहीं। परन्तु सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि कार्य (शरीर का बना रहना) अथवा सड़ जाना (putrification) अहंकारों से होता है। यह सूत्र ६-५४ में कहा है। यह इस सूत्र ६-६० का स्वाभाविक परिणाम है। मृत शरीर को ठण्डा रखा जाए तो पूति-प्रसंग नहीं होता।

शरीर का सड़ जाना आत्मा के जाने न जाने से सम्बन्धित नहीं। यह अहंकारों से सम्बन्धित है। हम इसकी व्याख्या सूत्र ६-५४ के भाष्य में कर चुके हैं।

माता-पिता की शक्ति से प्राप्त संवेग से, जो शुक्राणु और डिम्ब में होता है, भ्रूण बनने लगता है। भ्रूण तथा भ्रूण के उपरान्त कुछ काल तक शरीर इस संवेग से बनता रहता है। जब शरीर इस योग्य हो जाता है कि उसमें जीवात्मा आकर निवास कर सके तब जीवात्मा उसमें आता है।

कभी जीवात्मा नहीं आता तो भ्रूण व्यर्थ जाता है, अथवा शरीर किसी विकृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ठीक नहीं बनता तो जीवात्मा उसमें नहीं आता। भवन पहले बनता है और उसमें रहनेवाला उसका स्वामी पीछे आता है।

अगले सूत्रों में भी यही भाव दर्शाया है । हमारी आपत्ति यह है कि इस सूत्र में भाव ठीक प्रकट करते हुए भी स्पष्ट अर्थयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ।

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदङ्कुरे ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—अदृष्ट-द्वारा, चेत्, असम्बद्धस्य, तत्-असम्भवात्, जलादिवत्, अङ्कुरे।

अर्थात्—अदृष्ट (जीवात्मा) द्वारा यदि (शरीर का विकास) हो तो बिना सम्बन्ध के उसका सम्भव न होना (है) जैसे अंकुर में जलादि से (होता है)।

ऊपर के सूत्र में कही बात को सूत्रकार ने उदाहरण से सिद्ध किया है। सूत्रकार कहता है कि बीज से अंकुर फूटने में जीव का सहयोग नहीं, वरन् जलादि (जलवायु आदि) के संयोग से बीज अंकुर बनता है। यदि बीज में जीव होता और उसके योग से अंकुर बनना होता तो जलादि के बिना भी बन जाता।

वस्तुस्थिति यह है कि बीज में जीवात्मा नहीं होता। बीज बोरों में बन्द गोदामों में पड़ा रहता है। बीज में शक्ति होती है जो जलादि के संयोग से कार्य करने लगती है। अंकुर बनता है। तदनन्तर उचित समय पर जीवात्मा उसमें आता है। यही बात प्राणी के भ्रूण की है। जीवात्मा न तो शुक्राणु में होता है और न डिम्ब में। दोनों के संयोग से भ्रूण बनता है। यह बनता है शुक्राणु और डिम्ब में माता-पिता की शक्ति के संवेग से।

शरीर का बनना अथवा सड़ना जीवात्मा के आने से नहीं, वरन् अहंकारों के धर्म से होता है। जीवात्मा बाद में आता है। सड़ने से पहले चला जाता है। प्रश्न यह रह जाता है कि जीवात्मा के रहते सड़न क्यों नहीं होती? इसमें वर्तमान शरीर-विज्ञान यह कहता है कि जीवात्मा जब तक शरीर में रहता है वह शरीर का तापक्रम समान रखता है। ऐसा वह परमात्मा से दिए प्राण की सहायता से करता है।

शरीर-निर्माण के समय तो माता-पिता के प्राण से तापक्रम बना रहता है। उनकी शक्ति का संवेग कुछ काल तक बना रहता है और शरीर बनता रहता है। वह संवेग समाप्त होने से पहले ही जीवात्मा उसमें आ जाता है तो शरीर का निर्माण चलता रहता है।

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—निर्गुणत्वात्, तत्-असम्भवात्, अहंकारधर्माः, हि, एते।

अर्थात्—(जीवात्मा के) निर्गुण होने से, उसका सम्भव न होने के कारण (शरीर का निर्माण अथवा सड़ना) अहंकार धर्म से निश्चय से यह है।

यहाँ जीवात्मा के निर्गुण होने का अभिप्राय है कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से रहित है और देह का बनना तथा सड़ना निश्चय से रासायनिक कार्य है जो इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन (तैजस अहंकार और वैकारी अहंकार) के कार्य हैं। इस कारण ये जीवात्मा के कार्य नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टस्य जीवत्त्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३ ॥

पदच्छेद—विशिष्टस्य, जीवत्त्वम्, अन्वय-व्यतिरेकात् ।

अर्थात्— विशिष्ट गुणवाले (प्राणी) का जीवित रहना है अन्वय-व्यतिरेक से ।

अन्वय-व्यतिरेक का अर्थ है क्रमवार रखना अथवा क्रम-भंग की दशा । यहाँ इससे अभिप्राय है शरीर-रचना और शरीर का विघटन । सूत्र का अभिप्राय यह है कि शरीर में निर्माण और विघटन ही जीवन का रहना है प्राणी में ।

यह पूर्ण सत्य नहीं । इस विषय में इस अध्याय के अन्तिम सूत्र के उपरान्त भाष्य पढ़ना चाहिए ।

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—अहङ्कारकर्त्रधीना, कार्यसिद्धिः, न, ईश्वराधीना, प्रमाणाभावात् ।

अर्थात्—अहंकार कर्त्ता के अधीन कार्य सम्पन्न होता है, यह ईश्वराधीन नहीं, प्रमाण के अभाव से (ऐसा कहीं देखा-सुना नहीं जाता) ।

इस विषय में हमारी टिप्पणी सूत्र ६-७० के भाष्य में पढ़ें ।

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—अदृष्टोद्भूतिवत्, समानत्वम् ।

अर्थात्—अदृष्ट से उत्पन्न होने की तरह समान ही है ।

अदृष्ट के अर्थ हैं वह जो दिखाई नहीं देता । यह जीवात्मा भी हो सकता है अथवा कर्म-फल भी हो सकते हैं । दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है । अतः 'अदृष्ट से उत्पन्न' के अर्थ होंगे जीवात्मा से उत्पन्न । क्या उत्पन्न ? जिसका उल्लेख ऊपर के सूत्रों में आया है । ऊपर के सूत्रों में कहा है कि शरीर में क्रमवार निर्माण और विघटन-कार्य (अन्वयव्यतिरेकात्) से विशिष्ट (प्राणी) से जीवन का कार्य चलता है जो अहंकारों के कर्म के अधीन है, ईश्वर के नहीं ।

अभिप्राय यह है कि ऐसा कहना और यह कहना कि जीवात्मा के कारण होता है, समान अर्थवाला ही है ।

यह समानार्थवाला कैसे है ? स्पष्ट नहीं । हम इस विषय पर अपने विचार इन सब सूत्रों के अन्त में बताएँगे । ये सब सूत्र सम्बन्धित ही हैं ।

परन्तु श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

'अदृष्ट से उद्भव की तरह पुरुषार्थ से उद्भव कहना समानता रखता है ।'

इस पर हमारा कहना है कि पुरुषार्थ से उद्भव सूत्रकार ने नहीं बताया । ऊपर के किन्हीं सूत्रों में भी ऐसा नहीं कहा । यह पुरुषार्थ लिखना एक दुर्बल मुकद्दमे को सिद्ध करने के लिए अशुद्ध प्रमाण तथा उपमा देना है ।

हम सूत्रकार के भाव को जानने का यत्न करते हुए भाष्य करते हैं, न कि अपने मन की कल्पना व्यक्त करने के लिए ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

पदच्छेद—महतः, अन्यत् ।

अर्थात्—महत् से अन्य (सब परिणाम)।

महत् प्रकृति का प्रथम परिणाम है। शेष सब रूप महत् से ही बनते हैं। यह कथन कपिल के मतानुसार ही है।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत् ॥ ६७ ॥

पदच्छेद—कर्म-निमित्तः, प्रकृतेः, स्वस्वामिभावः, अपि, अनादिः, बीजांकुरवत् ।

अर्थात्—कर्म है कारण जिसका (ऐसा) प्रकृति का स्व-स्वामिभाव अनादि है, बीज-अंकुर की भाँति।

अभिप्राय यह कि कर्म है कारण जिसका (ऐसा) स्व-स्वाभिमाव, अनादि है, बीजांकुर की भाँति। स्व-स्वामिभाव का अभिप्राय है प्रकृति की अपनी वस्तु (मलकीयत) का स्वामित्व होना।

यह अनादि है, जैसे बीज और अंकुर अनादि-क्रम है।

यह पूर्ण सत्य नहीं। इस विषय में हमारा भाष्य पुस्तक के अन्तिम सूत्र पर पढ़ें।

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥ ६८ ॥

पदच्छेद—वा, अविवेकनिमित्तः, पञ्चशिखः ।

अर्थात्—पञ्चशिख कहता है कि कर्म-निमित्त है अथवा अविवेक-निमित्त कहा जा सकता है।

सूत्रकार कहता है कि प्रकृति महत् से अन्य परिणामों में और व्यतिरेक होकर पुनः महत्-रूप में आ जाती है, स्व-स्वामी-भाव से, अर्थात् अपने परिणामों पर अपना स्वामी होने के अधिकार से।

पंचशिख कहता है कि कर्म के कारण अथवा अविवेक के कारण। पंचशिख का अभिप्राय है कि कर्म जीवात्मा के अविवेक के कारण होता है। अतः दोनों में अन्तर नहीं।

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥ ६९ ॥

पदच्छेद—लिङ्गशरीरनिमित्तकः, इति, सनन्दनाचार्यः ।

अर्थात्—सनन्दनाचार्य का कहना है कि लिंग के निमित्त से, अर्थात् लिंग शरीर होने के कारण से भी प्रकृति का स्व-स्वामी-भाव अनादि है।

अब सूत्रकार कहता है—

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥

पदच्छेद—यद्-वा, तद्-वा, तदुच्छित्तिः, पुरुषार्थः, तदुच्छित्तिः, पुरुषार्थः ।

अर्थात्—(निमित्त) जो भी हो (यह अथवा वह) इनका उच्छेद (ही) पुरुषार्थ (मोक्ष)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, अर्थात् कर्म है, अविवेक है अथवा लिंग शरीर है। इनका उच्छेद होना ही चाहिए।

अभिप्राय यह है कि कुछ भी मानो, कर्म निमित्त मानो, अविवेक निमित्त मानो अथवा लिंग शरीर निमित्त मानो, इन निमित्तों को विनष्ट कर देना ही मोक्ष है।

हम इन सूत्रों (६-५४ से ६-७०) में कही बात को ठीक मानते हैं। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है।

प्रकृति के परिवर्तनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक, प्रकृति से महत् के निर्माण तक। यह है सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था को भंग कर महत् की सृष्टि करना। यह कार्य ऐसा है जो प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती। इसमें परमात्मा की शक्ति (तेज) ही समर्थ है।

कपिल लिखते हैं—

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम्॥ *(सां० १-८६)*

इसका अर्थ है कि गुणों की साम्यावस्था भंग होना एक अति महान् कार्य है। सामान्य विघटन इसके समान महान् काम नहीं है।

हमारा कहना है कि साम्यावस्था भंग होना परमात्मा के तेज से ही सम्भव है। इन सूत्रों के लिखनेवाले ने भी सूत्र ६-६६ में इसका संकेत किया है।

सूत्रकार जो कुछ इन सूत्रों में कह रहा है वह महत् से आगे के परिणामों के विषय में कह रहा है। महत् से अहंकार और अहंकार से इन्द्रियाँ तथा पंचमहाभूत और पंच तन्मात्रा इन तीन गुणों के आकर्षण-विकर्षण से ही बनती हैं।

वास्तव में सूत्र 'महतोऽन्यत्' (६-६६) सूत्र 'अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः' (६-५४) से पहले लिखा जाना चाहिए था। सूत्र ६-५४ भी प्रकृति से महत् के बनने के विषय में नहीं है। वह कार्य परमात्मा (ब्रह्म) से ही सम्पन्न हो सकता है।

यही बात एक प्राणी में होती है। प्राणी के सब कार्य अहंकारों से नहीं होते। सूत्र ६-६३ में 'विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्' में यह कहा है कि प्राणी का जीवन चलना संघटन-विघटन से होता है और संघटन-विघटन जैसा कि ऊपर कहा है, अहंकारों से होता है। यह पूर्ण सत्य नहीं है।

तनिक प्राणी के जीवन-कार्य का विचार करें तो पता चलेगा कि कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो अहंकारों से नहीं चलते। मान लीजिए कि एक व्यक्ति के सामने पाँच प्रकार की मिठाइयाँ पड़ी हैं। वह उनमें से एक खाना चाहता है और इस इच्छा के अनुरूप रसगुल्ला उठाकर मुख में डाल लेता है। उठाकर मुख में डालना और इसे चबाकर गले के नीचे उतरने तक का कार्य जीवात्मा के आदेश से होता है। यह प्रकृति और अहंकारों के आदेश से नहीं होता।

यह ठीक है कि जिस समय रसगुल्ला पेट में चला गया तो आगे जो कुछ भी होता है वह प्रकृति का कार्य है। उसे अहंकार कहते हैं।

हम अहंकार मानते हैं इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन को और सब रासायनिक प्रतिक्रियाएँ इनके द्वारा ही होती हैं।

एक बार रसगुल्ला में पेट में गया, तब इससे रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वीर्य सब रासायनिक परिवर्तनों से ही बनते हैं। ये अहंकारों के कार्य हैं। परन्तु रसगुल्ला उठाकर मुख में डालना और उसे गले के नीचे उतारना जीवात्मा की इच्छा और आदेश के बिना नहीं होता।

आत्मा बुद्धि से विचारकर कार्य करता है और न तो जीवात्मा और न ही बुद्धि अहंकारों की उपज हैं। अतः ये सब सूत्र (६-५४ से ६-७० तक) अधूरे सत्य हैं और भ्रमोत्पादक हैं। इन्हीं सूत्रों के कारण विपक्षी सांख्य-दर्शन को नास्तिक शास्त्र मानते हैं।

जगत्-रचना में गुणों की साम्यावस्था भंग परमात्मा से होती है। पीछे के परिवर्तन प्रकृति के कर्म से होते हैं।

अब तनिक पंचशिख और सनन्दनाचार्य के कथन पर भी विचार करना चाहिए। वे कथन भी मिथ्या हैं। प्राणी में जो कार्य अहंकार से होते हैं, अर्थात् एक रसगुल्ले का पेट में जाकर रस-रक्तादि में परिवर्तन होना, यह विवेक-अविवेक के अधीन नहीं। जब ये कर्म जीवात्मा के अधीन नहीं तो ये विवेक-अविवेक से क्या सम्बन्ध रख सकते हैं, कहना कठिन है। हाँ, रसगुल्ले को उठाकर मुख में डालना और उसको गले से नीचे उतारने तक जीवात्मा और विवेक-अविवेक से सम्बन्ध रख सकता है।

इसी प्रकार सूक्ष्म देह का भी उतने कार्य से ही सम्बन्ध है जो जीवात्मा से रखता है। एक बात और समझ लेनी चाहिए। शरीर में रासायनिक कार्य, खाये अन्न से रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य तो अहंकारों से बनते हैं, परन्तु इनका शरीर में संचार (चलना) अहंकारों से नहीं होता। उदाहरण के रूप में आमाशय की गतियाँ, आँतों की गतियाँ, हृदय का स्पन्दन, वृक्क में मूत्र का प्रवाहन इत्यादि कार्य अहंकारों से सम्बन्ध नहीं रखते। ये शरीर में मुख्य प्राण से चलते हैं। ये प्राण भी ईश्वर की देन हैं।

अतः यह सूत्र **अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्** (६-५४) भी सर्वथा सत्य नहीं है। इसमें अंश-मात्र ही सचाई है। शरीर के परिवर्तन तो अहंकारों से होते हैं, वही अहंकारों के अधीन हैं। शरीर में हृदय इत्यादि का चलना परमात्मा के अधीन है। प्राणी उसी के अधीन है। इसमें प्रमाण भी है—अथर्ववेद ११-४-२३ तथा ११-४-१।

अतः इन सूत्रों का रचयिता सांख्य-सिद्धान्त से अपरिचित, वेद-विरुद्ध, अस्पष्ट भाषा लिखनेवाला, युक्ति से शिथिल व्यक्ति है।

हमारा मत है कि (वर्तमान) सांख्य में चौथा, पाँचवाँ और छठा अध्याय कपिल मुनि द्वारा लिखा हुआ नहीं है।

अध्याय पाँचवें और छठे को परवादों के उत्तर मानते हैं। परन्तु इन अध्यायों में एक भी विरोधी भाव प्रतिपक्षी का वचन नहीं है। प्रक्षेपक के अण्ट-शण्ट कथन ही हैं।

सांख्य के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय संस्कृत-वाङ्मय की अद्वितीय निधि हैं। इसकी उपमा का कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार

सांख्य और उसके अनुरूप भारतीय पुराण इत्यादि ग्रन्थों में यह कहा है कि व्योम सीमारहित है। कोई नहीं कह सकता कि यह कहाँ जाकर समाप्त होता है और इसके समाप्त होने के उपरान्त क्या है। हमारा मत है कि यह विचारातीत है।

सृष्टि-रचना, जैसी हम अपने जगत् में देखते हैं, वैसी रचनाएँ व्योम में अन्य स्थानों पर भी हैं। यह बुद्धि नहीं मानती कि इस असीम व्योम में हमारे जगत् के बाहर कुछ न हो तथा कुछ बन अथवा बिगड़ न रहा हो।

भारतीय शास्त्रों में यह स्वीकार किया गया है कि व्योम में अनेक स्थानों पर ऐसी सृष्टियाँ, जैसी हमारी 'गैलेक्सी' है, बनी हैं, निरन्तर बन रही हैं और बनी हुई विखण्डित हो रही हैं।

जगत्-रचना से पहले व्योम में इस स्थान पर क्या था? (ऋग्वेद १०-१२९-१, २) में यह कहा है कि यहाँ सब-कुछ तमोभूत था।

'तदानीं प्रलयदशायामवस्थितम् ।'

(सायण)

अर्थात्—प्रलय की अवस्था में, न सत् था और न असत् था।

सांख्य कहता है कि सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था थी।

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।' *(सां० १-६१)*

आज का वैज्ञानिक इस अवस्था के विषय में मौन है। उनकी खोज के साधन वहाँ तक नहीं पहुँचते। भारतीय शास्त्रज्ञों के उपाय अतीन्द्रिय होने से निस्सन्देह वर्तमान युग के वैज्ञानिकों से अधिक सूक्ष्म और दूर तक पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं।

वर्तमान विज्ञान की दो शाखाएँ कल्पित की गई हैं जो इस विषय पर प्रकाश डालती हैं। उनमें से एक है 'कौस्मोगोनी' और दूसरी को कहते हैं 'कौस्मोलॉजी'।

'कौस्मोगॉनी' में क्षेत्र के विषय में कहा है—

Cosmogony, the branch of astronomy concerned with the evolutionary behaviour of the universe and the origin of its various characteristic features.

(Ency. Brittanica (1967 ed.) Vol. 6, p.578)

अर्थात्—कौस्मोगॉनी खगोल-विद्या की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध जगत् के विकास के साथ और इस (जगत्) के भिन्न-भिन्न रूपों की उत्पत्ति के साथ है।

विज्ञान की इस शाखा में बहुत-कुछ पता किया गया है जो भारतीय शास्त्रों में भी वर्णित है। अभिप्राय है हिरण्यगर्भ का बनना और फटना तथा उसमें से ग्रहों, नक्षत्रादि का बनना। परन्तु उस आदि मूल पदार्थ के विषय में कुछ नहीं कहा गया।

एक बात जो वर्तमान युग के वैज्ञानिक जान गए हैं, वह है—

The cornerstone of the modern cosmogorical theories is the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

assumption that the system of galaxies scattered through the vast space of the universe is in the state of progressive expansion or dispersal.

अर्थात्—कौस्मोगॉनी का आधारभूत विचार यह है कि गैलैक्सियाँ फैल और बिखर रही हैं।

इस विषय में भारतीय विज्ञान कहता है—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ *(मनु० १-१२)*

अर्थात्—ब्रह्मा ने उस अण्डे में एक वर्ष (देव वर्ष) तक वास किया। अपने ध्यान के द्वारा अण्डे के दो टुकड़े कर दिए।

इसका अभिप्राय है कि हिरणयगर्भ में एक देव-वर्ष तक पदार्थ पकते रहते हैं और वे फैलते हैं और तब हिरण्यगर्भ फट जाता है।

यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक, इस हिरण्यगर्भ के बनने से पहले क्या था और उसमें क्या हुआ, इस विषय में कुछ नहीं जानता।

उस अवस्था के विषय में सांख्य ने कहा है कि तब एक मूल पदार्थ प्रकृति रहती है जो साम्यावस्था में तमोभूत और न सत्, न असत् होती है। इसे वैदिक भाषा में 'स्वधा' कहते हैं जो कणदार (परमाणु रूप) होती है और प्रत्येक परमाणु में तीन गुण रहे हैं—एक सात्त्विक (+) दूसरा तैजस् (−) और तीसरा तमस् (०) है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य स्थिति में तमस् (०) पृथिवी के तेज को कहते हैं। परन्तु वह भी कुछ तो तेजवाला होता ही है। इस कारण सांख्य का तमस् वह शून्य नहीं जो पृथिवी का समझा जाता है।

पृथिवी का (०) सर्वथा शून्य नहीं होता।

इस प्रकृति के दो रूप वर्णन किए गए हैं—जड़त्व और त्रिगुणत्व। ऐसे रूपोंवाली प्रकृति का वर्णन वर्तमान विज्ञान में नहीं मिलता।

इसी विषय के विज्ञान की दूसरी शाखा कौस्मोलॉजी है। इसके विषय में यह कहा है—

Cosmology in the broadest sense of the word, is that branch of learning which treats of the universe as an ordered system.

(Ibid. p.582)

अर्थात्—व्यापक दृष्टि से शब्द कौस्मोलॉजी ज्ञान की वह शाखा है जो जगत् को एक नियम से चल रहा प्रपंच समझती है।

इससे यह पता चलता है कि निर्मित जगत् का विषय कौस्मोलॉजी में कहा गया है।

इसके विषय में ऋग्वेद (१०-१९०) के तीन मन्त्र हैं। इसका प्रथम मन्त्र है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ *(ऋ० १०-१९०-१)*

इसका अभिप्राय है कि रात्रि-समान अन्धकार था। उसमें तप (अत्यन्त परिश्रम) से अपः समुद्र की भाँति अथाह गहन गम्भीर उत्पन्न हुआ। यह सब सत्य नियम से ही हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही सांख्य-दर्शन का कथन है। प्रकृति तमोभूत थी। वह सोयी-समान थी और उसमें तेज की सहायता से महत् एवं अहंकार, जिसे अपः भी कहते हैं, उत्पन्न हुए। यह सब एक 'ऋतं सत्यं' (सत्य नियम) से अभिव्यक्त हुआ।

यह कैसे उत्पन्न हुआ? सांख्य में उसकी परम्परा लिखी है। यह परम्परा कौस्मोगॉनी अथवा कौस्मोलॉजी में लिखी दिखाई नहीं देती।

एक प्रश्न और है। वह वर्तमान विज्ञान की 'क्वांटम' (प्रक्रिया) तथा तरंग-प्रक्रिया के विषय में है। आज से पचास वर्ष पहले इन दोनों प्रक्रियाओं को उपस्थित करनेवालों में बहुत ले-दे हो रही थी। ये प्रक्रियाएँ हैं जिनसे शक्ति, विद्युत्, प्रकाश इत्यादि का बहाव होता कहा जाता है। 'क्वांटम' प्रक्रिया का अभिप्राय है कि जब प्रकाश, विद्युत् इत्यादि एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते हैं तो ये कण इलैक्ट्रोन हो जाते हैं और लक्ष्य-स्थान पर पहुँचते हैं। दूसरा मत था कि कोई कण नहीं जाता। शक्ति तो तरंगों के रूप में जाती है।

इस विषय में सांख्य का विशेष मत है। सांख्याचार्य मानता है कि सत्त्व, रजस् और तमस् परमाणु के गुण हैं। ये परमाणु के साथ रहते हैं।

गुण गुणी के साथ सदा रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि इलैक्ट्रोन ही विद्युत् का प्रतीक है अथवा इलैक्ट्रोन ही प्रकाश के प्रवाह में है।

इस विषय में हम सांख्य-सूत्र ६-५० के भाष्य में लिख चुके हैं। यहाँ इतना और बता देना चाहते हैं कि सांख्यानुसार शक्ति के दो रूप हैं। एक वह जो परमाणुओं में साम्यावस्था भंग करती है। वह परमात्मा का तेज है। यह तरंगों के रूप में ही आता है। इस विषय में वेद में लिखा है—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥

(ऋ० १०-१२९-५)

सायण कहता है कि यह जो कुछ कहा है—'सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि'—यह सृष्टि के कारण का वर्णन करने के लिए कहा है 'येयं नासदासीदित्यविद्या प्रतिपादिता' जो वह सत्, असत् (स्वधा) सदा विद्यमान कार्य कहा गया है।

क्या कार्य कहा गया है? 'इति कामो मनस्रो रेतः प्रथमं यदासीदिति यत्कर्म'—मन की कामनारूपी बीज जो सबसे प्रथम प्रकट हुआ, वह (तेज) किरणों के रूप में बहुत दूर तक (परमाणुओं के) नीचे भी और और ऊपर भी व्याप्त हो गया। परमाणु तेज को धारण करनेवाले थे।

महिमानः—महान्तो वियदादयो भोग्याः।

अर्थात्—आकाश (व्योम) में उपस्थित महान् परमाणुओं के भोग के लिए, आसन्—थे। (यह सायण ने अर्थ किए हैं)

इससे यह स्पष्ट है कि परमात्मा का तेज एक शक्ति थी जो महान् शक्तिवाली प्रकृति के महिमायुक्त परमाणुओं के ऊपर-नीचे व्याप्त होकर उसमें कार्यजगत् का बीज बन गई और उससे दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई। पहली शक्ति तो तरंगों के रूप में चलती है और दूसरी शक्ति जो कण-प्रक्रिया से चलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु ये 'क्वांटम' कण पूर्ण मार्ग पर नहीं चलते, जैसा कि हमने सूत्र ६-५० के भाष्य में बताया है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब सूर्य से इलैक्ट्रोन (तैजस अहंकार) छूटते हैं तो वे इलैक्ट्रोन ही पृथिवी तक नहीं पहुँचते। वे वहाँ अन्तरिक्ष में उपस्थित परमाणुओं को ठोकर मारते हैं और वहाँ से वे साथ-साथ के परमाणुओं को ठोकर मारते हुए चलते हैं। ठोकर चलती हुई पृथ्वी तक जाती है और फिर आँख के समीप के परिमण्डल का इलैक्ट्रोन आँख के चित्रपट पर टकराता है और वहाँ उपस्थित परिमण्डलों की ठोकर मन तथा जीवात्मा तक पहुँचती है।

वैसे इलैक्ट्रोन (तैजस अहंकार) भी चलते हैं। परन्तु इनकी गति ऐटम के भीतर १२×१०^{-८} प्रति सैकण्ड है। यह एक सैकण्ड में १२/१००००००००० cm. होगी। परन्तु प्रकाश की गति तो १,८०,००० मील प्रतिक्षण है। अतः प्रकाश इलैक्ट्रोन है, परन्तु जो १,८०,००० मील प्रतिक्षण चलता है, वह इलैक्ट्रोन नहीं। वह इलैक्ट्रोन के पीछे धक्के की शक्ति है। इसे सांख्यवाले तेज कहते हैं।

हमें सांख्यदर्शन भारतीय ज्ञान और विज्ञान का शास्त्र प्रतीत हुआ है और हमने इस भाष्य में वर्तमान युग के ज्ञान-विज्ञान से इसकी तुलना करने का प्रयास किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणामनुक्रमणिका

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अ		
अकर्तुरपि फलोपभोगोः	१—१०५	११८
अकार्यत्वेऽपि तद्योगः	३—५५	२२२
अचाक्षुषाणामनुमानेन	१—६०	८५
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवत्	३—५९	२२३
अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः	३—१४	२००
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे	१—५३	८०
अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानाम्	२—२३	१६८
अत्यन्तदुःखनिवृत्या	६—५	३२३
अथ त्रिविधदुःखात्यन्त—	१—१	२३,५१,२३५
अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य	६—६१	३४९
अदृष्टवशाच्चेत्	१—३०	७०
अदृष्टोद्भूतिवत्	६—६५	३५०
अधिकारिप्रभेदान्न नियमः	३—७६	२३२
अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः	१—७०	९९
अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः	६—२२	३३२
अधिष्ठानाच्चेति	१—१४२	१३६
अध्यवसायो बुद्धिः	२—१३	१६३
अध्यस्तरूपोपासनात्	४—२१	२४७
अनधिष्ठितस्य पूर्तिभाव	६—६०	३४८
अनादावद्य यावदभावाद्	१—१५८	१४५
अनादिरविवेकोऽन्यथा	६—१२	३२८
अनारम्भेऽपि परगृहे	४—१२	२४४
अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात्	५—९१	३९१
अनियतत्वेऽपि नार्थाक्तिकस्य	१—२६	६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अनुपभोगेऽपि पुमर्थम्	६—४०	३४०
अन्तःकरणधर्मत्वम्	५—२५	२६७
अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वात्	१—९९	११५
अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात्	१—१५३	१४३
अन्यपरत्त्वमविवेकानां तत्र	५—६४	२८८
अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिः	२—८	१५९
अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न	३—६६	२२६
अपवादमात्रमबुद्धानाम्	१—४५	७६
अपुरुषार्थत्वमन्यथा	६—१८	३३१
अपुरुषार्थत्वमुभयथा	१—४७	७६
अबाधाददुष्टकारण—	१—७९	१०४, ३४५
अबाधे नैषफल्यम्	५—१७	२६३
अभिमानोऽहंकारः	२—१६	१६४
अर्थात् सिद्धिश्चेत्	५—२४	२६७
अवान्तरभेदाः पूर्ववत्	३—४१	२१७
अविवेकनिमित्तो वा	६—६८	३५१
अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः	१—१०६	११९
अविशेषश्चोभयोः	१—६	५६
अविशेषाद्विशेषारम्भः	३—१	१९०
अविशेषापत्तिरुभयोः	६—१९	३३१
अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिगात्	१—१३६	१३२
अव्यभिचारात्	२—४१	१८१
अशक्तिष्टाविंशतिधा तु	३—३८	२१५
असङ्गोऽयं पुरुष इति	१—१५	६०
असाधनानुचिन्तनं बन्धाय	४—८	२४१
अस्त्यात्मा नास्तित्व—	६—१	३२०
अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिः	६—६४	३५०
अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः	६—५४	३४६
अहिनिर्ल्वयिनीवत्	४—६	२४१
अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वय	६—१५	३२९

आ

आञ्जस्यादभेदतो वा	१—१२५	१२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः	२—११	१६०
आद्यहेतुता तद्द्वारा	१—७४	१०२
आधेयशक्तियोग इति	५—३२	२७१
आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्ति	५—३६	२७३
आध्यात्मिकादिभेदात्	३—४३	२१७
आपेक्षिको गुणप्रधानभावः	२—४५	१८३
आप्तोपदेशः शब्दः	१—१०१	११६
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते	२—४७	२१९
आ विवेकाच्च प्रवर्त्तनम्	३—४	१९३
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४—३	२३९
आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तर	२—५२	२२१
आश्रयासिद्धेश्च	५—१२७	३१७
आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि	२—२०	१६६
इ		
इतर इतरवत्तद्दोषात्	३—६४	२२५
इतरथाऽन्धपरम्परा	३—८१	२३४
इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नि	४—२२	२४७
इतरस्यापि नात्यन्तिकम्	३—२७	२०८
इदानीमिव सर्वत्र	१—१५९	१४५
इन्द्रियेषु साधकतमत्व—	२—३९	१८१
इषुकारवन्नैकचित्तस्य	४—१४	२४४
ई		
ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा	३—५७	२३३
ईश्वरासिद्धेः	१—९२	१११
उ		
उत्कर्षादपि मोक्षस्य	१—५	५५
उत्पत्तिवद्वाऽदोषः	१—१२३	१२५
उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः	३—७९	२३४
उपभोगादितरस्य	३—५	१९३
उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्	१—१६४	१४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
उपादाननियमात्	१—११५	१२३
उपाधिभेदेऽप्येकस्य	१—१५०	१४०
उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्	१—१५१	१४१
उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ	६—४६	३४२
उभयथाप्यविशेषः	६—२६	३३४
उभयथाप्यसत्करत्वम्	१—९४	११२
उभयपक्षसमान—	१—४६	७६
उभयसिद्धिः प्रमाणात्	१—१०२	११७
उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न	५—१००	३०५
उभयत्राप्येवम्	५—२३	२६७
उभयात्मकं मनः	२—२६	१७०
उभयान्यत्वात् कार्यत्वम्	१—१२९	१२९
ऊ		
ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला	३—४८	२२०
ऊष्मजाण्डजजरायुजः	५—१११	३०९
ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा	३—४४	२१८
ए		
एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्	२—१७	८८, १००, १६५
एकः संस्कारः	५—१२०	३१५
एवमितरस्याः	३—४२	२१७
एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य	१—१५२	१४१
एवं शून्यमपि	५—७९	२९६
ऐ		
ऐकभौतिकमित्यपरे	३—१९	२०१
औ		
औदासीन्यं चेति	१—१६३	१४७
क		
करणं त्रयोदशविधम्	२—३८	१८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
कर्मानिमित्तयोगाच्च	३—६७	२२८
कर्मनिमित्तः प्रकृतेः	६—६७	३५१
कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः	३—६०	२२४
कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा	३—५१	२२०, ३४०
कर्मवैचित्र्यात् सृष्टि—	६—४१	३४०
कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः	३—६२	२२४
कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः	२—१९	१००, १६६
काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्व	१—८५	१०७
कारणभावाच्च	१—११८	१२४
कार्यतस्तत्सिद्धेः	२—६	१५८
कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः	१—११०	१२१
कार्यात्कारणानुमानम्	१—१३५	१३२
कुसुमवच्च मणिः	२—३५	१७९
कुत्रापि कोऽपि	६—७	३२४
कृतनियमलंघनादानर्थक्यम्	४—१५	२४५
कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च	१—१४४	१३६
क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः	२—३२	१७६

ग

गतियोगेऽप्याद्यकारणता—	६—३७	३३७
गतिश्रुतिरगुपाधियोगात्	१—१११	७८
गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वे—	६—५९	३४७
गुणपरिणामभेदान्नानात्वम्	२—२७	१७२
गुणयोगाद् बद्धः शुक्रवत्	४—२६	२५०
गुणयोगाद् बन्धः	४—२६	२५०
गुणादीनाञ्चा नात्यन्तबाधः	५—२६	२६८

च

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः	३—८२	२३४
चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिः	६—५६	३४७
चरमोऽहङ्कारः	१—७२	१०२
चातुर्भौतिकमित्येके	३—१८	२०१
चिदवसाना भक्तिः	६—५५	३४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
चिदवसानो भोगः	१—१०४	११८
चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत्	२—७	१५८
छ		
छिन्नहस्तवृद्धा	४—७	२४१
ज		
जगत्सत्यत्त्वमदुष्टकारण—	६—५२	३४५
जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः	१—१४५	१३७
जडव्यावृतो जडम्	५ ५०	३४८
जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष—	१—१४९	१४०, ३४२
जवास्फटिकयोरिव	६—२८	३३५
जीवन्मुक्तश्च	३—७८	२३३
त		
ततः प्रकृतेः	१—६५	९३
तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थम्	२—४६	१८३
तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः	१—१३७	१३३
तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्	१—७३	१०२
तत्कार्यं धर्मादि	२—१४	१६४
तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति	३—७५	२३१
तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम्	१—९६	११३
तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेः	१—८८	१०९
तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात्	२—४२	१८२
तथाप्येकरदृष्ट्या	१—११२	१२२
तदधिष्ठानाश्रये देहे	३—११	१९७
तदन्नमयत्वश्रुतेश्च	३—१५	२००
तदपि दुःखशबलमिति	६—८	३२४
तद्भावे तदभावात्	१—४३	७६
तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च	२—२२	१६८
तदुत्पत्तिश्रुतेश्च	१—७७	१०४
तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा	१—१३३	१३०
तद्बीजात् संसृतिः	३—३	१९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
तद्भावे तदयोगादुभय—	१—४०	७४
तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः	५—७	२५६
तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम्	५—१४	२६१
तद्योगोऽप्यविदेकान्न	१—५५	८१
तद्रूपत्वे सादित्वम्	५—१९	२६५
तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्	४—१६	२४५
तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः	२—३४	१७८
तमोविशाला मूलतः	३—४९	२२०
तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम्	१—१३४	१३२
तस्माच्छरीरस्य	३—२	१९२
तत्र प्राप्तविवेकस्य	१—८३	१०६
तत्राप्यविरोधः	६—२१	३३२
तुष्टिर्नवधा	३—३९	२१६
तेनान्तःकरणस्य	१—६४	९३
तेषामपि तद्योगे	५—४९	२८१

द

दाढ्र्याथमुत्तरेषाम्	६—२३	३३३
दिक्कालावाकाशादिभ्यः	२—१२	१६१
दुःखनिवृत्तेर्गौणः	५—६७	२९०
दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न	१—८४	१०७
दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य	४—१८	२४६
दृष्टान्तासिद्धेश्च	१—३७	७३
देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य	२—२१	१६७
देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ	६—२	३२०
दैवादिप्रभेदा	३—४६	२१९
दोषदर्शनादुभयोः	४—२८	२५१
दोषबोधेऽपि नोपसमर्पणम्	३—७०	२२९
द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वम्	२—२९	१७३
द्वयोः प्रधानं मनो	२—४०	१८१
द्वयोरिव त्रयस्यापि	५—११८	३१४
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थ	१—८७	१०९
द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यम्	३—६५	२२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
द्वयोरेकदेशलब्धोपरागात्	१—२९	७०
द्वयोः सबीजमन्त्रत्र तद्धतिः	५—११७	३१३
द्वाभ्यामपि तथैव	४—१०	२४३
द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः	६—४७	३४३
द्वाभ्यामप्यविरोधान्न	६—४८	३४३
ध		
धारणाऽसनस्वकर्मणा	३—३२	२१०
धेनुवद्वत्साय	२—३७	१७९
ध्यानधारणाभ्यास	६—२९	३३५
ध्यानं निर्विषयं मनः	६—२५	३३४
न		
न अभिव्यक्तिनिबन्धनौ	१—१२०	१२४
न कर्मण उपादानत्व	१—८१	१०५, ३४४
न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात्	१—५२	७९
न कर्मणान्यधर्मत्वात्	१—१६	६०
न कल्पनाविरोधः	२—२५	१७०
न कामचारित्वम्	४—२५	२४९
न कारणलयात् कृतकृत्यता	३—५४	२२१
न कार्ये नियम	५—३९	२७५
न कालनियमो	४—२०	२४७
न कालयोगतो व्यापिनो	१—१२	५९
न किञ्चदप्यनुशयिनः	५—१२५	३१७
न गतिविशेषात्	१—४८	७७
न तज्जस्यापि तद्रूपता	४—३१	२५२
न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पना—	५—३०	२७०
न तत्त्वान्तरं सादृश्यम्	५—९४	३०३
न तदपलापस्तदस्मात्	५—९२	३०२
न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः	१—२४	६७
न तेजोऽपसर्पणात् तैजसम्	५—१०५	३०७
न देशभेदेऽप्यन्योपादानता	५—१०९	३०९
न दृष्टात्तत्सिद्धिः	१—२	५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
न देशयोगतोऽप्यस्मात्	१—१३	५९
न देहमात्रतः	५—१२३	३१६
न देहारम्भकस्य	५—११३	३११
न द्रव्यनियमस्तद्योगात्	५—१०८	३०९
न द्वयोरेककालायोगात्	१—३१	७०
न धर्मापलापः प्रकृति	५—२०	२६५
न नित्यत्वं वेदानाम्	५—४५	२७७
न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त—	१—१९	६३
न नित्यः स्यादात्मवत्	६—१३	३२९
न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात्	५—२२	२६६
न निर्भागत्वं कार्यत्वात्	५—८८	३०१
न निर्भागत्वम् तद्योगात्	५—७१	२९१
न परिमाणचातुर्विध्यम्	५—९०	३०२
न पाँचभौतिकं शरीरम्	५—१०२	३०५
न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः	५—४६	२७९
न पौरुषेयत्वान्—	५—४८	२८०
न प्रत्यभिज्ञाबाधात्	१—३५	७२
न बाह्यबुद्धिनियमः	५—१२१	३१५
न बाह्याभ्यन्तरयोः	१—२८	१६,६९
न बीजाङ्कुरवत्	५—१५	३६१
न बुद्ध्यादिनित्यत्वम्	५—१२६	३१७
न भागलाभो भोगिनो	५—७३	२९२
न भागियोगो	५—८१	२९८
न भावे भावयोगश्चेत्	१—११९	१२४
न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः	५—१२९	३१८
न भूतप्रकृतित्वम्	५—८४	२९९
न भूतियोगोऽपि कृतकृत्यतोपास्य—	४—३२	२५३
न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत	४—२७	२५०
न मलिनचेतस्युपदेश—	४—२९	२८१
न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगः	६—१७	३३१
न मुक्तामुक्तयोर—	५—४७	२८०
न यज्ञादेः स्वरूपतो	५—४२	२७६
न रागादृते तत्सिद्धिः	५—६	२५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
न रूपनिबन्धनात्	५—८९	३०१
नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि	३—६९	२२८
न वयं षट्पदार्थवादिनो	१—२५	६४
न विज्ञानमात्रम्	१—४२	७५
न विशेषगतिः	५—७६	२९५
न विशेषगुणोच्छित्तिः	५—७५	२९४
न व्यापकत्वं मनसः	[illegible]	२९३
न शब्दनित्यत्वं कार्यता प्रतीतेः	५—५८	२८६
न शिलापुत्रवत्	६—४	३२१
न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिः	२—३	१५६
न श्रुतिविरोधो रागिणाम्	६—५१	३४४
न षट्पदार्थनियमः	५—८५	२९९
न सकृद्ग्रहणात्	५—२८	२६९
न सतो बाधदर्शनात्	५—५३	२८४
न समवायोऽस्ति	५—९९	३०४
न सम्बन्धनित्यतोभया—	५—९७	३०३
न सर्वोच्छित्तिः	५—७८	२९६
न संज्ञासंज्ञिसम्बधोऽपि	५—९६	३०३
न सांसिद्धिकं चैतन्यम्	३—२०	२०२
न स्थाननियमश्चित्त—	६—३१	३३६
न स्थूलमिति नियम	५—१०३	३०७
न स्वभावतो बद्धस्य	१—७	५७
न स्वरूपशक्तिनियमः	५—३३	२७२
न स्वातन्त्र्यात्तदृते	३—१२	१९८
न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्	५—४१	२७५
नाकारोपरागोच्छित्तिः	५—७७	२९५
नाजः सम्बन्धो	५—९८	३०४
नाणिमादियोगोऽपि	५—८२	२९८
नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः	५—८७	३०१
नात्माविद्या नोभयम्	५—६५	२८८
नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्	५—६१	२८७
नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्	१—१५४	१४३
नानन्दाभिव्यक्तिः	५—७४	२९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात्	५—६२	२८७
नानादिविषयोपराग	१—२७	६९
नानिर्वचनीयस्य तद्भावात्	५—५४	२८४
नानुमेयत्वमेव क्रियाया	५—१०१	३०५
नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः	१—८२	१०५
नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मताम्	१—१५६	१४४
नान्यथाख्यातिः स्ववचो—	५—५५	२८४
नान्यनिवृत्तिरूपत्वम्	५—९३	३०३
नान्योपसर्पणेऽपि मुक्त—	६—४४	३४१
नापौरुषेयत्वात्	५—४८	२८०
नाप्राप्तप्रकाशकत्वम्	५—१०४	३०७
नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्	४—३०	२५२
नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ	१—१२०	१२४
नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः	१—७८	१०४, ३४४
नावस्थातो देहधर्मत्वात्	१—१४	६०
नाविद्यातोऽप्यवस्तुना	१—२०	६४
नाविद्याशक्तियोगो	५—१३	२६०
नाशः कारणलयः	१—१२१	१२५
नाशक्योपदेशविधिः	१—९	५८
नासतः ख्यानम्	५—५२	२८३
नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्	१—११४	१२२
नास्ति हि तत्र स्थिर	१—३३	७१
निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रम्	१—८६	३५२
निजशक्तिर्व्युत्पत्या	५—४३	२७७
निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा—	५—९५	३०३
निजशक्त्यभिव्यक्तेः	५—५१	२८२
निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः	५—३१	२७०
नित्यत्वेऽपि नात्मनो	६—३३	३३७
नित्यमुक्तत्वम्	१—१६२	१४६
निमित्तत्वमविवेकस्य न	३—७४	२३०
निमित्तव्यपदेशात्	५—११०	३०९
नियतकारणत्वान्न	३—२५	२०५
नियतकारणात्तदुच्छित्तिः	१—५९	८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
नियतधर्मसाहित्यम्	५—२९	२७०
निराशः सुखी	४—११	२४३
निरोधश्छर्दिर्विधारणाभ्याम्	३—३३	२११
निर्गुणत्वमात्मनो—	६—१०	३२५
निर्गुणत्वात् तदसम्भवात्	६—६२	३४९
निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा	१—१४६	१३८
निर्गुणादि श्रुति—	१—५४	८०
निष्क्रियस्य तदसम्भवात्	१—४९	७७
नेतरादितरहानेन विना	३—४५	२१८
नेन्द्रादिपदयोगोऽपि	५—८३	२९८
नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः	५—२	२५५
नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे	५—६६	२८९
नैकान्ततो बन्धमोक्षौ	३—७१	२२९
नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारे	३—६८	२२८
नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता	४—१७	२४६
नोभयं च तत्त्वाख्याने	१—१०७	१२०
नोभाभ्यां तेनैव	५—६३	२८८
निःसङ्गेऽप्युपरागः	६—२७	३३५

प

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः	५—२७	२६८
परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिः	६—११	३२५
परिच्छिन्नं न	१—७६	१०३
परिमाणात्	१—१३०	१२९
पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च	५—३५	२७३
पाञ्चभौतिको देहः	३—१७	२०१
पारम्पर्यतोऽन्वेषणा	१—१२२	१२५
पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिः	६—३५	३३७
पारम्पर्येऽप्येकत्र	१—६८	९७
पारम्पर्येण तत्सिद्धौ	६—५८	३४७
पारिभाषिको वा	५—५	२५६
पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात्	४—४	२३९
पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि	४—२	२३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः	६—४५	३४२
पुरुषार्थं करणोद्भवो—	२—३६	१७९
पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानाम्	३—१६	२०१
पुत्रकर्मवदिति चेत्	१—३२	७१
पूर्वभावमात्रे न नियमः	१—४१	७५
पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य	१—७५	१०३
पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिः	५—५९	२८७
पूर्वापाये उत्तरायोगात्	१—३९	७४
पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वम्	३—८	१९४
प्रकारान्तरासंभवात्	६—५३	३४६
प्रकारान्तरासंभवादविवेक	६—१६	३२९
प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्त्तृ—	६—४९	३४३
प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन तस्या	१—१८	६२
प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्	५—७२	२९२
प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः	२—५	१५७
प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात्	३—७२	२२९
प्रकृतेराद्योपादानतान्येषाम्	६—३२	३३६
प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि	४—१९	२४६
प्रतिनियतकारण—	६—१४	३२९
प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानम्	१—१००	११५
प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न	५—५७	२८६
प्रधानशक्तियोगाच्चेत्	५—८	२५७
प्रधानसृष्टिः परार्थम्	३—५८	२२३, ३४०
प्रधानाविवेकादन्य—	१—५७	८२
प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च	३—२१	२०२
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः	५—१०	२५८
प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य	६—३८	३३८
प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्	१—३	५४
प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्	५—१०६	३०७
प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः	१—१२७	१२७

ब

बन्धोनविपर्ययात्	३—२४	२०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
बहुभिर्योगे विरोधो	४—९	२४२
बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम्	२—८	१५७
बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि	४—१३	२४४
बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतः	३—७७	२३३
बाह्याभ्यन्ताराभ्याम्	१—६३	९१
भ		
भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरम्	५—१०७	३०८
भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वम्	३—२९	२०९
भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे	१—८०	१०५
भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिः	५—११५	३१२
भोक्तुरधिष्ठानाद्	५—११४	३११
भोक्तृभावात्	१—१४३	१३६
म		
मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे	३—२२	२०३
मध्ये रजोविशाला	३—५०	२२०
महतोऽन्यत्	६—६६	३५१
महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः	१—७१	१००
महादादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्	२—१०	१६०
महदुपरागाद्विपरीतम्	२—१५	१६४
मातापितृजं स्थूलम्	३—७	१९४
मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात्	१—९३	११२
मुक्तात्मनः प्रशंसा	१—९५	११३
मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः	६—२०	३३१
मूर्तत्वेऽपि न सङ्घात	३—१३	१९८
मूर्तत्वाद् घटादिवत् समान	१—५०	७७
मूले मूलाभावादमूलं मूलम्	१—६७	९७
मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्	५—१	२४, २५३
य		
यत्संबद्धं सत्	१—८९	११०
यथा दुःखात् क्लेशः	६—६	३२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः	६—७०	३५१
यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिः	५—५०	२८२
युक्ततोऽपि न बाध्यते	१—५९	८४
युगपज्जायमानयोर्न	१—३८	७४
योगसिद्धयोऽप्यौषधादि	५—१२८	३१८
योगिनामबाह्य—	१—९०	११०
योग्यायोग्येषु प्रतीति—	५—४४	२७७

र

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः	२—९	१५९
रागोपहतिर्ध्यानम्	३—३०	२१०
राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात्	४—१	२३८
रूपादिरसमलान्त उभयोः	२—२८	१७२
रूपैः सप्तभिरात्मानम्	३—७३	२३०

ल

लध्वादिधर्मै साधर्म्यम्	१—१२८	१२८
लब्धातिशययोगात् तद्वत्	४—२४	२४९
लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः	६—३०	३३६
लिङ्गशरीरनिमित्तक	६—६९	३५१
लीनवस्तुलब्धातिशय	१—९१	१११
लोकस्य नोपदेशात्	६—५७	३४७
लोके व्युत्पन्नस्य	५—४०	२७५
लौकिकेश्वरवदितरथा	५—४	२५६

व

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः	१—२१	१६, ६५
वाङ्मात्रं न तु तत्त्वम्	१—५८	८३
वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः	५—३७	२७४
वादिविप्रतिपत्तेस्तद्	१—१११	१२१
वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्	१—१५७	१४४
वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेः	५—११९	३१४
विचित्रभोगानुपपत्तिः	१—१७	६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
विजातीयद्वैतापत्तिश्च	१—२२	१६, ६६
विदितबन्धनकारणस्य	१—१५५	१४३
विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाध—	५—१६	२६३
विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्	५—१८	२६४
विपर्ययभेदाः पञ्च	३—३७	२१३
विमुक्तबोधान्न सृष्टिः	६—४३	३४१
विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थम्	२—१	१५४
विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्	५—६८	२९०
विरक्तस्य तत्सिद्धेः	२—२	१५५
विरक्तस्य हेयहानमुपादेय	४—२३	२४८
विरुद्धोभयरूपा चेत्	१—२३	६७
विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः	३—६३	२२५
विवेकान्निश्शेषदुःखनिवृत्तौ	३—८४	२६, २९५, ३२३
विशिष्टस्य जीवत्वम्	६—६३	३५०
विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्	१—९७	११४
विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः	५—३४	२७३
विषयोऽविषयोऽप्यति—	१—१०८	१२०
वृत्तयः पञ्चतय्यः	२—३३	१७७
वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः	३—३१	२१०
वैराग्यादभ्यासाच्च	३—३६	२१३
व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्	३—१०	१९७
व्यावृत्तोभयरूपः	१—१६०	१४६

श

शक्तस्य शक्यकरणात्	१—११७	१२३
शक्तितश्चेति	१—१३२	१३०
शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम्	२—२४	१६९
शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्याम्	१—११	५८
शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्	१—१३९	१३४
शुक्लपटवद् बीजवच्चेत्	१—१०	५८
शून्यं तत्त्वं भावो	१—४४	७६
श्येनवत्सुखदुःखी त्याग—	४—५	२४०
श्रुतिन्यायविरोधाच्च	१—३६	७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य	५—१२	२५९
श्रुतिलिङ्गादिभिः	५—२१	२६६
श्रुतिविरोधान्न	६—३४	३३७
श्रुतिश्च	३—८०	२३४
श्रुत्या सिद्धस्य	१—१४७	१३८

ष

षष्ठीव्यपदेशादपि	६—३	३२१
षोडशादिग्रन्थेवम्	५—८६	३००

स

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः	५—७०	२९०
सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्	५—६०	२८७
सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्	५—९	२५८
सत्त्वरजस्तमसाम्	१—६१	८६, ३५३
सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वम्	६—३९	३३८
सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्	५—५६	२८६
सप्तदशैकं लिङ्गम्	३—९	१९६
समन्वयात्	१—१३१	१३०
समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु	५—११६	२९८, ३१३
समानकर्मयोगे बुद्धेः	२—४७	१८३
समानं जरामरणादिजम्	३—५३	२२१
समानः प्रकृतेर्द्वयोः	१—६९	९८
सम्प्रति परिष्वक्तो	३—६	१९३
सम्बन्धाभावान्नानुमानम्	५—११	२५९
सम्भवेन्न स्वतः	२—४४	१८२
सर्वत्र कार्यदर्शनाद्	६—३६	३३७
सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्	१—११६	१२३
सर्वाऽसम्भवात्सम्भवेऽपि	१—४	५४
सर्वेषु पृथिव्युपादानम्	५—११२	३१०
स हि सर्ववित्	३—५६	२२३
सात्त्विकैकादशकम्	२—१८	८८, १००, १६६
सामान्यतोदृष्टात्	१—१०३	११७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
सामान्या करणवृत्तिः	२—३१	१७४
सामान्येन विवादाभावात्	१—१३८	१३३
साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्	६—४२	३४१
साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्	१—१६१	१४६
सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्	१—९८	११४
सिद्धिरष्टधा	३—४०	२१६
सुखलाभाभावात्	६—९	३२४
सुषुप्तयाद्यसाक्षित्वम्	१—१४८	१३९
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः	१—१०९	१२१
संकल्पितेऽप्येवभ्	३—२८	२०९
संयोगाश्च वियोगान्ता	५—८०	२९६
संहतपरार्थत्वात्	१—१४०	१३५
संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य	१—६६	९५
संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः	३—८३	२३४
स्थिरकार्यासिद्धेः	१—३४	७१
स्थिरसुखभासनमिति	६—२४	३३४
स्थिरसुखमासनम्	३—३४	२१२
स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य	१—६२	८९
स्मृतेश्च	५—१२२	३१६
स्मृत्यनुमानाच्च	२—४३	१८२
स्वकर्म स्वाश्रमविहित—	३—३५	२१२
स्वप्नजागराभ्यामिव	३—२६	२०६
स्वभावस्यानपायित्वादन—	१—८	५७
स्वभावाच्चेष्टितमनभि—	३—६१	२२४
स्वोपकारादधिष्ठानम्	५—३	२५५

ह

हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकम्	१—१२४	१२६

त्र

त्रयाणां स्वालक्षण्यम्	२—३०	१७३
त्रिगुणा वेतनत्वादि द्वयोः	१—१२६	१२७, ३३८
त्रिगुणादिविपर्ययात्	१—१४१	१३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
त्रिधा त्रयाणाम्	५—१२४	३१६
त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः	५—३८	२७४
त्रिविधविरोधापत्तेश्च	१—११३	१२२

ज्ञ

ज्ञानान्मुक्तिः	३—२३	२०४

□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणानामनुक्रमणिका

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
	अ	
अग्निमीळे पुरोहितम्	(ऋ० १-१-१)	३५
अग्नेर्गायत्र्यभवत्	(ऋ० १०-१०-४)	२८१
अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः	(वै० द० ४-२-५)	३०६
अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो	(मनु० १-२७)	९१
अत एव चानन्याधिपतिः	(ब्र० सू० ४-४-९)	३२६
अथ जघनेन कस्तम्भीमीगाम्	(श० ब्रा० १-१-२-१२)	२७६
अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम्	(न्याय० १-१-५)	११७
अथ योगानुशासनम्	(यो० १-१)	२१०
अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवम्	(ब्र० सू० ३-४-८)	२०६
अध्ययनमात्रवतः	(ब्र० सू० ३-४-१२)	२०६, २०९
अनावृत्तिः शब्दात्	(ब्र० सू० ४-४-२२)	३३०
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु	(योग० २-५)	२१४
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः	(ब्र० सू० १-२-३)	१३१
अभावं बादरिराह ह्येवम्	(ब्र० सू० ४-४-१०)	३२६
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा	(यजु० ४०-१४)	६५
अविद्यामाहुरव्यक्तम्	(महा भा० शा० ३०७-२)	६५
असि यमो अस्यादित्यो	(ऋ० १-१६३-३)	३६
अस्य वामस्य पलितस्य	(ऋ० १-१६४-१)	३८, २००
	आ	
आचारदर्शनात्	(ब्र० सू० ३-४-३)	२०५
आनन्दमयोऽभ्यासात्	(ब्र० सू० १-१-१२)	२९७, ३१३
आध्यात्मिक्यश्चतस्रः	(ई० कृ० ५०)	२१६
आसुरिः कपिलश्चैव	(गौ० पा० सां० का०)	२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
	इ	
इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख—	(न्याय० १-१-१०)	५२,८०
इच्छा द्वेषः सुखंदुःखम्	(भ० गी० १३-६)	१९८
इत्येते मानसाः पुत्राः	(पुराण वचन)	२०
इन्द्रियनित्यं वचनम्	(निरुक्त १-१-१)	२८३
इमा ते वाजिन्नवमाः	(ऋ० १-१६३-५)	३७
इह भगवान् ब्रह्मसुतः	(गौ० पा० सां० का०)	२०
ऋतुं च सत्यं—	(ऋ० १०-१९०-१)	३५५
	ए	
एकादशेन्द्रियवधाः सह	(ई० का० ४९)	२१५
एतत्पवित्रमग्र्यम	(ई० का० ७०)	२९
	क	
कपिलं परमर्षिं च य	(महा भा० वन० २२१-२१)	२१
कर्णिका तस्य पद्मस्य	(महा भा० शा० १८२-३८)	२०
कामस्तदग्रे समवर्ततावि	(ऋ० १०-१२९-४)	३५,९४
किमधिकारिद्वारेण कर्मण्ये—	(शारी० भा० १)	२०५
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः	(योग० द० १-२४)	१४७
	ग	
गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाश—	(न्याय० ३-१-३१)	३०६
	च	
चाक्लृपे तेन ऋषयो	(ऋ० १०-१३०-६)	२८१
	ज	
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणात्	(ब्र० सू० ४-४-१७)	१४३
	त	
तत् पुनः पृथिव्यादि	(वैशे० द० ४-२-१)	३०६
तथा प्राणाः	(ब्र० सू० २-४-१)	१७४
तच्चेः छु	(ब्र० सू० ३-४-४)	२०५
तदण्डमभवद्धैमम्	(मनु० १-९)	१०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहित	(ब्र० सू० ३-१-१)	१९५
तदा द्रष्टुः स्वरूपे	(योग० १-३)	१७९
तदानीं प्रलयदशायाम्	(सायण ऋ० १०-१२९-१)	३५४
तद्वतो विधानात्	(ब्र० सू० ३-४-६)	२०५
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्	(ब्र० सू० १-१-७)	३१३
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः	(ब्र० सू० ४-४-१३)	३२६
तम आसीत् तमसा	(ऋ० १०-१२९-३)	३५, ७५
तयोरन्योऽविद्याकाम—	(श्वे० उप० शंकर भाष्य)	७५
तस्मात् केवलाद् एवं ज्ञानान्	(भ० गी० श० भा० उपोद्० अ० ३)	२५५
तस्मादव्यक्तान्महान्	(सुश्रुत० शरीर० १-२)	८७
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत	(यजु० ३१-७)	२७९
तस्मिन्नण्डे स	(मनु० १-१२)	३५५
तत्र प्रत्ययेकतानता—	(योग० ३-२)	२१०, ३३४
तत्र वैकारिकादहंकारात्	(सुश्रुत० शरीर० १-३)	८७
तत्र सर्व एवाचेतन	(सु० शरीर० १-८)	८७
तिरश्चीनो विततो	(ऋ० १०-१२९-५)	३५, ९४, ३५६
तुल्यं तु दर्शनम्	(ब्र० सू० ३-४-९)	२०६
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्	(भ० गी० ४-२०)	२०६

द

दर्शयतश्चैवं प्रत्याक्षनुमाने	(ब्र० सू० ४-४-२०)	१४५
दुःखानुशयी द्वेषः	(योग० २-८)	२१५
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता	(योग० २-६)	२१४
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य	(यो० द० १-१५)	१५६
देवानामसि वह्नितमम्	(यजु० १-८)	२७६
देवानां नु वयं जाना	(ऋ० १०-७२-१)	३३६
देवीं वाचमजनयन्त	(ऋ० ८-१००-११)	२८०
द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व	(यजु० २४-५४)	१०१
द्वादशाहवदुभयविधं	(ब्र० सू० ४-४-१२)	३२६
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	(ऋ० १-१६४-२०)	६६, ७९, १४७

ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
न		
न मृत्युरासीदमृतम्	(ऋ० १०-१२९-२)	३४
नाणुरतच्छ्रु तेरिति	(ब्र० सू० २-३-२१)	२००
नासन्नसन्न सदसत्	(न्याय० ४-१-४८)	१२६
निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेः	(न्याय० ३-१-३०)	३०६
नियमाच्च	(ब्र० सू० ३-४-७)	२०५
नासदासीन्नो—	(ऋ० १०-१२९-१)	३४
प		
पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया	(ऋ० १-१७७-१)	३८, १३९
पतङ्गो वाचं मनसा	(ऋ० १-१७७-२)	१३९
पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः	(न्याय० ३-१-२८)	३०६
पार्थिवाप्यतैजसं तदुणोपलब्धेः	(न्याय० ३-१-२९)	३०६
पुरुषस्य दर्शनार्थम्	(ई० का० २१)	३१
पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यम्	(ई० का० ६९)	२८
पुरुषार्थोऽतः	(ब्र० सू० ३-४-१)	२०५
प्रकृतिं पुरुषं चैव	(भ० गी० १३-१९)	१३४
प्रत्यक्षानुमानोपमान	(न्याय० १-१-३)	११०
प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम्	(वै० द० ४-२-२)	३०६
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेत् न	(ब्र० सू० ४-४-१८)	१४३
प्रपञ्चो यदि विद्येत	(गौ० का० १-१७)	७४, २६४, ३४३
ब		
ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तर—	(बृहद् ६-२-१५)	३३०
ब्रह्मणस्पतिरेता सं—	(ऋ० १०-७२-२)	३३६
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	(भ० गी० १८-२९)	१६५
भ		
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव	(ऋ० १०-७२-४)	१०४
भूतादेरपि तैजससहायात्	(सुश्रुत शरीर० १-४)	८७
भावं जैमिनिः	(ब्र० सू० ४-४-११)	३२६
भावे जाग्रद्वत्	(ब्र० सू० ४-४-१४)	३२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
म		
महाभूतान्यहंकारो	(भ० गी० १३-५)	१९८
मानसस्येह या	(महा भा० शा० १८२-३७)	२०
मोक्षस्य च अकार्यत्वात्	(भ० गी० शं० भा० उपोद्, ३-अ०)	२५५
य		
यज्जाग्रतो दूरमुदैति	(यजु० ३४-१)	१००, २९१
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यम्	(मनु० १-११)	१९
यदक्रन्दः प्रथमम्	(ऋ० १-१६३-१)	३६
यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि	(ऋ० ८-१००-१०)	२८०
यमेन दत्तं त्रित	(ऋ० १-१६३-२)	३६
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः	(ऋ० १-१६४-२२)	६९
यस्य सर्वमिदं वशे	(अथर्व० ११-४-१)	३८
यस्य सर्वे समारम्भाः	(भ० गी० ४-१९)	२०६
ये अर्वाङ्मध्य उत वा	(अथर्व० १०-८-१७)	६७
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो	(यजु० ३४-२)	१७१
यो अस्य सर्वजन्मन	(अथर्व० ११-४-२४)	१६७, ३११
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः	(योग० १-२)	८३, १७८, २१०
व		
विकारावर्ति च तथा	(ब्र० सू० ४-४-१९)	१४५, ३३०
विद्यां चाविद्यां च	(यजु० ४०-१४)	८१, २२२
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतत्	(योग० १-८)	२१४
विराण्मित्रावरुणयोरभि—	(ऋ० १०-१३०-५)	२८१
विविक्षितगुणोपपत्तेश्च	(ब्र० सू० १-२-२)	१३१
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि	(ब्र० सू० ३-४-३२)	५६, २१३
वृत्तिसारूप्यमितरत्र	(योग० १-४)	८३
व्यतिरेकानवस्थितेः	(ब्र० सू० २-२-४)	९८
व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य	(निरुक्त १-१-२)	२८३
श		
शिष्यपरम्परया—	(ई० का० ७१)	२९
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो—	(ब्र० सू० ३-४-२)	२०५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	क्रम	पृष्ठ
ष		
षष्टिभेदं स्मृतम्	(अहिर्बुध्न्य संहिता १२-१९)	२७
स		
सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे	(वै० द० ४-१-७)	१६२
स नो बन्धुर्जनिता	(यजु० ३२-१०)	५५
स पर्यगाच्छुक्रमकायम—	(यजु० ४०-८)	८१
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च	(ब्र० सू० २-४-५)	१७४
सप्तत्यां किल	(ई० का० ७२)	२७, २९
समन्वारम्भणात्	(ब्र० सू० ४-४-५)	२०५
सम्भूतिं च विनाशम्	(यजु० ४०-११)	२२२
सरस्वतीदृषद्वत्योः	(मनु० २-१७)	२३
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागम्	(भव० गी० १८-२)	२३२
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	(ब्र० सू० १-२-१)	१३१
सर्वापेक्षा च	(ब्र० सू० ३-४-२६)	५६
सुखानुशयी रागः	(योग० २-७)	२१५
सैषानन्दस्य मीमांसा	(तैत्ति० २-८-१)	३२६
सोऽभिध्याय शरीरात्	(मनु० १-८)	१०१
सांख्यदर्शनमेतावदुक्तम्	(महा० भा० शा० ३०७-१)	६५
सांख्यरूपेण संकल्पो	(अहिर्बुध्न्य संहिता १२-१८)	२७
स्वरसवाही विदुषोऽपि	(योग० २-९)	२१५
त्र		
त्रीणि त आहुर्दिवि	(ऋ० १-१६३-४)	३७
त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात्	(ब्र० सू० ३-१-२)	१९५
ज्ञ		
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा	(श्वेता० १-९)	२८८
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी	(भ० गी० ५-३)	२१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास पर श्री गुरुदत्त की रचनाएं

इतिहास में भारतीय परम्पराएं

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास

वेद, श्री मद्भगवद्गीता , दर्शन शास्त्रों व उपनिषदों पर रचनाएं

हमारी सांस्कृतिक धरोहर
वेद मन्त्रों के देवता
वेद और वैदिक काल
विश्वेदेवा
विज्ञान और विज्ञान
वेदों में सोम
वेदों में इन्द्र
वेद प्रवेशिका
अद्वैत मीमांसा
न्याय दर्शन
सांख्य दर्शन

ईश केन् कठ उपनिषद्
प्रश्न ऐत्तरेय उपनिषद्
मुण्डक माण्डूक्यं उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद्
सृष्टि रचना
सायंस और वेद
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)
ब्रह्मसूत्र -भाग 1
ब्रह्मसूत्र -भाग 2

Central Library
168013
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

श्री गुरुदत्त की राजनीतिक रचनाएं

भारत गांधी नेहरु की छाया में
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान -
हिन्दू राष्ट्र
स्व अस्तित्व की रक्षा (2 भाग)
मनुष्य और समाज
बुद्धि वनाम बहुमत
अन्तिम यात्रा (डा0 मुखर्जी की)

धर्म संस्कृति और राज्य
राष्ट्र राज्य और संविधान
हिन्दुत्व की यात्रा
धर्म तथा समाजवाद
भारत में राष्ट्र
मैं हिन्दू हूँ (राजनैतिक संस्मरण)
भाव और भावना (संस्मरण)
भाग्यचक्र (संस्मरण)

081
168013
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या R 089.9143 GUR-S आगत संख्या 168013

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त
के चुने हुए उपन्यास

कुमार सम्भव
उमड़ती घटाएं
अमृत मंथन
परम्परा
अग्नि परीक्षा
परित्राणाय साधूनाम्
विक्रमादित्य
पुष्यमित्र
लुढ़कते पत्थर
पत्रलता
गंगा की धारा
खण्डहर बोल रहे हैं
स्वाधीनता के पथ पर
पथिक
स्वराज्यदान
विश्वासघात
देश की हत्या
दो लहरों की टक्कर
मानव
धरती और धन
आवरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ISBN : 81-88388-63-7

श्री गुरुदत्त

8 दिसम्बर, 1894

से

8 अप्रैल, 1989

शिक्षा : एम. एस सी.

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर" से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर वेद, उपनिषद् दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनमें ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है। उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता।

हिन्दी साहित्य सदन
2 बी.डी. चैम्बर, 10/54, देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar